BAED-05

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

शिक्षा में भारतीय प्रयोग

BAED - 05

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

शिक्षा में भारतीय प्रयोग

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

अध्यक्ष

प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच

कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,
कोटा

संयोजक एवं सदस्य

संयोजक

डॉ. कीर्ति सिंह

सहायक आचार्य
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय. कोटा

सदस्य

1. प्रो.आर. पी. श्रीवास्तव(सेवानिवृत्त)
   जामिया मिलिया इस्लामिया
   नई दिल्ली
2. प्रो सी. बी. शर्मा
   इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
   नई दिल्ली
3. प्रो. अनिल शुक्ला
   लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ(उत्तर प्रदेश)
4. डॉ. दामीना चौधरी(सेवानिवृत्त)
   सह आचार्य
   वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय कोटा (राज.)
5. डॉ. कीर्ति सिंह
   सहायक आचार्य
   वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय. कोटा (राज.)

सम्पादक एवं पाठ लेखन

सम्पादक

डॉ. कीर्ति सिंह

सहायक आचार्य
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय. कोटा

लेखक

1.डॉ विजयलक्ष्मी शर्मा(सेवानिवृत्त प्राचार्य)
   पारिक टी.टी.कॉलेज,जयपुर (राज.)
2.डॉ सुधीर रूपानी
   व्याख्याता,आई.ए.एस.ई.,(राज.)
3.डॉ.प्रीति सिंह
   वरिष्ठ व्याख्याता, स्कूल ऑफ एजुकेशन, जे. एन. यू., जयपुर
4. डॉ.कल्पना पारीक
   पारिक टी.टी.कॉलेज,जयपुर (राज.)
5.राजकुमारी परिहार
   प्राचार्य,श्री माधव टी.टी.कॉलेज,डीडवाना(राज.)
6.श्रीमती आरती कालानी
   व्याख्याता पारिक टी.टी.कॉलेज,जयपुर (राज.)
7.डॉ सुनीता गौड(सेवानिवृत्त प्राचार्य)
   प्राचार्य पारिक टी.टी.कॉलेज,जयपुर (राज.)
8.डॉ.प्रमिला दुबे
   व्याख्याता पारिक टी.टी.कॉलेज,जयपुर (राज.)
9.डॉ.शकुन्तला शर्मा
   प्राचार्य राजश्री टी.टी.कॉलेज,जयपुर (राज.)
10.डॉ.सुषमा सिंह
   रीडर,जे.एल.एन.टी.टी.कॉलेज,कोटा(राज.)
11.डॉ.कीर्ति सिंह
   सहायक आचार्य, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. (डॉ) नरेश दाधीच	प्रो. (डॉ.) एम. के. घडोलिया	श्री योगेन्द्र गोयल
कुलपति	निदेशक	प्रभारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा	संकाय विभाग	पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल

सहायक उत्पादन अधिकारी

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अनुक्रमणिका

शिक्षा में भारतीय प्रयोग

इकाई सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ सं.
इकाई–1	शिक्षा में भारतीय प्रयोग	7–31
इकाई–2	शिक्षा का भारतीयकरण	32–42
इकाई–3	औपनिषिदिक दर्शन और इसके शैक्षिक निहितार्थ	43–57
इकाई–4	गीता के शैक्षिक निहितार्थ	58–70
इकाई–5	बौद्ध दर्शन तथा उसके शैक्षिक निहितार्थ	71–91
इकाई–6	चार्वाक दर्शन एवं इसके शैक्षिक निहितार्थ	92–99
इकाई–7	इस्लाम का शिक्षा दर्शन	100–113
इकाई–8	जैन दर्शन और उसके शैक्षिक निहितार्थ	114–124
इकाई–9	अद्वैत वेदान्त दर्शन और उसके शैक्षिक निहितार्थ	125–135
इकाई–10	गुरुदेव रवीद्रनाथ टैगोर के शैक्षिक विचार	136–147
इकाई–11	स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक विचार	148–157
इकाई–12	डॉ. राधाकृष्णन् के शैक्षिक विचार	158–167
इकाई–13	महात्मा गाँधी के शैक्षिक विचार	168–180
इकाई–14	श्री अरविन्द के शैक्षिक विचार	181–191
इकाई–15	एनी बीसेंट के शैक्षिक विचार	192–199
इकाई–16	डॉ. जाकिर हुसैन के शैक्षिक विचार	200–212

इकाई - 1

शिक्षा में भारतीय प्रयोग

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 गुरुकुल काँगड़ी

- 1.1.1 गुरुकुल का परिचय
- 1.1.2 गुरुकुल शिक्षा के उद्देश्य
- 1.1.3 गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना
- 1.1.4 गुरुकुल शिक्षा का माध्यम
- 1.1.5 गुरुकुल में शिक्षा व्यवस्था
- 1.1.6 उपसंहार

1.2 अरविन्द आश्रम - परिचय

- 1.2.1 अरविन्द का जीवन दर्शन
- 1.2.2 शिक्षा दर्शन
- 1.2.3 श्री अरविन्द आश्रम
- 1.2.4 श्री अरविन्द स्कूल
- 1.2.5 श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय केन्द्र

1.3 विश्व शान्ति (शान्ति निकेतन)

- 1.3.1 टैगोर के शिक्षा संबंधी विचार
- 1.3.2 गुरु शिष्य संबंध
- 1.3.3 शांति निकेतन का जन्म
- 1.3.4 विश्व भारती को स्थापना
- 1.3.5 विश्व भारती के उद्देश्य
- 1.3.6 विश्व भारती के विभाग
- 1.3.7 विश्व भारती की विशेषताएँ
- 1.3.8 उपसंहार

1.4 वनस्थली विद्यापीठ

- 1.4.1 वनस्थली विद्यापीठ की विशेषताएँ
- 1.4.2 विद्यापीठ शिक्षा का अखिल भारतीय केन्द्र
- 1.4.3 वनस्थली की पंचमुखी शिक्षा
- 1.4.4 वनस्थली के विभिन्न विभाग
- 1.4.5 उपसंहार

1.5 काशी विद्यापीठ

- 1.5.1 स्थापना
- 1.5.2 उद्देश्य

1.5.3 पाठ्यक्रम
1.5.4 विशेषताएँ
1.6 गांधी विद्या मंदिर, सरदार शहर
1.6.1 स्थापना एवं उद्देश्य
1.6.2 गांधी विद्या मंदिर के विभाग
1.6.3 गांधी विद्या मंदिर की विशेषताएँ
1.7 मूल्यांकन प्रश्न
1.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी -

- गुरुकुल व्यवस्था एवं गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना का परिचय दे सकेंगे।
- गुरुकुल शिक्षा के उद्देश्य एवं शिक्षा के माध्यम की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- गुरुकुल में शिक्षा व्यवस्था एवं विभिन्न विभागों को जान सकेंगे।
- श्री अरविन्द के जीवन दर्शन एवं शैक्षिक दर्शन का परिचय दे सकेंगे
- श्री अरविन्द आश्रम स्कूल एवं अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय केन्द्र के बारे में बता सकेंगे।
- विश्व शान्ति (शान्ति निकेतन) के विषय में जान सकेंगे।
- टैगोर के शिक्षा संबंधी विचारों, गुरु शिष्य संबंधों को समझ सकेंगे।
- शान्ति निकेतन के जन्म, विश्व भारती की स्थापना एवं उद्देश्यों के विषय में जानकारी हासिल कर सकेंगे।
- शान्ति निकेतन के विभिन्न विभागों एवं उनकी विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।
- विद्यार्थी राजस्थान राज्य के प्रथम विश्व विद्यालय वनस्थली विद्यापीठ की विशेषताओं से अवगत हो सकेंगे।
- वनस्थली के पंचमुखी शिक्षा एवं विभिन्न विभागों का परिचय पा सकेंगे।
- काशी विद्यापीठ की स्थापना, उद्देश्य, पाठ्यक्रम एवं विशेषताओं के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- विद्यार्थी गांधी विद्या मंदिर, सरदार शहर की स्थापना एवं उद्देश्य, विभाग आदि के विषय में परिचित हो सकेंगे।

1.1 गुरुकुल काँगड़ी

1.1.1 गुरुकुल प्रणाली का परिचय

भारत की प्राचीन शिक्षा प्रणाली में मुख्य तीन तत्व माने जा सकते हैं -

(i) गुरु और शिष्य का आध्यात्मिक सम्बन्ध,

(ii) सत्य, तप, दम और शमादि साधनों द्वारा दृढ़ चरित्र का निर्माण,

(iii) स्वाध्याय अर्थात् अपरा विद्या की प्राप्ति।

यही गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का मूल रूप है।

19वी सदी के अन्धकारमय भारत में जिन महानुभावों ने जाग्रति की ज्योति जगाई उनमें ऋषि दयानन्द का संदेश बहुत व्यापक था। वे युग-प्रवर्तक ऋषि थे, जिन्होंने शिक्षा, राजनीति, समाज-संगठन आदि सब क्षेत्रों में नए विचारों का संदेश दिया।

ऋषि दयानन्द ने अपने समय में प्रचलित शिक्षा-पद्धति में अनेक दोष अनुभव कर प्राचीन आर्य शिक्षा-प्रणाली का प्रतिपादन किया। ऋषि ने उसे गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का नाम दिया। उनके समय भारत में शिक्षा की मुख्यतया दो प्रणालियाँ प्रचलित थीं - एक भारत के ब्रिटिश शासकों द्वारा प्रारम्भ की गई थी और दूसरी पुरानी परम्परा के अनुसार पण्डित-मण्डली में प्रचलित थी। सरकार द्वारा प्रचलित प्रणाली भारत के राष्ट्रीय तथा धार्मिक आदर्शो के प्रतिकूल थी। उसमें भारत की भाषा, धर्म, सभ्यता, साहित्य तथा संस्कृति की सर्वथा उपेक्षा की गई थी। पण्डित मण्डली की शिक्षा-पद्धति समय की आवश्यकताओं को पूर्ण नहीं करती थी उसमें वर्तमान युग के ज्ञान-विज्ञानों को कोई स्थान प्राप्त नहीं ही था वह पाखंडों का पोषण करती थी। चरित्र निर्माण के लिए ब्रह्मचर्य, त्याग, तपस्या आदि जिन आदर्शो का पालन आवश्यक है, उनका दोनों प्रणालियों में महत्व न था। ऋषि दयानन्द ने अनुभव किया कि भारत में प्राचीन गुरुकुल प्रणाली का पुनरुद्धार कर इन दोषों को दूर किया जाना चाहिए। उन्होंने शिक्षा के आदर्शो और सिद्धान्तों का प्रतिपादन 'सत्यार्थ प्रकाश' के तीसरे समुल्लास में किया -

निःसन्देह ऋषि दयानन्द के विचार शिक्षा के क्षेत्र में अत्यन्त क्रान्तिकारी विचार थे।

ऋषि दयानन्द के एक प्रमुख शिष्य महात्मा मुन्शीराम ने (जो बाद में सन्यास लेकर स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए) सन् 1897 में उन्होंने गुरुकुल को प्रारम्भ करने की आवश्यकता के निम्नलिखित कारण बताए -

वेद आर्य जाति के प्राण है। विशाल संस्कृत साहित्य का मूल स्त्रोत वेद ही हैं संस्कृत का अध्ययन तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक अंगों और उपांगों के साथ वेद का अध्ययन न किया जाए। अत: ऐसे शिक्षण संस्थानों की आवश्यकता है, जहाँ संस्कृत साहित्य के साथ-साथ वैदिक साहित्य का भी अध्ययन हो।

भारत की शिक्षा सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय तभी हो सकती है जब यहाँ के शिक्षण संस्थानों में संस्कृत का अध्ययन हो। अत: आवश्यकता इस बात की है कि हम आर्य-जाति के लिए शिक्षा की एक ऐसी योजना तैयार करें जो सच्चे अर्थों में 'राष्ट्रीय' हो, जो आर्य जाति की 'राष्ट्रीय शिक्षा' की आवश्यकता को पूर्ण करें। अर्थात् हमें विदेशी ज्ञान-विज्ञानों को पढ़ते हुए अपनी राष्ट्रीयता की रक्षा करनी चाहिए। यह गुरुकुल की स्थापना का अन्य कारण था। 'ब्रह्मचर्य' शिक्षा का मुख्य आधार है। हमारी संस्थाएँ ऐसी होनी चाहिए जो नगरों के दूषित प्रभावों से दूर हो और जहाँ ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन होता हो।

सरकारी विश्वविद्यालयों में परीक्षा की जो पद्धति प्रचलित है, वह वास्तविक विद्वता के मार्ग में बाधक है। अत: गुरुकुल इस परीक्षा पद्धति से दूर रहता।

शिक्षण संस्थानों में शिक्षक को बालक के माता-पिता का स्थान लेना चाहिए। आज भारत के विद्यालयों में शिक्षक गण माता-पिता का स्थान नहीं ले पा रहे है। अत: गुरुकुल में

इस कमी को दूर किया जाता है। यह एक ऐसा अनौपचारिक वातावरण होता है। जहाँ शिक्षा के लिए कोई फीस नहीं छोड़ी। गुरुकुल जैसे विद्यालयों की आवश्यकता का अनुभव किया जाता है।

गुरुकुल शिक्षा के उद्देश्य

1. गुरु-शिष्य के मध्य पिता-पुत्र के सम्बन्धों के प्राचीन आदर्श को ब्रह्मचर्य के आदर्श को पुन: स्थापित करना और उसे बालक के विकास का आधार बनाना।
2. बालक का शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास करना।
3. विद्यार्थियों के चरित्र का विकास करना तथा उनके मन में प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति आस्था उत्पन्न करना।
4. वैदिक साहित्य तथा संस्कृत साहित्य को उनके उपयुक्त स्थान दिलाना।
5. प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान के साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन करवाना।
6. प्रत्येक प्रकार की शिक्षा के हर स्तर पर मातृभाषा को माध्यम बनाना।
7. प्रचलित दोषपूर्ण परीक्षा-पद्धति का विकल्प प्रस्तुत करना।
8. भारतीय दर्शन, विज्ञान और इतिहास में शोध करना।
9. प्राचीन संस्कृत साहित्य से सम्बन्धित साहित्य तथा आधुनिक विज्ञान का मातृभाषा में परिवर्तन।

1.1.2 गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना

16 मई, सन् 1900 में गुजराँवाला, पंजाब (अब पाकिस्तान में है) में गुरुकुल की स्थापना की गई। सन् 1901 में काँगड़ी में भूमि खरीदी गई और सन् 1902 में गुजराँवाला से यह काँगड़ी लाया गया। गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना 4 मार्च 1902 में स्वामी मृद्धानन्दजी द्वारा की गई। यह पवित्र गंगा नदी किनारे हरिद्वार से मात्र 6 किलोमीटर दूर है। इसकी स्थापना लार्ड मैकाले की शिक्षा पद्धति के विपरीत राष्ट्रीय शिक्षा को प्रोत्साहित करने हेतु की गई थी। गुरुकुल काँगड़ी का एक मात्र उद्देश्य था वैदिक शिक्षा, भारतीय दर्शन, संस्कृति, आधुनिक विज्ञान एवं शोध। यह 100 प्रतिशत केन्द्र वित्त पोषित डीम्ड विश्वविद्यालय है। उस समय गुरुकुल में कुल 34 छात्र थे जिनकी संख्या शीघ्र ही लगभग 1000 हो गई। आज वहाँ दो हजार से अधिक छात्र शिक्षा प्राप्त कर रहे है। सन् 1963 से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम 3 के अधीन गुरुकुल काँगड़ी को 'विश्वविद्यालय' माना गया है।

1.1.3 शिक्षा का माध्यम

प्रारम्भ से ही गुरुकुल में सब विषयों की शिक्षा राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम द्वारा दी जाती थी। विज्ञान, गणित, पाश्चात्य-दर्शन आदि विषय भी हिन्दी में ही पढ़ाए जाते थे। जब सन् 1907 में महाविद्यालय विभाग खुला तो उसमें भी हिन्दी को ही माध्यम रखा गया। उस समय हिन्दी में उच्च शिक्षा देना एक असम्भव बात समझी जाती थी। गुरुकुल ने इसे कार्यरूप में परिणत करके दिखा दिया। उस समय आधुनिक विद्वानों की पुस्तकें हिन्दी में नहीं थी। गुरुकुल के उपाध्यायों ने पहले-पहल इस क्षेत्र में काम किया और गुरुकुल के अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थ प्रकाशित हुए। प्रो. महेशचरण सिंह की 'हिन्दी कैमिस्ट्री', 'प्रो. साठे का विकासवाद', श्रीयुत गोवर्धन की 'भौतिकी' और रसायन' प्रो. रामशरणदास सक्सेना का 'गुणात्मक विश्लेषण', प्रो.

सिन्हा का 'वनस्पतिशास्त्र' प्रो. प्राणनाथ का 'अर्थशास्त्र', राष्ट्रीय आय-व्यय शास्त्र' और राजनीतिशास्त्र', प्रो. बालकृष्ण का 'अर्थशास्त्र' और राजनीतिशास्त्र', और प्रो. सुधाकर का 'मनोविज्ञान' हिन्दी में अपने-अपने विषय के पहले ग्रन्थ हैं। हिन्दी में वैज्ञानिक ग्रन्थों की रचना ही गुरुकुल द्वारा प्रारम्भ हुई। इन वैज्ञानिक ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से उच्चकोटि के ग्रन्थ गुरुकुल द्वारा प्रकाशित हुए। प्रो. रामदेव ने भारतीय इतिहास के संबंध में मौलिक अनुसंधान कर अपना प्रसिद्ध 'भारतवर्ष का इतिहास' प्रकाशित किया। महात्मा मुंशीरामजी ने भी विविध धर्मो के तुलनात्मक अध्ययन कर मौलिक ग्रन्थ लिखे।

सन् व 1918 में कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के अध्यक्ष डॉ0 सैडलर (जिनके नाम से इस कमीशन को सैडलर कमीशन भी कहते है) सर आशुतोष मुकर्जी के साथ गुरुकुल पधारे। गुरुकुल का अवलोकन करके वे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने अपने एक पत्र में गुरुकुल के संबंध में विचार प्रकट किए - "मैं समझता हूँ कि जिस शिक्षा विधि में मातृभाषा को प्रथम और सबसे प्रमुख स्थान दिया जाए, वहीं यह संभव है कि मन का स्वतंत्र विकास होकर मानसिक वृत्तियों तथा भावों पर प्रभुत्व प्राप्त हो सके। मेरी हार्दिक इच्छा है कि गुरुकुल का विकास राज्य द्वारा स्वीकृत एक स्वतंत्र विश्वविद्यालय के रूप में हो सके।" उस युग के एक प्रसिद्ध विद्वान श्री निवास शास्त्री उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी के कट्टर समर्थक थे, पर गुरुकुल का कार्य संतोषप्रद पाने पर उन्होंने कहा - 'मेरा अपना विचार यह रहा है कि विद्यालय विभाग में शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएँ ही रहनी चाहिए, परन्तु महाविद्यालय विभाग की पढ़ाई अंग्रेजी के माध्यम द्वारा होनी चाहिए। परन्तु अब गुरुकुल को देखकर मैं अपने इस विचार से परे हट रहा हूँ।'

मैकाले के बाद भारत में शिक्षा के क्षेत्र में जो सबसे महत्वपूर्ण और मौलिक प्रयत्न हुआ, वह गुरुकुल है - रेम्जे मैक्डनॉल्ड (ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री)

1.1.4 गुरुकुल में शिक्षा व्यवस्था

1. गुरुकुल के विभाग - गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के अन्तर्गत निम्नलिखित विभाग हैं- (1) विद्यालय विभाग (दसवीं तक के लिए), (2) वेद महाविद्यालय, (3) कला महाविद्यालय (4) विज्ञान महाविद्यालय (5) आयुर्वेद महाविद्यालय।

ये तो गुरुकुल के परिसर में ही स्थित हैं। इसके अतिरिक्त गुरुकुल कांगड़ी से सम्बद्ध अनेक गुरुकुल हैं जो परिसर के बाहर हैं। इनमें मुख्य निम्नलिखित हैं - (6) कन्या गुरुकुल, देहरादून (लड़कियों के लिए) (7) गुरुकुल भैंसवाल, (8) गुरुकुल कुरुक्षेत्र (9) गुरुकुल आर्य नगर (10) गुरुकुल सिंहपुरा (11) गुरुकुल गदपुरी (12) गुरुकुल कुम्भाखेड़ा (13) गुरुकुल हरिणवास (ये सभी हरियाणा में हैं), (14) गुरुकुल काजोखेड़ा (मुजफ्फरनगर, उत्तर प्रदेश) आदि है।

2. गुरुकुल में प्रवेश - गुरुकुल काँगड़ी के मुख्य आदर्श दो हैं - विद्यार्थियों का बौद्धिक विकास तथा चरित्र का निर्माण। इन आदर्शो की पूर्ति के लिए गुरुकुल में प्रवेश 6 से 10 वर्ष की आयु पर दिया जाता है ताकि कोमल बाल्यावस्था से ही बालकों के चरित्र का निर्माण किया जा सके। प्रवेश के समय वेदारम्भ संस्कार होता है। 14 वर्ष पश्चात्,

गुरुकुलीय शिक्षा समाप्त करने पर 'दीक्षान्त संस्कार' किया जाता है। अब आयुर्वेद महाविद्यालय तथा विज्ञान महाविद्यालय के लिए प्रवेश आयु का शिथिल कर दिया गया है।

3. विद्यालयी शिक्षा - दस वर्ष की है। विद्यालय विभाग चक्र पृथक है। गुरुकुल कांगड़ी से सम्बद्ध जो गुरुकुल हैं वे वस्तुत: विद्यालय विभाग की शाखाएँ हैं कन्या गुरुकुल, देहरादून में कन्याओं के लिए उच्च शिक्षा की व्यवस्था है। उसे छोड़ कर दूसरी शाखाओं के छात्र उच्च शिक्षा के लिए गुरुकुल काँगड़ी में ही जाते हैं। विद्यालय शिक्षा की अन्तिम दो कक्षाएँ (कक्षा 9 और 10) 'अधिकारी' कहलाती हैं। गुरुकुल का विद्यालय विभाग दो परीक्षाएँ लेता है - (1) विद्याधिकारी (हाई स्कूल स्तर की) (2) विनोद (इन्टर स्तर की)।
4. महाविद्यालयी शिक्षा - वेद, कला और विज्ञान महाविद्यालय की शिक्षा चार वर्ष की है। वेद महाविद्यालय और कला महाविद्यालय में प्रवेश केवल उन्हीं को मिलता है जिन्होंने गुरुकुल की विद्याधिकारी परीक्षा उत्तीर्ण की है। विज्ञान महाविद्यालय और आयुर्वेद महाविद्यालय में प्रवेश उन्हें भी मिल सकता है जिन्होंने गुरुकुल की विद्याधिकारी परीक्षा के स्तर की कोई परीक्षा कहीं और से उत्तीर्ण की है। आयुर्वेद महाविद्यालय की शिक्षा पाँच वर्ष की है जिसकी सफलतापूर्वक समाप्ति पर 'आयुर्वेदालंकार' की उपाधि मिलती है। अन्य महाविद्यालयों की शिक्षा सफलतापूर्वक पूरी करने पर वेदालंकार, विद्यालंकार या सिद्धान्तालंकार की उपाधि मिलती है। ये स्नातक स्तर की उपाधियाँ है। दो वर्षीय अधिस्नातक की शिक्षा भी पूरी करने पर पहले 'वाचस्पति' की उपाधि मिलती थी। एम.ए. प्रारम्भ होने पर 1964 में वाचस्पति परीक्षा समाप्त कर दी गई। अब गुरुकुल, महाविद्यालय स्तर पर निम्नलिखित परीक्षाएं लेता है - (1) अलंकार (बी.ए. स्तर की), (2) बीएस-सी., (3) एम. एस-सी. (केवल गणित एवं मनोविज्ञान में) (4) एम.ए. (5) पी-एच.डी.।
5. शुल्क - विद्याधिकारी विद्याविनोद और अलंकार शिक्षा के लिए कोई शुल्क नहीं लिया जाता। शेष पाठ्यक्रमों के लिए शिक्षण शुल्क, प्रयोगशाला शुल्क आदि लिए जाते है।

1.1.5 गुरुकुल कांगड़ी की शिक्षा की विशेषताएँ

(1) प्रो. इन्द्र विद्यावाचस्पति ने गुरुकुल शिक्षा की विशेषता बताते हुए लिखा है कि गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता जो उसे अन्य प्रणालियों से भिन्न करती है, यह है कि जहाँ अन्य शिक्षा-पद्धतियों में अध्ययन पर अधिक बल दिया जाता है वहाँ गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली में अध्ययन को केवल साधन मानकर चरित्र निर्माण को प्रमुखता दी जाती है। निःसन्देह यह प्रमुख विशेषता है। गुरुकुल शिक्षा की कतिपय अन्य विशेषताएँ निम्नलिखित है।

(2) प्रत्येक प्रकार की, और हर स्तर की शिक्षा का माध्यम हिन्दी है।

(3) बालक गुरु के कुल; का अंग बनकर रहता है। बालक अपने घर या परिवार से केवल हटकर दूसरे परिवार में पहुँचता है। जन्म देने वाले अपने पिता के छोटे परिवार से हटकर आचार की शिक्षा देने वाले आचार्य के बड़े परिवार का सदस्य बन जाता है।

(4) बालक को निःशुल्क शिक्षा दी जाती है।

(5) बालक के पिता का सामाजिक-आर्थिक स्तर क्या है - इसका कोई लिहाज गुरुकुल में नहीं रखा जाता है। अत: धनी-निर्धन, ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव गुरुकुल में नहीं बरता जाता।

(6) बालकों में तपस्या पूर्ण जीवन का अभ्यास कराया जाता है।

(7) आश्रम का जीवन विद्यार्थियों को अस्वस्थकारी प्रभावों से बचाता है। व्रताभ्यास द्वारा उनका शतक प्रशिक्षण भी होता है।

(8) कठोर परिवीक्षण तथा निश्चित दैनिक कार्यक्रम द्वारा विद्यार्थियों में समय का सदुपयोग करने की प्रवृति विकसित की जाती है।

(9) विद्यार्थियों को विभिन्न विषयों पर प्राचीन भारतीय तथा आधुनिक पश्चिमी विचारों का तुलनात्मक ज्ञान मिलता है।

(10) परीक्षाओं का आतंक नहीं रहता।

(11) कक्षा उत्तीर्ण करने के लिए केवल परीक्षा भवन में सम्पन्न हुई परीक्षा में उत्तीर्ण होना आवश्यक नहीं, दैनिक जीवन के कार्यक्रमों को नियमित रूप से करना भी आवश्यक है।

(12) शिक्षा का स्तर अत्यन्त उच्च है।

(13) पुस्तकालय के प्रयोग पर बल दिया जाता है। पुस्तकालय में विभिन्न विषयों के अच्छे स्तर की लगभग एक लाख पुस्तकें हैं। भाषा की दृष्टि से हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू तथा अन्य भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त रूसी भाषा की भी पुस्तकें वहाँ है।

(14) समन्वित विकास पर ध्यान दिया जाता है। इसी का परिणाम है कि गुरुकुल के हर तीन स्नातकों में से एक प्रतिष्ठित लेखक है। गुरुकुल के छात्र 7 छात्राओं ने शारीरिक व्यायाम के नए प्रतिमान स्थापित किए हैं। छाती पर पत्थर तोड़ना बहुत से आदमियों से भरी गाड़ी छाती पर से निकालना, चलती मोटर को कमर में रस्सा बांध कर रोक देना आदि व्यायाम एक ओर है तो दूसरी ओर है हॉकी, वालीबॉल आदि की उनकी टीम जिन्होंने कलकत्ता मेरठ, दिल्ली आदि में पुरस्कार प्राप्त किए है।

1.1.6 उपसंहार

गुरुकुल प्रणाली को केवल आर्य समाज ने ही नहीं अपनाया अपितु सनातनी, जैन अन्य धर्मावलम्बियों ने भी ऋषि दयानन्द के शिक्षा सम्बन्धी आदर्शो को स्वीकार कर गुरुकुल के ढंग के शिक्षणालय खोलने शुरू किए। जैनियों ने 'गुजरांवाला', 'पंचकूला' आदि विभिन्न स्थानों पर गुरुकुल खोले। सनातनी विचार के लोगों ने हरिद्वार में 'ऋषिकुल' की स्थापना की। इसी तरह की संस्थाएं अन्य भी अनेक स्थानों पर स्थापित की गई। बीसवीं सदी का प्रथम चतुर्थांश गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की विजय का काल था। उस युग से राष्ट्रीय शिक्षा की जो प्रमुख कल्पना जनता के सम्मुख थी, वह थी गुरुकुल शिक्षा प्रणाली। गुरुकुल ने शिक्षा के क्षेत्र में जो कार्य किए हैं उनकी भारतीय विद्वानों ने तो भूरि-भूरि प्रशंसा की ही है, विदेशी विद्वानों ने भी उनके महत्व को स्वीकार किया है। संयुक्त प्रान्त के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर सर जेम्स मेस्टन ने गुरुकुल काँगड़ी की कार्यप्रणाली को देखने के बाद 19 फरवरी, 1914 को टिप्पणी की - "आदर्श विश्वविद्यालय की मेरी यही कल्पना है।"

डॉ0 राधाकृष्णन् ने गुरुकुल की हीरक जयन्ती के अवसर पर कहा था कि कुछ महत्वपूर्ण शिक्षण सिद्धान्तों को, जिनको शिक्षण संस्थाएँ अब अंगीकार कर रही हैं, सर्वप्रथम निर्माण इसी गुरुकुल में हुआ था।

डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद ने सत्य ही कहा था कि "हमारी आज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सर्वोत्तम शिक्षा प्रणाली का क्या रूप हो, इस संबंध में अभी तक निश्चयपूर्वक कुछ कहना संभव नहीं। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली भारतीय शिक्षा पद्धति पर आधारित है, किन्तु आधुनिक शिक्षा विज्ञान से भी यह प्रणाली प्रभावित हुई है। सार्वजनिक शिक्षा के क्षेत्र में भी जो परीक्षण हमारे देश में अभी तक हुए हैं उनमें गुरुकुल शिक्षा संस्थाओं का महत्वपूर्ण स्थान है।"

1.2 अरविन्द आश्रम - परिचय

1.2.1 परिचय

श्री अरविन्द का जन्म सन् 1872 में कलकत्ता में हुआ था। इनके पिता पाश्चात्य सभ्यता और पाश्चात्य संस्कृति के भक्त थे। वे अरविन्द को भारतीय सभ्यता और संस्कृति से दूर ही रखना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने अरविन्द को सात वर्ष की ही आयु में अध्ययन के लिए इंग्लैण्ड भेज दिया। चौदह वर्ष लंदन और कैम्ब्रिज में रहकर अरविन्द ने अपनी पढ़ाई समाप्त की। वे भारतीय सिविल सर्विस की परीक्षा में बैठे। उसमें उत्तीर्ण हो जाने पर उन्होंने कार्यभार नहीं संभाला क्योंकि अंग्रेजों की दास्तां में काम करना उन्हें स्वीकार नहीं था।

सन् 1983 में वे भारत लौटे। सन् 1893 से 1906 तक तेरह वर्ष वे बड़ोदा के एक कॉलेज में प्राध्यापक रहे। इस काल में उन्होंने संस्कृत साहित्य तथा भारतीय दर्शन का गहन अध्ययन किया। बंगाल विभाजन के समय सन् 1905-06 में कॉलेज की सेवा से उन्होंने त्यागपत्र दे दिया और कलकत्ता आकर राष्ट्रीय भावनाओं के प्रचार में लग गए। उन्होंने एक राष्ट्रवादी दल की स्थापना की। राजनीति में खुलकर भाग लेने के कारण उन्हें कई बार जेल भी जाना पड़ा। सन् 1908 में वे अलीपुर जेल में थे कि उन्हें एक धार्मिक अनुभूति हुई। जेल से वापस आने पर उन्होंने राजनीति से सन्यास ले लिया और पाण्डिचेरी में (जो उस समय फ्रांसीसियो के अधिकार में था) आश्रम बनाकर रहने लगे। अरविन्द ने अपना शेष जीवन इसी आध्यात्मिक स्थल पर व्यतीत किया। 5 दिसम्बर सन् 1950 को इस सिद्धपुरूष ने संसार को त्यागकर दिव्य लोक को प्रस्थान किया।

1.2.2 अरविन्द का जीवन-दर्शन

अरविन्द का विश्वास था कि मनुष्य क्षणिक एवं परिवर्तनशील प्राणी है। वह अपने विकास का अन्तिम रूप नहीं है। मनुष्य से भी ऊपर कई सीढ़िया चढ़कर महामानव का स्थान है जो दिव्य है। यही मनुष्य का गन्तव्य है।

1.2.3 शिक्षा दर्शन

अरविन्द योग के द्वारा सब का कल्याण चाहते थे। उन्होंने योग के साधन के रूप में शिक्षा-दर्शन का निर्माण किया। अरविन्द के शिक्षा-दर्शन की मुख्य बातें इस प्रकार हैं -

वे मानते थे कि मनुष्य के अन्दर सारा ज्ञान भरा हुआ है। शिक्षा इस ज्ञान का उद्घाटन करती है। तीन प्रमुख गुण है सत्व-रज और तम। ज्ञान सत्व द्वारा ही प्राप्त होता है और मानसिक धरातल पर आता है। अध्यापक को चाहिये कि वह तमस को, तपस् और तेजस के द्वारा दूर करें। नैतिक अनुशासन के द्वारा रजस् को अनुशासित किया जा सकता है। ध्यान, व्याख्या तथा आवृति के द्वारा सत्व को जागृत किया जा सकता है। अतएव मनुष्य के भीतर के ज्ञान को जगाने के लिए योग-विद्या की आवश्यकता है।

अरविन्द ने विद्या का मूल आधार ब्रह्मचर्य को माना है। इसके द्वारा तपस्, तेजस विद्युत तथा ओजस में जो भी वृद्धि होगी उसी के आधार पर मनुष्य का शरीर, मन तथा हृदय और आत्मा सशक्त होंगे। इसलिये शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालक का शारीरिक मानसिक, संवेगात्मक तथा नैतिक और आध्यात्मिक विकास करके उसको पूर्ण मानव बनाना है। हमें किसी भी दशा में धर्म की शिक्षा से मुँह नहीं मोड़ना चाहिए। इस शिक्षा को हमें व्यावहारिक रूप प्रदान करना चाहिए।

अरविन्द ने बताया कि हमारी शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही होनी चाहिए और अध्यापक शिक्षा के कार्य में एक सहायक, पथ प्रदर्शक तथा मित्र के रूप में केवल बालक की सहायता करने के लिये रहे। उनके अनुसार बच्चों को जो भी पाठ्यक्रम पढ़ने को दिया जाये उसमें रोचकता होनी चाहिए। जिसके द्वारा बच्चों की ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्षण होता रहे। अरविन्द ने उसी शिक्षा को एक अच्छी शिक्षा कहा है जो कि हमारी आन्तरिक शक्तियों का विकास भली प्रकार कर सके।

अरविन्द ने बताया कि पूर्णयोग के लिए पूर्ण शिक्षा आवश्यक है। पूर्ण शिक्षा से यहाँ संपूर्ण मनुष्य की शिक्षा से मतलब है। पाठ्यक्रम के विषय में बालक के व्यावहारिक जीवन को ध्यान में रखना चाहिए। मनुष्य जब इस प्रकार की आदर्श शिक्षा प्राप्त कर लेगा तो वह जाति, धर्म आदि सब का भेदभाव भूल जायेगा और वह मनुष्य को समझने लगेगा तथा सबके कल्याण की इच्छा करेगा।

1.2.4 अरविन्द आश्रम

अपने इसी जीवन दर्शन एवं शिक्षा-दर्शन को मूर्त रूप देने के लिए अरविन्द ने पाण्डिचेरी में 24 नवम्बर सन् 1926 में एक आश्रम की स्थापना को। इस आश्रम में अरविन्द के अनुयायी परिवार के सदस्य के रूप में रहने लगे। सन् 1920 में एक फ्रांसीसी महिला मीरा अलफासा आश्रम में आकर बस गई। दिसम्बर 1926 में श्री अरविन्द ने निश्चय किया कि वे जनता से दूर रहेंगे और उन्होंने अपनी सहकर्मी मीरा अलफासा को आश्रम की जिम्मेदारी सौंप दी। उन्हें बाद में 'द मदर' (माँ) कहा जाने लगा। प्रारम्भ में आश्रमवासियों की संख्या आठ थी, अब आठ हजार से अधिक है। यह आश्रम आध्यात्मिक शक्ति चाहने वाले जिज्ञासुओं का एक परिवार है। जहाँ स्थायी निवासियों के अतिरिक्त, संसार के विभिन्न राष्ट्रों के लोग आकर रहते हैं और आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करते है।

आश्रम में प्रवेश के लिए जाति, वर्ग, धर्म, लिंग, राष्ट्रीयता आदि का कोई भेदभाव नहीं बरता जाता; केवल उन्हें भरती किया जाता था जिन्हें 'मदर' के मतानुसार आध्यात्मिक जीवन की आन्तरिक प्रेरणा मिल चुकी हो।

आश्रम में सभी लोग अपने हाथों से अपना कार्य करते है। सबको अपनी रुचि, क्षमता व योग्यता के अनुसार कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता है। लोग वही निःस्वार्थ सेवा-भावना से कार्य करते हैं।

आश्रम में प्राचीन ऋषियों के आश्रम वाली विशेषताएँ भी हैं, और आधुनिक वैज्ञानिक तकनीकी सुविधाएँ भी। यह अध्यात्म और आधुनिक विज्ञान का अच्छा समन्वय है। सफाई का विशेष ध्यान रखा जाता है। आश्रम के अन्दर पुस्तकालय, वाचनालय, बैंक, भोजनालय, चिकित्सालय, डेयरी, इंजीनियरी-वर्कशाप, धोबी घर, प्रेस (छापाखाना) सभी कुछ है। कुल मिलाकर लगभग सौ से अधिक भवन इस आश्रम में हैं। आश्रम देखकर अद्भुत आश्चर्य होता है। जहाँ सब प्रकार की स्वतंत्रता होते हुए भी संयम है, नियम है, अनुशासन है।

1.2.5 आश्रम स्कूल

इस स्कूल की स्थापना सन् 1943 में अरविन्द आश्रम के सदस्यों के बच्चों के लिए की गई थी। विद्यालय जो अब अर्न्तराष्ट्रीय केन्द्र के रूप में विख्यात है इसके इतिहास को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है - (1943 से 1950), (1951 से 1958), (1959 से 1967), (1967 उपरान्त) प्रारम्भ में माँ मीरा अलफसा ने कुल तीस विद्यार्थियों के लिये स्कूल खोला जिसमें वह स्वयं शिक्षक के रूप में कार्यरत थी। 1950 तक विद्यार्थियों की संख्या 150 हो गई। माँ स्वयं अध्यापक व विद्यार्थियों से अन्तःक्रिया करती थी। सन् 1951 में एक अर्न्तराष्ट्रीय केन्द्र के रूप में परिवर्तित करने का प्रस्ताव दिया। (1951 - 1958) की अवधि में श्री अरविन्द के शैक्षिक विचारों को प्रायोगिक रूप में स्थापित किया गया।

आश्रम किसी विशेष धर्म को नहीं मानता अत: वहाँ किसी विशेष धर्म की शिक्षा नहीं दी जाती।

आश्रम स्कूल के सभी शिक्षक आश्रम वासी साधक है। शिक्षकों को वेतन नहीं दिया जाता। आश्रमवासियों के परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति आश्रम की ओर से की जाती है।

श्री अरविन्द अन्तर-राष्ट्रीय विश्वविद्यालय केन्द्र - दिसम्बर, 1950 में योगिराज अरविन्द के स्वर्गवास के पश्चात् उनके शिक्षा सम्बन्धी स्वप्न को साकार करने के लिए पाण्डिचेरी आश्रम में एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय केन्द्र की स्थापना की गई। 8 जनवरी, 1952 को विश्वविद्यालय केन्द्र का उद्घाटन कर दिया गया। यह केन्द्र आश्रम स्कूल का ही परिवर्धित रूप है एवं एक अभिन्न हिस्सा है। शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग के अनुसंधान का एक क्षेत्र के रूप में कार्य करता है। विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में भारतीय का पाश्चात्य दर्शन, गणित, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, समाजशास्त्र आदि विषय पढ़ाये जाते है। शारीरिक शिक्षा का योगासन आदि पर भी विशेष बल दिया जाता है। इस विश्वविद्यालय का मुख्य प्रयोजन आध्यात्मिक तथा दार्शनिक जीवन में गहन अध्ययन तथा अनुसंधान की सुविधाएँ प्रदान करना है। यहां शिक्षा

सभी के लिए सुलभ है। यहां विभिन्न देशों की संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व होता है। यहां त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित होती है जिसमें केन्द्र की गतिविधियां तस्वीरों के साथ प्रदर्शित की जाती है। 1959 में अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र के संगठन एवं संरचना पर बल दिया गया, उच्च शिक्षा को दो मुख्य संकाय - कला एवं विज्ञान में विभाजित किया गया। इसके अतिरिक्त सभी विद्यार्थियों को श्री अरविन्द से जुड़ी पुस्तकों का अध्यापन आवश्यक था जो तीन वर्षों के अन्तर्गत पढ़ायी जाती थी विभिन्न विषयों के लिए बोर्ड बनाये गये जिनमें अंग्रेजी, फ्रेंच एवं गणित मुख्य थे जो पाठ्यक्रम निर्माण, पुस्तकों के लेखन आदि का कार्य करते थे एवं अध्यापक व विद्यार्थियों के मूल्यांकन पर विशेष ध्यान दिया जाता था जिसमें त्रैमासिक परीक्षा का प्रावधान था, यही मूल्यांकन का प्रमुख आधार थी। धीरे-धीरे परीक्षा आयोजन समाप्त कर दिया गया।

1.3 विश्व शान्ति (शान्ति निकेतन)

1.3.1 शान्ति निकेतन का जन्म

शान्ति निकेतन कलकत्ता से लगभग 100 मील की दूरी पर बोलपुर में स्थित है। इस स्थान पर एक आश्रम की स्थापना रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ने की थी। वह ब्रह्म समाज के अनुयायी थे। उन्होंने साधना के लिए इस स्थान को बहुत पसन्द किया क्योंकि यहां शान्ति और एकान्त था। वहाँ की प्राकृतिक सुन्दरता से वे बहुत आकर्षित हुए अत: वहाँ उन्होंने एक आश्रम की स्थापना की। रवीन्द्रनाथ बाल्यकाल में अपने पिता के साथ शान्ति निकेतन में जाया करते थे। इस स्थान पर उन्हें एक विशेष स्वतंत्रता का अनुभव होता था क्योंकि वे निर्बन्ध होकर नदी, नालों से लिप्त वनों एवं कुंजों में घूम सकते थे।

यह स्थान गुरुदेव रविन्द्रनाथ टैगोर को इतना मन भाया कि एक दिन सन् 1901 में उन्होंने अपने पिता की अनुमति से यहाँ एक ब्रह्मचर्य आश्रम की स्थापना की जिसमें उस समय केवल 5 छात्र थे। प्राकृतिक सौन्दर्य से घिरे हुए इस आश्रम में कक्षाएँ नीले आकाश के विस्तृत प्रांगण में वृक्षों के नीचे लगती है। किसी भी प्रकार की नियमित परीक्षा नहीं ली जाती है। गुरु एवं शिष्य साथ-साथ रहते हैं, तथा एक समान जीवन व्यतीत करते हैं। आश्रम में कई प्रकार की साहित्यिक क्रियाओं की व्यवस्था की जाती है। छात्र अपने लेख एवं कविताएँ स्वयं प्रकाशित करते हैं। उन्हें नृत्य, संगीत चित्रकला, अभिनय आदि- की शिक्षा भी दी जाती है। बालकों को खेलों में भाग लेने को खूब प्रोत्साहन दिया जाता है तथा छात्रों को शारीरिक शिक्षण भी दिया जाता है। आध्यात्मिक विकास के लिए सूर्योदय तथा सूर्यास्त तथा सूर्यास्त के समय छात्र मौन प्रार्थना करते हैं तथा निराकार ब्रह्म की उपासना करते हैं। वहाँ संगमरमर शिला पर बंगला में अंकित है - तिनी आमार, प्राणेर आराम, मनेर आनन्द, आत्मार शान्ति।

विश्व भारती का संबंध महर्षि रवीन्द्रनाथ टैगोर के नाम से जुड़ा हुआ है। टैगोर ने शिक्षा के क्षेत्र में जो व्यक्तिगत अनुभव प्राप्त किए तथा उनके आधार पर जो प्रयोग किए उन्हीं के परिणामस्वरूप विश्व भारती का जन्म हुआ। रवीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म सन् 1661 में कलकत्ता में हुआ था। उनकी शिक्षा का प्रबन्ध घर पर ही किया गया क्योंकि स्कूल की पढ़ाई

में उनका मन नहीं लगता था। यह स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया था कि उनको शिक्षित करना असम्भव है। परन्तु भविष्य में शिक्षा के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ टैगोर की उपलब्धियाँ जिनके आधार पर उनकी एक रचना 'गीतांजलि' पर 'नोबेल पुरस्कार' मिला, जिसके आधार पर कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उन्हें डी. लिट्. की उपाधि प्रदान की। जिसके आधार पर उन्हें विश्व के सर्वश्रेष्ठ साहित्याकर, नाटककार, कहानीकार, लेखक, दार्शनिक तथा संगीतकारों में गिना जाता है, यह सिद्ध करती है कि बचपन में शिक्षा प्राप्त करने में असफलता का कारण स्वयं टैगोर नहीं, बल्कि वह शिक्षा व्यवस्था थी जिसमें स्कूल का वातावरण बालक के लिए जेल के समान था।

1.3.2 टैगोर के शिक्षा सम्बन्धी विचार

1. बालक को पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए - टैगोर का विश्वास है कि शिक्षा की प्रक्रिया तभी सम्पन्न हो सकती है जब बालक को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो। बालक को परम्पराओं का दास नहीं बनाना चाहिए, न उसे कोई आदत अपनाने के लिए विवश करना चाहिए। बालक को प्राकृतिक वातावरण से हटाना भी उसकी स्वतंत्रता का अपहरण करना है। इसीलिए टैगोर विद्यालय को आधुनिक सज्जा के बाह्याडम्बर से सुसज्जित करने के पक्ष में नहीं थे।
2. बालक का सर्वोच्च महत्व - उनकी दृष्टि में बालक का मूल्य पुस्तकों, नियमों, शिक्षकों आदि सबकी अपेक्षा अधिक है। आत्मानुभव, आत्माभिव्यक्ति, आत्मोद्धार आदि बालक की व्यक्तिगत समस्याएँ हैं जो व्यक्तिगत प्रयत्न द्वारा ही हल हो सकती है। अत: शिक्षा की किसी भी योजना में व्यक्ति को सर्वोच्च महत्व दिया जाना चाहिए।
3. शिक्षा प्राकृतिक वातावरण में क्रियाओं द्वारा - बच्चों को पाठ्य-पुस्तकों द्वारा सीखने के लिए बाध्य किया न जाए, बल्कि उन्हें प्राकृतिक वातावरण द्वारा स्वयं ही सीखने का अवसर दिया जाए। रूसो की भाँति टैगोर भी यह मानते थे कि ये पुस्तकें बच्चों तथा उनके संसार के बीच में एक दीवार की भाँति आ जाती हैं। इस व्यवधान को दूर करने के लिए आवश्यक है कि शिक्षा प्राकृतिक वातावरण में और प्राकृतिक क्रियाओं द्वारा दी जाए। भारतीय सभ्यता का उद्गम प्रकृति के सान्निध्य में हुआ है - ऐसा टैगोर स्वीकार करते हैं। उनका यह भी मानना है कि भारतीय संस्कृति का विकास मनुष्य की आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ न कि सामाजिक आवश्यकताओं और प्रतिबद्धताओं के दबाव में। इसलिए टैगोर चाहते हैं कि बालक की शिक्षा का संगठन प्राकृतिक वातावरण में होना चाहिए। वे प्राचीन काल की गुरुकुल प्रणाली के समर्थक हैं क्योंकि ये गुरुकुल प्रकृति की गोद में स्थित होते थे।
4. पूर्व और पश्चिम में एकता स्थापित करना - हजार की मान्यता है कि प्रकृति, मानव-जगत तथा अन्तर-राष्ट्रीय सम्बन्ध - सभी में प्रेम और मेल होना चाहिए। वास्तविक शिक्षा वही है जो समस्त वस्तुओं में मेल और प्रेम की भावना उत्पन्न करें। इसीलिए टैगोर की दृष्टि में शिक्षा का एक उद्देश्य है। पूर्व और पश्चिम के बीच एकता स्थापित करना। अपने शब्दों में कह सकते हैं कि विज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान में, भौतिक उन्नति और आध्यात्मिक विकास में समन्वय होना चाहिए।

5. शैक्षिक प्रतिभा का विकास करें तथा विश्व-बन्धुत्व के भाव भरे - प्रत्येक बच्चे में कुछ न कुछ प्रतिमा होती है। शिक्षा का काम है कि उस प्रतिभा का विकास करे। ज्ञान के नाम पर दी जाने वाली आजकल की सूचनाएँ व्यक्ति को शक्तिशाली बना सकती हैं पर पूर्ण मानव नहीं बना सकतीं। विश्व बन्धुत्व एवं प्राणिमात्र से प्रेम व्यक्ति को पूर्ण मानव बना सकता है अत: वास्तविक शिक्षा वही है जो इन भावों का विकास करे।
6. शिक्षा सत्य की एकता का ज्ञान दे - टैगोर शिक्षा के द्वारा मानव को सत्य की एकता (द यूनिटी आव ट्रुथ) का ज्ञान कराना चाहते हैं। मानव में सत्य की एकता का भाव उसके शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक जीवन के पारस्परिक सम्बन्ध पर बल देकर उत्पन्न किया जा सकता है और इस प्रकार शिक्षा के द्वारा आध्यात्मिक सभ्यता का विकास हो सकता है। टैगोर का आध्यात्मवाद मानवतावाद के निकट है। वे मानते हैं कि ईश्वर वहाँ है जहाँ किसान तपती धूप में हल चला रहा है, और सड़क बनाने वाला कठोर पत्थर तोड़ रहा है। टैगोर की दृष्टि में, वैज्ञानिक अनुसंधान मानव सभ्यता के विकास की कसौटी नहीं है। मानव के मूल्य में जिससे वृद्धि हो वही मानव सभ्यता के विकास का प्रमाण है। बच्चों को प्रकृति के सान्निध्य में और ऐसे अध्यापकों के संरक्षण में पलने दिया जाए जो उन्हें सचमुच प्यार करते हों और उनके लिए समुचित वातावरण के निर्माण करने के महत्व को समझते हों। नैतिकता पर भाषण सुनने के बजाय बच्चे स्वस्थ वातावरण में रहें और ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताएँ।
7. शैक्षिक सुधार देश की आवश्यकता के अनुरूप हों - शैक्षिक सुधार देश की आवश्यकताओं के अनुरूप होने चाहिए न किए प्रशासकों की सुविधाओं के अनुरूप। टैगोर विशेष रूप से आयरलैंड का उदाहरण देते थे। एक समय था जब आयरलैंड अपनी समृद्ध संस्कृति के लिए विख्यात था, पर विदेशी शासकों ने ऐसी दुष्टतापूर्ण शिक्षा पद्धति वहाँ प्रचलित की कि वही के लोग शरीर, मन और आत्मा-हर दृष्टि से पंगु हो गए। अपने देशवासियों को टैगोर इस खतरे के प्रति सावधान करना चाहते थे।

   शिक्षा का माध्यम, **अध्यापक-**विद्यार्थी सम्बन्ध विश्वविद्यालय शिक्षा, स्त्री शिक्षा, नैतिक और धार्मिक शिक्षा आदि शिक्षा सम्बन्धी सामयिक समस्याओं पर भी टैगोर ने अपनी गंभीर दृष्टि से विचार किया। अंग्रेजी शिक्षा पद्धति में प्रारम्भ में प्रारम्भ से ही अंग्रेजी भाषा ही शिक्षा का माध्यम थी और जिस भाषा को विद्यार्थी न ठीक से समझ सकता था, न शुद्ध रूप से उपयोग कर सकता था उसी में उन्हें सारा ज्ञान (सूचनाएं) अर्जित (संचित) करना पड़ता था और इस प्रकार वह जीवन भर अपरिपक्व रहता था। टैगोर ने इसकी भयानक स्थिति का चित्रण किया है और मातृभाषा को समस्त शिक्षा का माध्यम बनाने का आग्रह किया है।

1.3.3 शांति निकेतन का जन्म

गुरु शिष्य सम्बन्धों पर विचार करते हुए टैगोर ने आधुनिक किशोर की समस्याओं का सहृदयता से अध्ययन किया और अपना दृढ़ मत व्यक्त किया कि शिक्षण संस्थाओं में व्याप्त अनुशासनहीनता को दूर करने के लिए जेल और मिलिट्री की बैरकों का कठोर अनुशासन काम नहीं दे सकता, यह तो अध्यापकों की प्रतिष्ठा पर भी आघात होगा। विद्यार्थियों से यह आशा

करना ही गलत है वे अध्यापकों से वैसा ही व्यवहार करें जैसा किसी सामन्त के दरबारी करते हैं। टैगोर का विश्वास था कि शिक्षा में आदान-प्रदान की प्रक्रिया यदि पारस्परिक सम्मान की भावना से युक्त हो तो अनुशासन की समस्या स्वयमेव सुलझ जाएगी।

ज्ञान का समाज के हर वर्ग में फैलाना अतीत की शिक्षा का एक आदर्श था। धर्म ग्रन्थों और महाकाव्यों के अंशों का वाचन, भक्त ध्रुव, सीता वनवास, दानवीर कर्ण, सत्यवादी हरिशचन्द्र, आदि नाटक (जात्रा) इसी उद्देश्य से किए जाते थे। यह उत्तम प्रकार की समाज शिक्षा थी। पर अंग्रेजी शिक्षा का लाभ अधिकांश नगरों तक ही सीमित रहा, और शेष देश के असंख्य गाँव अशिक्षा, रोग और क्षय के अन्धकार में विलीन होते गए। इस स्थिति को सुधारना चाहिए।

1.3.4 विश्व भारती की स्थापना

टैगोर शान्ति निकेतन विद्यालय की स्थापना से ही संतुष्ट नहीं थे। उनका विचार था कि एक ऐसे शिक्षा केन्द्र की स्थापना की जाए, जहाँ पूर्व और पश्चिम को मिलाया जा सके। सन् 1916 में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने विदेशों से भेजे गए एक पत्र में लिखा था। शान्ति निकेतन को समस्त जातिगत तथा भौगोलिक बन्धनों से अलग हटाना होगा, यही मेरे मन में है। समस्त मानव-जाति की विजय-ध्वजा यहीं गड़ेगी। पृथ्वी के स्वादेशिक अभिमान के बंधन को छिन्न-भिन्न करना ही मेरे जीवन का शेष कार्य रहेगा। अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए टैगोर ने 1921 में शान्तिनिकेतन में 'यत्र विश्वम भवत्येकनीडम्' (सारा विश्व एक घर है) के नए आदर्श वाक्य के साथ विश्व भारती विश्वविद्यालय की स्थापना की। तभी से यह संस्था एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के रूप में ख्याति प्राप्त कर रही है।

1.3.5 विश्व भारती के उद्देश्य

1. विभिन्न दृष्टिकोणों से सत्य के विभिन्न रूपों की प्राप्ति के लिए मानव मस्तिष्क का अध्ययन करना।
2. प्राचीन संस्कृति में निहित आधारभूत एकता के अध्ययन एवं शोध द्वारा उनमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना।
3. एशिया में व्याप्त जीवन के प्रति दृष्टिकोण एवं विचारों के आधार पर पश्चिम के देशों से संपर्क बढ़ाना।
4. पूर्व एवं पश्चिम में निकट संपर्क स्थापित कर विश्व शान्ति की संभावनाओं को विचारों के स्वतंत्र आदान- प्रदान द्वारा दृढ़ बनाना।
5. इन आदर्शों को ध्यान में रखते हुए शान्ति निकेतन में एक ऐसे सांस्कृतिक केन्द्र की स्थापना करना जहाँ धर्म, साहित्य, इतिहास, विज्ञान एवं हिन्दू बौद्ध, जैन, मुस्लिम, सिख, ईसाई और अन्य सभ्यताओं की कला का अध्ययन और उनमें शोधकार्य, पश्चिमी संस्कृति के साथ, आध्यात्मिक विकास के अनुकूल सादगी के वातावरण में किया जाए।

1.3.6 विश्व भारती के विभाग

1. पाठ भवन - इसमें स्कूल सर्टिफिकेट (मैट्रिक परीक्षा) उत्तीर्ण करने के लिए शिक्षा दी जाती है तथा 6 से 12 वर्ष की आयु के बालकों को प्रवेश दिया जाता है। शिक्षा का माध्यम बंगाली है।
2. शिक्षा भवन - इसमें सीनियर स्कूल सर्टिफिकेट (इन्टर परीक्षा) की परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए शिक्षा दी जाती है। छात्रों की आवश्यकताओं पर व्यक्तिगत ध्यान तथा सामाजिक, सांस्कृतिक और अन्य सहगामी क्रियाओं की प्रचुर मात्रा में व्यवस्था शिक्षा भवन की प्रमुख विशेषताएँ हैं।
3. विद्या भवन - इसमें 3 वर्ष की बी.ए. (आनर्स) पाठ्यक्रम की तैयारी कराई जाती है। परीक्षा के विषय संस्कृत, बंगाली, हिन्दी, उड़िया, अंग्रेजी, अर्थशास्त्र और दर्शन है। भवन में दो वर्ष के एमए. पाठ्यक्रम की व्यवस्था संस्कृत, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति, बंगाली, हिन्दी, उड़िया, अंग्रेजी तथा दर्शन में है। छात्र इन विषयों में अनुसंधान कार्य भी कर सकते हैं। दो वर्षीय सार्टिफिकेट्स कोर्स, तत्पश्चात एक वर्षीय डिप्लोमा कोर्स का अतिरिक्त प्रबन्ध संस्कृत
   बंगाली, हिन्दी, उड़िया, चीनी, जापानी, तिब्बती, फ्रेंच, जर्मन, अरबी और अंग्रेजी भाषाओं में किया गया है।
4. विनय भवन - यह एक अध्यापक प्रशिक्षण कॉलेज है जिसमें एक वर्षीय बी.एड. पाठ्यक्रम की व्यवस्था है। प्रशिक्षण काल में शिल्प तथा अन्य व्यावहारिक एवं रचनात्मक क्रियाओं की शिक्षा का भी प्रबन्ध किया जाता
5. कला भवन - इसमें ड्राइंग, पेंटिंग, मूर्ति कला, कढ़ाई आदि के अतिरिक्त काष्ठ कला, कलात्मक चर्म कार्य तथा अन्य शिल्पों की शिक्षा भी दी जाती है। कला भवन में कलात्मक शिल्पों में दो वर्षीय सर्टिफिकेट कोर्स तथा मैट्रिक परीक्षा के पश्चात 4 वर्षीय डिप्लोमा कोर्स की व्यवस्था है।
6. संगीत भवन - इसमें संगीत में (क) 3 वर्षीय इंटरमीडिएट परीक्षा का पाठ्यक्रम, (ख) तत्पश्चात रवीन्द्र संगीत, हिन्दुस्तानी संगीत, सितार, मनीपुरी, कत्थक, कथाकली और भरत नाट्यम में 2 वर्षीय डिग्री पाठ्यक्रम की व्यवस्था है।
7. चीन भवन - इसमें भारतीय छात्रों को चीन सम्बन्धी और चीनी छात्रों को भारतीय संस्कृति की शिक्षा दी जाती है।
8. हिन्दी भवन - इसमें हिन्दी भाषा की शिक्षा तथा अनुसंधान कार्य करने की सुविधाएं है।
9. हिन्द-तिब्बती शिक्षालय - इसमें तिब्बती भाषा की शिक्षा का प्रबन्ध है।
10. श्री निकेतन - इसमें ग्राम्य जीवन की समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य छात्रों को ग्राम्य जीवन से परिचित करवाना तथा ग्राम्य समस्याओं के समाधान की शक्ति पैदा करना है। श्री निकेतन में ग्रामीण बालकों को माध्यमिक स्तर की शिक्षा प्रदान करने के लिए शिक्षा सत्र की स्थापना की गई है। घरेलू उद्योग धन्धों के प्रशिक्षण का कार्य शिल्प सदन द्वारा किया जाता है।

इसके अतिरिक्त शिक्षा चर्चा नामक एक संस्था और है जो बेसिक अध्यापक प्रशिक्षण विद्यालय के रूप में कार्य करती है तथा भारत सरकार द्वारा स्थापित ग्रामीण महाविद्यालय उच्च ग्रामीण शिक्षा की व्यवस्था करती है।

1.3.7 विश्व भारती की विशेषताएँ

1. स्वयं गुरुदेव रवीन्द्र ने विश्व भारती की विशेषता का उल्लेख इन शब्दों में किया - "विश्व भारती भारत का प्रतिनिधित्व करती है। यहाँ भारत की बौद्धिक सम्पदा सभी के लिए उपलब्ध है। अपनी संस्कृति के श्रेष्ठ तत्व दूसरों को देने में, और दूसरों की संस्कृति के श्रेष्ठ तत्व अपनाने में भारत सदा से उदार रहा है। विश्व भारती भारत की इस महत्वपूर्ण परम्परा को स्वीकार करती है।"
2. कोई छात्र किसी एक विभाग में प्रवेश पाने के पश्चात् किसी दूसरे विभाग में भी बिना कोई अतिरिक्त शुल्क दिए शिक्षा प्राप्त कर सकता है।
3. विदेशी छात्रों को नियमित छात्र के रूप में या अस्थाई छात्र के रूप में भी प्रवेश दिया जा सकता है।
4. ड्राइंग, पेंटिंग, मूर्तिकला, चर्म कार्य, कढ़ाई, नृत्य, संगीत आदि ललित कलाओं में तथा चीनी और जापानी भाषाओं में शान्ति निकेतन ने विशेष ख्याति प्राप्त की है। इन क्षेत्रों में शान्ति निकेतन का योगदान विशिष्ट है।
5. खुले मैदानों में या वृक्षों के नीचे प्रकृति के सान्निध्य में और स्वतंत्र वातावरण में शिक्षा दी जाती है।
6. गुरु शिष्य के आदर्श सम्बन्धों को पुन: स्थापित किया जा रहा है।
7. विश्वविद्यालय का पुस्तकालय बहुत प्रसिद्ध है जहाँ लगभग दो लाख पुस्तकों का संग्रह है।

1.3.8 उपसंहार

विश्व भारती महर्षि रवीन्द्रनाथ टैगोर के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का मूर्तमान स्वरूप है। यहाँ खुले गगन के नीचे वृक्षों व कुंजों के झुरमुटों में पृथ्वी पर बैठकर देश-विदेशों से आकर असंख्य विद्यार्थी धर्म, दर्शन, साहित्य एवं कला का उच्च अध्ययन करते हैं। प्राच्य व पाश्चात्य संस्कृतियों के सम्मिश्रण में इस संस्था ने बड़ा योग दिया है। सात्विक व सादा जीवन, प्रकृति से संपर्क, प्राचीन व आधुनिक शिक्षा पद्धतियों का एकीकरण आध्यात्मिक व भौतिक शिक्षा पर समान बल एवं सांस्कृतिक उत्थान इत्यादि इस संस्था की अपनी विशेषताएँ हैं। भारत की शिक्षा के इतिहास में यह एक नूतन व महान परीक्षण माना जाता है।

1.4 वनस्थली विद्यापीठ

स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने सच ही कहा था "वनस्थली विद्यापीठ भारत में एक अद्वितीय संस्था हैं।" राजस्थान के प्रसिद्ध सामाजिक, राजनीतिक कार्यकर्ता पण्डित हीरालालजी शास्त्री जयपुर से 45 मील दूर वनस्थली ग्राम में सन् 1929 से ग्राम सेवा का रचनात्मक कार्य कर रहे थे कि अप्रैल सन् 1935 में उनकी 12 वर्षीय एकमात्र पुत्री शान्ताबाई का एक दिन की बीमारी से अचानक देहान्त हो गया। शान्ताबाई की

हार्दिक इच्छा थी आस-पास के बच्चों के लिए एक स्कूल खोलने की। उस प्रस्तावित स्कूल के भवन के लिए उसने स्वयं अपने हाथों से ईंटें भी बनाई थीं। कुछ उसकी इच्छा की पूर्ति के विचार से और कुछ 'खोई हुई शान्ताबाई को खोजने' के विचार से 1935 में वनस्थली विद्यापीठ की स्थापना की गई।

1.4.1 वनस्थली शिक्षा की विशेषताएँ

वनस्थली की पंचमुखी शिक्षा और उसे सम्पन्न करने के लिए जो विशेष प्रवृत्तियाँ आयोजित की जाती हैं उनके आधार पर वनस्थली की शिक्षा की अग्रलिखित विशेषताएँ बताई जा सकती हैं -

1. पूर्व व पश्चिम की आध्यात्मिक विरासत और वैज्ञानिक उपलब्धियों का समन्वय,
2. सर्वांगीण प्रगतिशील शिक्षा
3. भारतीय संस्कृति और आचार-विचार पर बल,
4. व्यक्तिगत स्वतंत्रता, सामाजिक उत्तरदायित्व और मर्यादा पालन में संतुलन,
5. सादा जीवन,
6. आदतन खादी पहनना,
7. अपने निजी तथा घरेलू कार्य स्वयं करने पर आग्रह, और
8. छात्रावासों में बिना किसी भेदभाव के सामूहिक जीवन।

1.4.2 विद्यापीठ शिक्षा का अखिल भारतीय केन्द्र

विभिन्न वर्गो और जातियों की लड़कियाँ भारत के प्राय: सभी राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों तथा नेपाल, भूटान, श्रीलंका, कम्बोडिया, केनिया, कुवेत, थाईलैण्ड, तंजानिया, जापान, जर्मनी, यू.एस.ए. आदि कुछ दूसरे देशों से भी यहाँ शिक्षा प्राप्त करने के लिए आती है। विद्यापीठ में तिब्बत की कुछ छात्राएँ हैं। इस प्रकार विद्यापीठ शिक्षा का अखिल भारतीय केन्द्र तो है ही, अन्तर राष्ट्रीय केन्द्र के रूप में भी इसका उदय हो रहा है। इसी दृष्टि से विशेष शिक्षाक्रम में प्रवेश लेने वाली विभिन्न देशों की छात्राओं के लिए वनस्थली विद्यापीठ में 'शान्ता विश्वनीडम्' नाम से एक अन्तर-राष्ट्रीय भवन का निर्माण किया गया है। मुख्यतया विदेशी छात्राओं के लिए जिन पाठ्यक्रमों का आयोजन किया जाता है वे इस प्रकार हैं -

1. गाँधी विचार और व्यवहार,
2. भारतीय चित्रकला,
3. भारतीय संगीत,
4. भारतीय नृत्य, और
5. भारतीय भाषाएँ। इन शिक्षाक्रमों की अवधि एक वर्ष है।

1.4.3 वनस्थली की पंचमुखी शिक्षा

यह सर्वांगीण शिक्षा देने की दृष्टि से एक विशिष्ट शिक्षा योजना है। वनस्थली की पंचमुखी शिक्षा के पाँच अंग हैं - शारीरिक, व्यावहारिक (गृहस्थ शिक्षा, श्रम कार्य और उद्योग), ललितकला विषयक, नैतिक और बौद्धिक। विद्यापीठ में विभिन्न स्तर के शिक्षाक्रम में इन पाँचों अंगों का समावेश किया गया है।

शारीरिक शिक्षा - इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की ड्रिलें (जैसे लाठी, लेजिम, गदका, डम्बल्स जोड़ी, तलवार, भाला, सैनिक कवायद, बाल कवायद आदि) नाना प्रकार के आधुनिक और पुराने खेल व स्पोर्टस (जैसे कबड्डी, खो-खो, हॉकी, बास्केट बॉल, वॉलीबॉल, बैडमिण्टन, थो-बॉल, हैण्ड-बॉल, डीज-बॉल, लाँग-जम्प, हाई-जम्प) तथा साईकिल सवारी, घुड़ सवारी तथा तैरना सिखाने की यथासंभव व्यवस्था की जाती है। यौगिक आसनों को सिखाने का भी प्रबन्ध है। विभिन्न स्तर पर छात्राओं के लिए एन.सी.सी. की शाखाएँ भी चलती है। छात्राओं को बन्दूक चलाना भी सिखाया जाता है। विद्यापीठ के ग्लाइडिंग लाइंग क्लब की स्थापना छात्राओं को ग्लाइडिंग व लाशा का प्रशिक्षण देने की दृष्टि से की गई है। शारीरिक उच्च शिक्षा हेतु यहां डिग्री प्रदान की जाती है।

व्यावहारिक शिक्षा - इसके अन्तर्गत घर-गृहस्थी के काम जिसमें भोजन बनाने तथा दूसरे सम्बन्धित काम जैसे - पापड़, मंगोड़ी, बिस्कुट बनाने आदि का समावेश हो जाता है, कातना, रंगाई, छपाई (सांगानेरी), बत्तिक का काम, सोना और कशीदा करना; दर्जी का काम; खिलौना बनाना; जिल्दसाजी करना; पेपरमेशी का काम; क्ले मॉडलिंग, चमड़े के पर्स; पोर्ट फोलियो आदि चीजें बनाना; तेल, साबुन, पाउडर और वेसलीन बनाना तथा बर्तनों पर कलई करना शामिल है। इन कार्यो में से कुछ काम बराबर चलते हैं और कुछ सुविधानुसार चलाए जाते है। सभी छात्राएँ अपने कमरों की सफाई और अपने बर्तन स्वयं साफ करती हैं और एक हद तक अपने कपड़े भी स्वयं धोती है। पिछले कुछ वर्षों से सामूहिक श्रम-कार्य की योजना भी चल रही है।

कला शिक्षा - विभिन्न स्तर पर संगीत (गायन एवं वृन्द वादन) और चित्रकला दोनों में से किसी एक की शिक्षा छात्राओं को मिल सके इसकी व्यवस्था विद्यापीठ के शिक्षाक्रम में की गई है। शेष कक्षाओं मैं जिन छात्राओं के परीक्षा विषयों में संगीत और चित्रकला का समावेश नहीं होता उनके लिए इन विषयों के सीखने की विशेष व्यवस्था है। नृत्य शिक्षा (कत्थक, मणिपुर व भरतनाट्यम) शिक्षा की व्यवस्था भी है। विभिन्न कलाओं के लिये प्रशिक्षण एवं डिग्रीयाँ प्रदान की जाती है। चित्रकला एवं संगीत में हाई स्कूल परीक्षा पास करने पर इन पाठ्यक्रमों में प्रवेश दिया जाता है।

नैतिक शिक्षा - छात्राओं के नैतिक व्यक्तित्व का विकास करना तथा उनमें सर्वधर्म समभाव पैदा करना नैतिक शिक्षा का लक्ष्य है। यह शिक्षा उपदेशात्मक ढंग से नहीं दी जाती। सर्वधर्म समन्वय की दृष्टि को ध्यान में रखते हुए विद्यापीठ और छात्रावास में होने वाली सामूहिक प्रार्थनाएँ, साप्ताहिक बातचीत और वेद, गीता, रामायण तथा दूसरे धर्म-ग्रन्थों आदि का पाठ, छात्र-पंचायतें, छात्रावास का बिना किसी भेदभाव के सामूहिक और सम्मिलित जीवन और वातावरण की स्वच्छता विद्यापीठ की नैतिक शिक्षा के प्रमुख साधन है। इस दृष्टि से विद्यापीठ की सामूहिक सायंकालीन प्रार्थना और प्रार्थना के बाद होने वाले प्रवचन विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

बौद्धिक शिक्षा - छात्राओं के विकास के साथ-साथ इस बात का ध्यान रखा जाता है कि आज की प्रचलित शिक्षा प्रणाली के दोषों से यहाँ की शिक्षा यथासंभव मुक्त रहे। प्राकृतिक तथा

सामाजिक ज्ञान की शिक्षा प्रारम्भ से ही दी जाती है। इतिहास में विश्व इतिहास की शिक्षा को भी आवश्यक स्थान दिया गया है। अंग्रेजी का अध्ययन कक्षा 6 से प्रारम्भ होता है। शिक्षण पद्धति में सामाजिक और प्राकृतिक वातावरण, भ्रमण और यात्रा, पर्व-समारोहों और नाटक चुने हुए विषयों पर तैयार की जाने वाली प्रायोजनाओं, चित्रों, चार्टों और नक्शों का यथावश्यक उपयोग किया जाता है। शिक्षा का एकमात्र लक्ष्य परीक्षाएँ पास करना न बने और शिक्षा व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित हो, इसका भी ख्याल रखा जाता है। परीक्षा पद्धति में छात्राओं के दैनिक कार्य से किए जाने वाले मूल्यांकन को भी स्थान दिया गया है।

1.4.4 वनस्थली के विभिन्न विभाग

1. प्राथमिक विद्यालय - (बाल मन्दिर तथा कक्षा 1 से 5 तक) - इस विद्यालय में विद्यापीठ का अपना स्वतंत्र शिक्षाक्रम है।
2. उच्च माध्यमिक विद्यालय - (कक्षा 6 से 11 तक) - इस विद्यालय में कक्षा 6 से 8 तक का अपना स्वतंत्र शिक्षाक्रम हैं। कक्षा 10वीं एवं 12वीं में वनस्थली विद्यापीठ का स्वतंत्र बोर्ड है। इस स्तर पर कला, विज्ञान तथा गृह विज्ञान इन तीन वर्गो के अध्ययन की व्यवस्था है। अब पाठ्यक्रम एवं परीक्षाएँ एवं प्रमाण पत्र सभी वनस्थली बोर्ड के हैं। विद्यापीठ का उच्च माध्यमिक विद्यालय न केवल राजस्थान का बल्कि भारत का सबसे पहला 'गर्ल्स ऑटोनॉमस स्कूल' है। बालिकाओं के अतिरिक्त विद्यालय स्तर पर बालकों के लिये भी अलग विद्यालय की व्यवस्था है। जहां कक्षा 12वीं तक अध्ययन संभव है।
3. ज्ञान-विज्ञान महाविद्यालय - इनमें पी.यू.सी., बी.ए., बी.एस-सी., एम.ए. (दस विषयों में), एम.एस-सी. (केवल रसायन शास्त्र में), पोस्ट एम.ए. डिप्लोमा इन लिंग्विस्टिक्स के अतिरिक्त हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, इतिहास, संगीत और भाषा विज्ञान में अनुसंधान की भी सुविधा उपलब्ध है। विदेशी भाषाओं में राजस्थान विश्वविद्यालय के जर्मन तथा फ्रेंच के सर्टिफिकेट एवं डिप्लोमा परीक्षाओं के शिक्षाक्रमों की व्यवस्था है। ये पाठ्यक्रम अपने सामान्य पाठ्यक्रम के साथ-साथ लिए जाते हैं।
4. शिक्षा महाविद्यालय - बी.एड. और एम.एड. के पाठ्यक्रम के अतिरिक्त पी.एच.डी. के अनुसंधान के लिए भी मान्यता प्राप्त है।
5. वेद विद्यालय - विद्यालय का मूल उद्देश्य वेद के अध्ययन, अध्यापन की व्यवस्था करना है, साथ ही यह विद्यालय राजस्थान माध्यमिक शिक्षा बोर्ड से संस्कृत की परीक्षाओं के लिए सम्बन्धित है। वर्तमान में संस्कृत, ऋग्वेद, यजुर्वेद व सामवेद के अध्ययन के लिए प्रारम्भिक व उच्चस्तरीय कक्षाएँ चलाई जाती है। और तदनुसार बोर्ड की 'प्रवेशिका' और 'मध्यमा' (उपाध्याय) परीक्षाओं के लिए यहाँ व्यवस्था है।

उपसंहार - आज वनस्थली में लगभग 10000 छात्राएँ विभिन्न विभागों में शिक्षा प्राप्त कर रही हैं जो प्राय: भारत के विभिन्न राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों से आई हैं, विभिन्न भाषाएँ बोलने वाली हैं, विभिन्न जातियों की हैं, विभिन्न वर्गो की हैं, विभिन्न धर्मो की हैं।

वनस्थली का वातावरण स्वतंत्रता का वातावरण है। छात्राओं को अधिकतम स्वतन्त्रता दी जाती है और उनके व्यक्तित्व के निर्माण का प्रयास किया जाता है। जो छात्रा दो-चार वर्ष वनस्थली में पढ़ लेती है उसके व्यक्तित्व मे वनस्थली की झलक देखी जा सकती है। वनस्थली

के विशाल पुस्तकालय में लगभग 77000 पुस्तकें हैं जिनमें उच्चकोटि के अनेक दुर्लभ ग्रन्थ भी हैं। लगभग 750 पत्रिकाएँ नियमित रूप से आती हैं जिनमें उच्च स्तर की विदेशी पत्रिकाएँ भी हैं। वनस्थली की शिक्षा का स्तर निःसन्देह ऊँचा है। क्षेत्रीय स्तर पर, राज्य के स्तर पर, तथा राष्ट्रीय स्तर पर भी वनस्थली की छात्राएँ खेलकूद के विभिन्न कार्यक्रमों में पुरस्कृत होती है। घुड़सवारी के प्रशिक्षण की यहाँ जो व्यवस्था है वह यही का एक विशिष्ट और सराहनीय पक्ष है। लगभग प्रतिवर्ष ही राजस्थान माध्यमिक शिक्षा बोर्ड तथा राजस्थान विश्वविद्यालय की मेरिट लिस्ट में यहाँ की छात्राएँ भी स्थान पाती हैं। वनस्थली का उच्च माध्यमिक विद्यालय देश का प्रथम 'गर्ल्स ऑटोनॉमस स्कूल' है। भारत में वनस्थली विद्यापीठ स्त्री-शिक्षा की प्रथम संस्था है जहाँ एन.सी.सी. की लाइंग विंग स्थापित की गई।

गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद स्थापना - गुजरात विद्यापीठ की स्थापना अहमदाबाद (गुजरात) में 18 अक्टूबर सन् 1920 को स्वयं महात्मा गांधी ने की थी। इसका प्रारम्भ राष्ट्रीय विद्यापीठ (विश्वविद्यालय शिक्षा के राष्ट्रीय संस्थान) के रूप में हुआ था। असहयोग आन्दोलन के जमाने में जो अन्य विद्यापीठ स्थापित किए गए - यह उनमें सबसे पहला था। महात्मा गांधी ही आजीवन इसके कुलपति रहे। उनके पश्चात् डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद आजीवन कुलपति रहे। अब श्री मोरारजी देसाई इसके कुलपति हैं सन् 1930 से लेकर सन् 35 तक विद्यापीठ का अध्ययनाध्यापन कार्य स्थगित रहा क्योंकि सभी अध्यापकों तथा छात्रों ने स्वाधीनता संग्राम में सक्रिय भाग लिया। इसी प्रकार सन् 1942 से 45 तक भी 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में भाग लेने के लिए विद्यापीठ का शिक्षण कार्य स्थगित कर दिया गया था। सन् 1945 के बाद से विद्यापीठ लगातार कार्य कर रहा है। 27 जुलाई, 1963 से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने विद्यापीठ को विश्वविद्यालय के समकक्ष घोषित कर दिया है।

उद्देश्य

1. विद्यापीठ का मुख्य उद्देश्य है महात्मा गाँधी के आदर्शों के अनुरूप देश के पुनरुद्धार से सम्बद्ध आन्दोलनों को चलाने के उपयुक्त चरित्र, योग्यता, शिक्षा और कर्तव्यनिष्ठा से युक्त कार्यकर्ता तैयार करना।
2. विद्यापीठ के अध्यापक और ट्रस्टी केवल उन साधनों का उपयोग करें जो सत्य और अहिंसा के आदर्श के अनुरूप हों।
3. अस्पृश्यता हिन्दू जाति का एक कलंक है। विद्यापीठ से सम्बद्ध सभी लोग इसे दूर करने का भरसक प्रयत्न करें।
4. हाथ से सूत कातना राष्ट्रीय पुनर्जागरण आन्दोलन का एक प्रमुख अंग है, अत: विद्यापीठ से सम्बद्ध सभी लोग नियमित रूप से सूत कातें तथा आदतन खादी पहनें।
5. विद्यापीठ की समस्त शिक्षा में मातृभाषा का प्रमुख स्थान हो और वही शिक्षा का माध्यम भी हो।
6. विद्यापीठ के पाठ्यक्रम में राष्ट्र भाषा हिन्दी (हिन्दुस्तानी) का अध्ययन अनिवार्य हो।
7. औद्योगिक शिक्षा भी बौद्धिक शिक्षा के समान ही महत्वपूर्ण है, अत: उद्योगों की भी शिक्षा दी जाए।

8. भारत का विकास शहरों पर नहीं, गांवों पर निर्भर करता है। अत: ग्रामों में राष्ट्रपोषक शिक्षा के प्रसार पर विद्यापीठ का अधिकांश धन और शक्ति लगनी चाहिए।
9. शिक्षा की प्राथमिकताओं का निर्धारण करने में ग्रामीणों की आवश्यकताओं का विशेष ध्यान रखा जाए।
10. विद्यापीठ की सभी संस्थाओं में सभी धर्मो के प्रति सहिष्णुता रखी जल।
11. शारीरिक विकास के लिए विद्यापीठ की सभी संस्थाओं में शरीर शिक्षा अनिवार्य हो।

गुजरात विद्यापीठ के विभाग

1. विद्यालय शिक्षा - इसके अन्तर्गत नर्सरी शिक्षा तथा 11 वर्षीय प्राथमिक माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था है, जो नर्सरी स्कूल, बेसिक प्राइमरी स्कूल तथा पोस्ट बेसिक हाई स्कूल में विभक्त है। इसमें हाथ से कताई हाथ से बुनाई मुख्य तथा सिलाई गौण शिल्प है।

   जो विद्यार्थी प्राथमिक शिक्षा की अन्तिम परीक्षा (कक्षा 7) उत्तीर्ण करने के बाद हाई स्कूल में नहीं जाना चाहते उनके लिए 'विनीत' (मैट्रिक के समकक्ष) पाठ्यक्रम की व्यवस्था है। इस शिक्षा द्वारा मुख्य रूप से ग्रामीण तथा आदिवासी क्षेत्रों के प्राईमरी स्कूलों के लिए अध्यापक तैयार किए जाते हैं।
2. उच्च शिक्षा विभाग - इसके अन्तर्गत महादेव देसाई समाज सेवा महाविद्यालय चल रहा है। यह सावासी महाविद्यालय है। 'विनीत' परीक्षा या उसके समकक्ष उत्तीर्ण परीक्षा के आधार पर इस महाविद्यालय में प्रवेश लिया जा सकता है। तीन वर्षीय स्नातक पाठ्यक्रम पूरा करने पर 'समाज विद्या विशारद' (बैचलर ऑन सोशल साइन्सेज) की उपाधि मिलती है।

सावासी सामुदायिक जीवन तथा प्रतिदिन कम से कम ढाई घण्टे का कृषि, काष्ठ-कला तथा हाथ की कताई-बुनाई का शिल्प इस कार्यक्रम का आवश्यक भाग है। अध्यापकों के मार्गदर्शन में विद्यार्थी ही अपने से सम्बद्ध समस्त कार्यो का प्रबन्ध करते हैं। एक वर्ष तक दो घण्टे प्रतिदिन वास्तविक फील्ड कार्य करके, तथा 100 दिन ग्रामीण संस्थाओं में रहकर वे विभिन्न प्रकार के सामाजिक कार्य करने का वास्तविक प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। फील्ड कार्य करके किसी सामाजिक आर्थिक समस्या पर लघु शोध प्रबन्ध भी लिखना होता है। प्रातःकाल 5 बजे से लेकर रात्रि 10 बजे तक विभिन्न कार्यो में विद्यार्थी व्यस्त रहते हैं जिसमें सामूहिक प्रार्थना, सामूहिक सफाई, भोजन तैयार करना भी शामिल है।

समाज-विज्ञान की स्नातकोत्तर उपाधि है समाज विद्या पारंगत, जो किसी सामाजिक-आर्थिक समस्या पर किसी निरीक्षक के निर्देशन में शोध प्रबन्ध लिखने पर दी जाती है। नियमित छात्रों के लिए 'पारंगत' उपाधि (मास्टर्स डिग्री) की व्यवस्था ग्रामीण अर्थशास्त्र, सामाजिक नेतृत्व शास्त्र, गुजराती, हिन्दी तथा सामाजिक कार्य आदि विषयों में है। सामाजिक कार्य में गहन प्रशिक्षण की भी व्यवस्था है जिसे पूरा करने पर समाज कार्य पारंगत की उपाधि मिली है। इसके अतिरिक्त, दर्शन तथा तुलनात्मक धर्म (गांधी दर्शन में विशेषीकरण सहित) के

लिए भी मास्टर्स डिग्री कोर्स की व्यवस्था है। गुजराती, संस्कृत, हिन्दी, ग्रामीण अर्थशास्त्र, इतिहास और संस्कृति, शान्ति अनुसन्धान में पी.एच.डी. करने की भी सुविधा है।

इस महाविद्यालय में हॉबी वर्कशॉप भी है जिसमें संगीत, लकड़ी का काम, पॉटरी, टाइप करना तथा जिल्दसाजी की व्यवस्था है। विद्यापीठ के एक हजार से भी अधिक स्नातक गुजरात के गाँवों में ग्राम सुधार का कार्य कर रहे हैं। यूनेस्को तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सहायता से शान्ति और अहिंसा की समस्याओं का अध्ययन करने तथा उन पर शोध करने के लिए एक 'शान्ति शोध केन्द्र' की भी स्थापना की गई है।

3. अध्यापक शिक्षा विभाग - शिक्षा संकाय के अन्तर्गत कई कार्यक्रम चल रहे हैं। इनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित है -
   (1) शिल्प शिक्षण प्रशिक्षण संस्थान - यह एक वर्षीय पाठ्यक्रम द्वारा प्राथमिक तथा माध्यमिक विद्यालयों के लिए शिल्प शिक्षक तैयार करता है। पिछले कुछ समय से यह संस्थान बन्द है। इसे नए रूप में शीघ्र ही प्रारम्भ करने की योजना है।
   (2) हिन्दी शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय - अहिन्दी भाषी विद्यार्थियों को हिन्दी सिखाने का प्रशिक्षण देने वाला गुजरात का यह एक मात्र महाविद्यालय है। इसमें दो प्रकार के कोर्स हैं। एक मैट्रिक पास विद्यार्थियों के लिए और दूसरा स्नातकों के लिए।
   (3) शिक्षण महाविद्यालय - इस महाविद्यालय में विभिन्न भाषाओं, सामाजिक अध्ययन, विज्ञान, गणित आदि विभिन्न विषयों के अध्यापकों को शिक्षा देने की व्यवस्था है। प्रत्येक प्रशिक्षणार्थी को उत्पादक शिल्प की शिक्षा दी जाती है। ग्रामों में स्थानबद्ध शिक्षण (ब्लॉक टीचिंग) की व्यवस्था इसकी एक विशेषता है। पाठ्यक्रम में बेसिक शिक्षा का दर्शन तथा गाँधी दर्शन का भी विशेष कोर्स है।
   (4) शिक्षण पारंगत - यह शिक्षा में स्नातकोत्तर उपाधि है। आदिम जाति के लोगों की शिक्षा और उससे सम्बद्ध समस्याओं पर कार्य करने का प्रावधान इसकी एक विशेषता है।
   (5) बेसिक एजूकेशन साइंस इंस्टीट्यूट - यह एक विशेष प्रकार का संस्थान है जिसका उद्देश्य बेसिक शिक्षा के संदर्भ में 'विज्ञान का जीवन में समवाय' - इस विषय पर अध्ययन करना है। यह संस्थान 'विज्ञान सेतु' नामक एक पत्रिका भी प्रकाशित करता है।

इनके अतिरिक्त प्रसार सेवा विभाग, सातत्य शिक्षा विभाग आदि भी हैं।

4. ट्राइबल रिसर्च एण्ड ट्रेनिंग इंस्टीट्यूट - इस संस्थान में आदिम जातियों की संस्कृति का अध्ययन किया जाता है। इसके लिए एक संग्रहालय भी है जिसमें चित्र, आभूषण, मकान के नमूने, संगीत के वाद्य यंत्र आदि भी है।
5. हिन्दी भवन - विद्यापीठ का यह विभाग संपर्क भाषा के रूप में हिन्दी के प्रचार-प्रसार का कार्य कर रहा है। इसके लिए इसने हिन्दी की परीक्षाओं की व्यवस्था की है, हिन्दी अध्यापकों को प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की है, हिन्दी पुस्तकों का प्रकाशन किया है, गुजराती हिन्दी, हिन्दी-गुजराती जैसे शब्द कोश तथा प्राइमरी स्कूलों के लिए हिन्दी पुस्तकें तैयार की हैं। अन्य भारतीय भाषाओं के अध्ययन की भी व्यवस्था है।

6. गुजरात विद्यापीठ ग्रन्थालय - विद्यापीठ के ग्रन्थालय में एक दर्जन से भी अधिक भाषाओं की लगभग पौने दो लाख पुस्तकें हैं। गाँधीजी के विचारों पर एक पृथक विभाग ही है। विभिन्न भाषाओं की लगभग 500 पत्रिकाएं आती हैं।

विशेषताएँ

1. ग्रामोद्योग और ग्रामोन्नति के लिए समाज सेवक - विद्यापीठ के कुल सचिव श्री विनोद त्रिपाठी ने अपने एक पत्र में मुझे लिखा कि विद्यापीठ के शिक्षण की विशेषता ग्रामोद्योग और आमोन्नति के लिए समाज सेवक तैयार करना है और राष्ट्र पोषक केलवाणी द्वारा समाज सेवा कार्य का विकास करना है। इसके लिए विद्यापीठ ग्राम विस्तारों में अपने पाँच केन्द्र चला रहा है।
2. सामुदायिक जीवन - विद्यापीठ के जीवन की एक विशेषता है सामुदायिक जीवन का अनुभव प्रदान करना जिसमें सामूहिक प्रार्थना से लेकर शौचालय तक की सफाई स्वयं करना शामिल है।
3. शिक्षा का माध्यम-मातृभाषा - विद्यापीठ में प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर स्नातकोत्तर तक हर प्रकार की शिक्षा का माध्यम मातृभाषा गुजराती है। गैर-गुजराती भाषी अध्यापकों या विद्यार्थियों के लिए यह छूट है कि वे हिन्दी में पढ़ा सकते हैं या उत्तर दे सकते है। उन्हें गुजराती सिखाने की भी आवश्यकता है।
4. परीक्षा पद्धति - विद्यापीठ में वार्षिक परीक्षा के स्थान पर साप्ताहिक टेस्ट होते हैं जिनके आधार पर विद्यार्थियों को कक्षोन्नत किया जाता है। उच्च शिक्षा में 60 प्रतिशत मूल्यांकन साप्ताहिक असाइनमेंट, सेमीनार, लाइब्रेरी कार्य आदि के आधार पर होता है। विद्यापीठ की पाठ्यचर्या के सभी पक्षों का मूल्यांकन किया जाता है।
5. उत्पादन कार्य में सम्भाग - स्नातक स्तर तक सभी पाठ्यक्रमों में तथा अध्यापक शिक्षा में दो घण्टे प्रतिदिन उत्पादक कार्य में सभी छात्र भाग लेते हैं। इस प्रकार उन सभी में श्रमक प्रति गरिमा का भाव विकसित होता है।
6. अधिक कार्य दिवस - विद्यापीठ में वर्ष में लगभग 240 दिन कार्य होता है और सुनियोजित कार्यक्रम के आधार पर विद्यार्थी प्रतिदिन कम से कम सात घण्टे कठोर श्रम करते हैं।
7. अन्य विशेषताएँ - दैनिक प्रार्थना में भाग लेना, आदतन खादी पहनना, सूत कातना, मादक द्रव्यों का सेवन न करना, सामाजिक समस्याओं में शोध करना आदि विशेषताएँ हैं।

1.4.5 उपसंहार

हम जानते है कि भारत की 89 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में निवास करती है, पर हमारी विकास योजनाओं में गाँव ही हमारी उपेक्षा के शिकार हुए है। महात्मा गाँधी कहा करते थे कि भारत का उद्धार तभी होगा जब गाँवों का उद्धार होगा। गुजरात विद्यापीठ देश की इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए प्रयत्नशील है। इसके लिए हम उसका स्वागत करते हैं, अभिनन्दन करते हैं। गाँवों का विकास करने के लिए किस प्रकार कार्य करने की आवश्यकता है - इसका क्रियात्मक अनुभव देने वाली यह अपने ढंग की अद्वितीय संस्था है। देश को अभी इस प्रकार की संस्थाओं की बहुत आवश्यकता है।

1.5 काशी विद्यापीठ

1.5.1 स्थापना

काशी विद्यापीठ की स्थापना पूज्य महात्मा गांधी के कर कमलों से 10 फरवरी, बसन्त पंचमी सन् 1921 को भदैनी, वाराणसी में हुई। देशरत्न श्री शिवप्रसाद जी गुप्ता ने भूमि दी और दस लाख रूपये देकर श्री हर प्रसाद शिक्षा निधि की स्थापना की।

1.5.2 उद्देश्य

असहयोग आन्दोलन के दौरान स्थापित अन्य विद्यापीठों के समान काशी विद्यापीठ के भी मुख्य उद्देश्य थे - (क) छात्रों में राष्ट्रीय भावना जाग्रत करना, (ख) उन्हें स्वावलम्बी बनाना, (ग) हिन्दी भाषा का विकास करना (ङ) सहयोग एवं सेवा की भावना लाना आदि।

1.5.3 पाठ्यक्रम

प्रारम्भ में यहाँ शास्त्री में हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, दर्शन, इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषय पढ़ाए जाते थे। शास्त्री का पाठ्यक्रम एम.ए. के स्तर का था। इस समय शास्त्री में उल्लेखित विषयों के अतिरिक्त राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान और समाज सेवा विषय भी वैकल्पिक विषयों के अतिरिक्त राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान और समाज सेवा विषय भी वैकल्पिक रूप में निर्धारित हैं। शास्त्री के अतिरिक्त इस समय वहां एम.ए., एम.एस.सी., पी-एच.डी, डी.लिट्. कोर्स चल रहे हैं। शास्त्री के लिए जितने विषय निर्धारित हैं उन सभी मैं एम.ए. करने की भी सुविधा है। शास्त्री कक्षा में सामान्य भाषा के रूप में संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, रूसी, उर्दू और पाली भाषाओं का अध्यापन होता है। इसी सत्र से तमिल भाषा का भी अध्यापन प्रारम्भ हुआ है। समाज सेवा विभाग के अन्तर्गत बाल विद्यालय भी चल रहा है।

1.5.4 विशेषताएँ

विद्यापीठ में अध्ययन-अध्यापन का माध्यम हिन्दी है। यदि कोई छात्र अंग्रेजी माध्यम से परीक्षा देना चाहे तो उसे इसके लिए कुलपति से विशेष अनुमति प्राप्त करनी होती है। यहाँ की शिक्षा की एक अन्य प्रमुख विशेषता यह है कि यही छात्रों के अन्दर नेतृत्व एवं प्रशासकीय शक्ति का विकास सम्यक् रूप से करने का प्रयास किया जाता है। इसीलिए आज विद्यापीठ के छात्र लोकसभा, विधान सभा, औद्योगिक प्रतिष्ठान आदि में विद्यमान हैं।

1.6 गांधी विद्या मंदिर, सरदारशहर

1.6.1 स्थापना एवं उद्देश्य

इस संस्था की स्थापना सन् 1953 में राजस्थान के एक दानी और शिक्षाप्रेमी व्यक्ति श्री कन्हैयालाल दूगड़ ने की थी। इस संस्था की स्थापना की प्रेरणा उन्हें महात्मा गांधी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों से मिली। महात्मा गांधी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य था - 'बालक और मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा का उत्तमोत्तम विकास करना। इन्हीं विचारों के अनुरूप गांधी विद्या मन्दिर में शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से विकसित चरित्रवान नागरिक तैयार करने का लक्ष्य रखा गया है। इसी दृष्टि से यहां एक ओर शारीरिक विकास के लिए व्यायाम,

श्रमदान, स्वास्थ्य शिक्षा, आदि की व्यवस्था है, दूसरी ओर पूर्व प्राथमिक से लेकर स्नातकोत्तर व शोध स्तर की शिक्षा प्रदान की जाती है। इसके अतिरिक्त गांधीजी की प्रार्थना पद्धति के आधार पर सब धर्मों की मिश्रित प्रार्थनाओं को लेकर ईश्वर प्रार्थना व सत्संग का नियमित कार्यक्रम चलता है। यहां शिक्षा संस्था के भवनों तथा विद्यार्थियों और शिक्षकों के निवास स्थलों ने मिलकर एक छोटे नगर का रूप धारण कर लिया है।

1.6.2 गांधी विद्या मन्दिर के विभाग

इस समय इस संस्था के अधीन निम्नलिखित विभाग चल रहे हैं - (1) बालबाड़ी (2) बुनियादी विद्यालय (जूनियर व सीनियर बेसिक), (3) मीरा निकेतन, (4) महिला विद्यापीठ, (5) दूगड़ डिग्री कॉलेज, (6) बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय, (7) आयुर्वेद महाविद्यालय, (8) रसायन शाला, (9) ग्रामसेवा विभाग।

1.6.3 गांधी विद्या मन्दिर की विशेषताएँ

गांधी विद्या मन्दिर संस्था अभी भी बापू की बुनियादी शिक्षा पद्धति के सिद्धान्तों पर अटल विश्वास रखकर अग्रसर हो रही है। एक ओर वर्तमान पाठ्य-विषयों, पाठ्य-पुस्तकों तथा शिक्षा-विधियों को लेकर चलना, जो विश्वविद्यालय या माध्यमिक बोर्ड द्वारा स्वीकृत हैं, दूसरी ओर जीवन के प्राचीन आदर्शो व बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों को अपनी दिनचर्या व जीवनचर्या में शामिल करना इसकी विशेषता है। श्रमदान व उत्पादन, अपने काम स्वत: करना, जैसे कमरों की स्वच्छता, कपड़ों का धोना, बर्तन मांजना आदि दोनों समय ईश्वर प्रार्थना, गुरु-सम्मान, सूत कातना और खादी पहनना, सदाचार व शिष्टाचार पूर्ण जीवन यहाँ के जीवन अंग बन गए हैं। यह एक सावास शिक्षा संस्था है, जहाँ शिक्षक और शिक्षार्थी एक स्थान पर रहते हैं और प्राचीन व अर्वाचीन, पूर्वीय तथा पाश्चात्य संस्कृति के समन्वय पर आधारित बुनियादी शिक्षा पद्धति के आदर्शो व लक्ष्यों को सामने रखकर शिक्षा कार्य में अग्रसर है।

1.7 मूल्यांकन प्रश्न

1. अरविन्द का शैक्षिक दर्शन का वर्णन कीजिए।
2. शान्ति निकेतन की स्थापना, उद्देश्य और विशेषताओं की व्याख्या कीजिए।
3. वनस्थली विद्यापीठ 'पंचमुखी' शिक्षा की चर्चा कीजिए।

1.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. सक्सेना, एन.आर. स्वरूप, शिक्षा के दार्शनिक एवं समाज शास्त्रीय सिद्धान्त, आर. लाल बुक डिपो, मेरठ, 2005
2. शरतेन्दु, सत्य नारायण दूबे 'शिक्षा की नवीन दार्शनिक पृष्ठभूमि, अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, 2009
3. शर्मा, डी.एल., उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षा, आर.लाल बुक डिपो, मेरठ
4. अग्निहोत्री, रवीन्द्र, भारतीय शिक्षा की वर्तमान समस्याएं रिसर्च पब्लिकेशन्स इन सोशल साइंसेज, दरियागंज, नई दिल्ली
5. तोमर एवं लाल "विश्व के श्रेष्ठ शैक्षिक चिन्तक" आर.लाल बुक डिपो, मेरठ-2004

इकाई - 2

शिक्षा का भारतीयकरण

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 भारतीयकरण का अर्थ व परिभाषाएँ

2.3 भारतीयकरण व आधुनिकीकरण

2.4 शिक्षा के द्वारा भारतीयकरण हेतु किये गये प्रयास

2.5 विभिन्न शिक्षा आयोगों द्वारा भारतीयकरण हेतु किये गये प्रयास

2.6 राष्ट्रीय शिक्षा नीति

2.7 भारतीयकरण के मार्ग में आने वाली बाधाएँ

2.8 भारतीयकरण के लिये शिक्षा में परिवर्तन

2.9 मूल्यांकन प्रश्न

2.10 सारांश

2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.0 उद्देश्य

इस अध्ययन के पश्चात आप -

- भारतीयकरण का अर्थ व परिभाषाएँ स्पष्ट कर सकेंगे।
- भारतीयकरण व आधुनिकीकरण में अन्तर समझ सकेंगे।
- शिक्षा के द्वारा भारतीयकरण के लिये किये गये प्रयासों को समझ सकेंगे।
- छात्र भारतीयकरण हेतु विभिन्न आयोगों के द्वारा किये गये प्रयास समझ सकेंगे।
- राष्ट्रीय शिक्षा नीति द्वारा किये गये प्रयासों को जान सकेंगे।
- छात्र भारतीयकरण के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने का प्रयास करेंगे।
- भारतीयकरण हेतु शिक्षा में किये गये परिवर्तनों को सूचीबद्ध कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

भारतीयकरण का शाब्दिक अर्थ है भारतीय कर देना। अर्थात् शब्द से ही लग रहा है कि उस वस्तु को जो भारतीय जैसा नहीं है, उसे भारतीय बनाया जाये। यह कोई संस्कृति हो सकती है, समाज की कोई संस्था हो सकती है, जैसे - शिक्षा, परिवार अथवा व्यक्ति के समूह भी हो सकते हो। जब इनमें से कोई भी भारतीय संस्कृति अथवा परिस्थिति के अनुसार नहीं होता उसे भारतीय परिस्थिति के अनुकूल बनाना ही भारतीयकरण है। पं. जवाहर लाल नेहरू का कथन है, "भारत पर विदेशी आक्रमणों से सम्बद्ध संघर्ष लगातार काफी लम्बे समय तक चला है, किन्तु इस संघर्ष के साथ-साथ भारतीयकरण की प्रक्रिया भी चलती रही जिसकी परिणति आक्रमणकारियों द्वारा भारतीय बनने से हुई थी।" महर्षि अरविन्द, महर्षि दयानन्द सरस्वती,

गोपाल कृष्ण गोखले, राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द आदि द्वारा समय समय पर भारतीयकरण की आवाज बुलन्द की जाती रही है और शिक्षा के भारतीयकरण की मांग की जाती रही है।

भारतीयकरण अत्यन्त व्यापक है। यह किसी एक धर्म, एक सम्प्रदाय, एक वर्ग, वर्ण या समुदाय पर आधारित नहीं है। 'भारत' एक देश का नाम है। भारत में निवास कर रहे सभी व्यक्ति भारतीय हो। इस कारण यहां के सभी निवासियों के धर्म, पंथ, विचारधारा तथा भाषा को समन्वित किये जाने का नाम है 'भारतीयकरण' या यह भी कहा जा सकता है कि ये सब भारतीयकरण के अन्तर्गत हो। 'भारतीयकरण' से एक ध्वनि यह भी निकलती है – "भारतीय, जिन्हें भारत से प्रेम है, जो भारत के लिये समर्पित हो तथा जिनमें भारत के प्रति निष्ठा है।"

भारत राष्ट्र सनातन है। प्रगति-अवनति, सुख-दुःख, अनेक आक्रान्ताओं द्वारा विनाशलीला के बावजूद भारत एक राष्ट्र के रूप में विद्यमान रहा। भौगोलिक सीमाओं की भिन्नताएँ होते हुए भी सम्पूर्ण राष्ट्र की सांस्कृतिक सीमा और सांस्कृतिक जीवन मूल एक रहे। यही कारण रहा कि भारत में अनेक भाषाएँ, अनेक विचारधाराएँ, रहन-सहन, रूचियां, परम्पराएँ, अनेक वर्ण और वर्ग होते हुए भी हिमालय से कन्याकुमारी तक और काठियावाड़ से आसाम तक साहित्य में भी जीवन मूल्यों के साथ अनुभुति एवं संवेदनाएँ भी एक रही। अपना-पराया, छोटा-बड़ा, तेरा-मेरा की प्रवृति से ऊपर उठकर 'भारतीयकरण' की सबसे मुख्य विशेषता है 'मानवतावाद', जिसके अन्तर्गत समस्त प्राणियों को समदृष्टि से देखा जाना, सभी से एकात्म भाव और विश्व बंधुत्व। 'वसुधैव कुटम्बकम' भारतीयकरण का महामंत्र है।

भारत की राष्ट्रीयता सांस्कृतिक रही। इसी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद अथवा भारतीयकरण ने देश में चार धाम, चार शक्ति पीठ, बारह ज्योतिर्लिंगों की स्थापना करायी है, जो देश के विभिन्न भागों में बिखरे हुए हो। उत्तर में अमरनाथ, दक्षिण में रामेश्वरम, पूर्व में जगन्नाथपुरी और पश्चिम में द्वारिका। यह सभी भारतीयकरण के प्रमाण है।

'भारतीयकरण' को समझने के लिये भारतीय जीवन दर्शन को समझना अत्यंत आवश्यक है। इसके आधारभूत सिद्धान्त है - सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह और अभय। 'भारतीयकरण' से व्यक्ति और समाज के बीच की आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक-सभी समस्याओं का निराकरण इन्हीं आधारों पर खोज निकालने का प्रयास किया जाता है। सत्य और अहिंसा के लिये जो कार्य किये जाते हो, वे सत्याग्रह है।

'भारतीयकरण' का जन्म किसी राजनैतिक परिस्थिति में किसी संगठन या व्यक्ति के द्वारा नहीं हुआ। यह मानव जाति के लाखों वर्षों के अनुभवों का परिणाम है।

यह सर्वविदित है कि भारत में समय-समय पर अनेक ऋषि-मुनि, साधु-संत हुए है। सभी उच्च कोटि के धुरन्धर निष्णात विद्वान थे। कपिल, कणाद, गौतम, पतंजलि, कौटिल्य तथा व्यास के साथ ही अनेक विद्वान व शिक्षाविद्। उनमें विचारों की विभिन्नता होने पर भी जीवन मूल्यों के प्रति आग्रह एवं शाश्वत सत्य वही है, क्योंकि भारतीय जीवन दर्शन सत्य की खोज, ज्ञान की वृद्धि तथा ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिये विकसित हुआ है।

दुर्भाग्य से भारतीय शिक्षा पर औपनिवेशिक छाप है। इसीलिये महर्षि अरविन्द ने कहा था, "आधुनिक भारतीय शिक्षा न तो आधुनिक है, न भारतीय और न शिक्षा ही।" इसलिये शिक्षा के भारतीयकरण की भी आवश्यकता हुई, क्योंकि -

(1) शिक्षा स्वतंत्र भारत की आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं के अनुरूप होनी चाहिए।

(2) शिक्षा की प्रणालियां भारत में निर्मित और भारतीय साधनों पर आधारित व भारतीय वातावरण के अनुकूल होनी चाहिए।

(3) शिक्षा भावी नागरिकों में धार्मिक सहिष्णुता एवं राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास करने वाली हो।

(4) शिक्षा भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम उत्पन्न करके भारतीय आदर्शों व मूल्यों के प्रति आस्थावान बना कर राष्ट्रीय चरित्र विकसित करने में सहायक हो।

(5) शिक्षा संस्कृति के संवर्धन एवं हस्तान्तरण का साधन होती है, अत: शिक्षा का यह दायित्व भारतीय संस्कृति के प्रति निर्वाह करने में सक्षम होना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते है कि भारतीय नवयुवकों में विचार, अभिवृत्ति, मूल्यों एवं आदर्शों, भारतीय दृष्टिकोण एवं भारतीय भावना विकसित करने के लिये शिक्षा के भारतीयकरण की आवश्यकता है, तभी हमारा राष्ट्र प्रगति पथ पर अग्रसर हो सकेगा।

स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. शिक्षा के भारतीयकरण का क्या महत्व है?
2. शिक्षा के भारतीयकरण की आवश्यकता क्यों है?

2.2 भारतीयकरण का अर्थ व परिभाषाएँ

समय समय पर भारतीयकरण को अलग अलग अर्थों में प्रयुक्त किया जाता रहा है। अंग्रेजी शासन के समय भारतीयकरण को बड़े ही संकीर्ण अर्थ प्रयुक्त किया जाता था। उस समय भारतीयकरण का अर्थ था, 'भारत से विदेशी शासन को हटाकर स्वदेशी शासन लाना या विदेशी वस्तुओं का परित्याग कर देशी वस्तुओं का प्रयोग करना। इस संकीर्ण अर्थ में भारत के राष्ट्रीय जीवन से विदेशी तत्वों को निकालकर भारतीय तत्वों को सम्मिलित करना ही भारतीयकरण है।

शिक्षा के क्षेत्र में हम कह सकते है - "शिक्षा के क्षेत्र से विदेशी तत्वों का निष्कासन कर उसमें भारतीय तत्वों को सम्मिलित करना ही भारतीयकरण है।"

व्यापक अर्थ में भारतीयकरण की व्याख्या के रूप में कहा जा सकता है कि भारतीयों का संस्कृति, देश, परम्पराओं, सांस्कृतिक धरोहरों एवं अन्य निवासियों के साथ अपना आत्मसातीकरण करना ही भारतीयकरण है।

प्रो. बलराज मधोक ने हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषा में एक पुस्तक 'भारतीयकरण' लिखी। उनके अनुसार, "भारत और भारतीय संस्कृति के प्रति रागात्मक एवं भावात्मक संबंध स्थापित करना ही भारतीयकरण है।"

पं. जवाहर लाल नेहरू - "विदेशी तत्वों के समावेशन एवं आत्मसात्करण की प्रक्रिया का नाम ही भारतीयकरण है।"

प्रो. रवीन्द्र अग्निहोत्री के अनुसार, "वस्तुत: राष्ट्रीय भावना पुन: जीवित करने का दूसरा नाम भारतीयकरण है। शिक्षा के भारतीयकरण का अर्थ यह स्वीकार किया जा सकता है कि शिक्षा को भारतीय संस्कृति के अनुरूप इस प्रकार नियोजित किया जाये कि वह हमारी आज की आवश्यकताओं की अधिकतम सीमा तक पूर्ति करे।"

प्रो. रमेश कुन्तल मेघ के अनुसार, "आधुनिक भारतीयता और भारतीय आधुनिकता का सामंजस्य ही भारतीयकरण है।" यहां आधुनिक भारतीयता का आशय वर्तमान परिस्थिति में भारतीय आदर्शों मूल्यों एवं परम्पराओं से है।

इस प्रकार वर्तमान भारतीय समाज के मूल्यों, आकांक्षाओं के अनुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व के रूपान्तरण को ही भारतीयकरण की प्रक्रिया के नाम से अभिहित किया जा सकता है।

भारतीयकरण की उपर्युक्त संकल्पना सामाजिक परिवर्तन की दिशा प्रदर्शित करती है। आज भारतीय समाज में आधुनिकीकरण के साथ-साथ भारतीयकरण के आधार पर परिवर्तन अपेक्षित है जो राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति कर सके। कोठारी शिक्षा आयोग ने भारतीय समाज के भावी परिवर्तन के सन्दर्भ में आधुनिकीकरण का भारतीयकरण से सामंजस्य पर बल देते हुए कहा है, "आधुनिकीकरण का अर्थ यह नहीं है कि आवश्यक नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों तथा आत्मानुशासन की भावना उत्पन्न ही नहीं की जाये या उसकी महत्ता को स्वीकार करने से इन्कार किया जाये। यदि आधुनिकीकरण को एक जीवन शक्ति होना है तो उसे आत्मा की शक्ति से अपनी शक्ति प्राप्त करनी चाहिए। भारत को विज्ञान से काम लेना सीखना चाहिए, पर यह सीखना ज्यादा जरूरी है कि विज्ञान उस पर हावी न हो। इस समय आवश्यकता इस बात की है कि शांति और स्वतंत्रता, सत्य और करुणा के महान आदर्शों के लिये जीवित रहने के रूप में हमारा नया अभियान और गहरी आस्था अभिव्यक्त हो।"

इस प्रकार भारत में सामाजिक परिवर्तन के सम्प्रत्यय में आधुनिकीकरण के साथ भारतीयकरण के सामंजस्य का विशेष महत्व है क्योंकि सामाजिक परिवर्तन की यही संकल्पना शिक्षा द्वारा विकसित होकर नये समाज की संरचना में सहायक हो सकती है।

स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. भारतीयकरण का अर्थ स्पष्ट कीजिये।
2. भारतीयकरण की कोई तीन परिभाषाएँ लिखिये।
3. कोठारी शिक्षा आयोग ने भारतीयकरण के संबंध में क्या कहा है?

2.3 भारतीयकरण व आधुनिकीकरण

भारतीयकरण तथा आधुनिकीकरण में अन्तर को निम्न प्रकार समझा जा सकता है -

क्र.सं	**भारतीयकरण**	**आधुनिकीकरण**
1.	विदेशी तत्व को निकालकर भारतीय तत्वो- का समावेश शिक्षा में किया	इसमें अनुपयोगी तत्व को निकालकर उसमें समयानुकूल उपयोगी तत्व को सम्मिलित

	जाये।	किया जाता है।
2.	इसमें भारतीय समाज के मूल्य, आदर्श, विश्वास एवं मान्यताएँ आदि आते है।	इसमें विज्ञान व तकनीकी आती है।
3.	इसमे भारतीय संस्कृति के साथ अनुकूलन करना सिखाया जाता है।	इसमें आधुनिक विचारधाराओं के स्वरूप व स्तर में अनुकूलन करना सिखाया जाता है।
4.	इसमे समाज की सभ्यता, संस्कृति, शिक्षा राजनीति आदि सबको भारतीय विचारधारा के अनुकूल बनाया जाता है।	इसमें उद्योग, अर्थव्यवस्था, राजनैतिक, सामाजिक,शैक्षिक आदि सभी गतिविधियों को विज्ञान व तकनीकी से जोड़ने का प्रयास किया जाता है।
5.	इसमें सामाजिक परिवर्तन की गति कम होती है।	इसमें सामाजिक परिवर्तन की गति अधिक होती है।

2.4 शिक्षा के द्वारा भारतीयकरण हेतु किये गये प्रयास

शिक्षा के भारतीयकरण के लिये भारतीय नेताओं ने अनेक प्रयास किये, जो निम्न है

1. **स्वामी दयानन्द सरस्वती -** स्वामीजी ने भारतीय संस्कृति एवं दार्शनिक विचारधाराओं के अनुरूप शिक्षण की व्यवस्था करने हेतु जगह जगह गुरुकुल एवं विद्यापीठों की स्थापना की जिनमें प्रमुख हैं - गुरुकुल कांगड़ी, वृन्दावन और ज्वालापुर।
2. **पं. मदन मोहन मालवीय -** काशी में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की जहां भारतीय संस्कृति के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था की गई। इन्होंने भारतीय राष्ट्रीयता का आधार हिन्दुत्व माना था व राष्ट्र भक्ति की शिक्षा और संस्कृति के संरक्षण द्वारा विश्व कल्याण में विश्वास करते थे।
3. **रवीन्द्र नाथ टैगोर -** इन्होंने विश्व भारती की स्थापना की, जहां भारतीय पद्धति की शिक्षा प्रदान करने का कार्य शुरू किया गया।
4. **महात्मा गांधी -** गांधीजी द्वारा बुनियादी शिक्षा, धर्म निरपेक्षता की शिक्षा तथा व्यावसायिक कुशलता में भारतीयता का ध्यान रखा गया। गांधीजी हृदय की शुद्धता, स्वतंत्रता की भावना, निर्भयता, इन्द्रिय निग्रह, स्वावलम्बन व व्यावसायिक क्षमता को शिक्षा के उद्देश्य मानते थे।

2.5 विभिन्न शिक्षा आयोगों द्वारा भारतीयकरण हेतु किये गये प्रयास

1. **विश्वविद्यालय आयोग (1949)** - डॉ. राधाकृष्णन् ने सर्वप्रथम शिक्षा में विश्वविद्यालय स्तर से सुधार करने के प्रयास किये तथा शिक्षा में राष्ट्रीय व 'भारतीय मूल्यों का समन्वय करने की सिफारिश की।

2. **माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952) -** माध्यमिक शिक्षा आयोग ने जनतांत्रिक नागरिक भावना का विकास कर सच्चे, ईमानदार नागरिक तैयार करने वाला व राष्ट्र प्रेम विकसित करने वाली शिक्षा की बात की। वह शिक्षा, जो बालकों में साहित्यिक, कलात्मक व सांस्कृतिक रूचियों का विकास करने वाली हो ताकि भारतीयों में नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों का विकास हो सके।
3. **कोठारी आयोग (1968)** - कोठारी आयोग ने शिक्षा को राष्ट्रीय विकास के साथ जोड़कर उसका भारतीयकरण करने का प्रयास किया। कोठारी आयोग राष्ट्रीय विकास के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार के विकास का उल्लेख करता है। इसके उद्देश्य है-

(i) शिक्षा द्वारा उत्पादन क्षमता में वृद्धि हो।
(ii) शिक्षा राष्ट्रीय एकता के विकास में सहायक हो।
(iii) शिक्षा द्वारा सामाजिक दक्षता का विकास हो।
(iv) शिक्षा विभिन्न क्षेत्रों में प्रजातांत्रिक गुणों का विकास कर सके।
(v) शिक्षा आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को गति प्रदान करने वाली है।
(vi) शिक्षा धार्मिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का विकास कर सके।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये तीन उपाय बताये गये हो -

(अ) शिक्षा को उत्पादनशीलता से जोड़ा जाये।
(ब) शिक्षा को राष्ट्रीय एकता का प्रमुख साधन बनाया जाये।
(स) शिक्षा को भारतीय, सामाजिक, नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित किया जाये।

उपर्युक्त तीन कार्यक्रमों में अंतिम कार्यक्रम शिक्षा के भारतीयकरण से प्रत्यक्ष संबंधित है। इस प्रकार कोठारी आयोग ने भारतीयकरण का प्रयास किया।

स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. भारतीयकरण तथा आधुनिकीकरण में अन्तर स्पष्ट कीजिये।
2. शिक्षा के द्वारा भारतीयकरण हेतु क्या प्रयास किये गये?
3. महात्मा गांधी द्वारा भारतीयकरण हेतु किये गये प्रयासों को लिखिये।
4. कोठारी आयोग द्वारा शिक्षा के भारतीयकरण हेतु क्या प्रयास किये गये?

2.6 राष्ट्रीय शिक्षा नीति

(1) राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1968) के द्वारा 24 जुलाई, 1968 को राष्ट्रीय नीति घोषित की गई। यह पूर्ण रूप से कोठारी आयोग के प्रतिवेदन पर आधारित थी। सामाजिक दक्षता, राष्ट्रीय एकता एवं समाजवादी समाज की स्थापना करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इसमें शिक्षा प्रणाली का रूपान्तरण कर 10+2+3 पद्धति का विकास, हिन्दी का सम्पर्क भाषा के रूप में विकास शिक्षा के अवसरों की समानता का प्रयास, विज्ञान व तकनीकी शिक्षा पर बल तथा नैतिक व सामाजिक मूल्यों के विकास पर जोर दिया गया।

(2) राष्ट्रीय सांस्कृतिक नीति (1972) के अन्तर्गत साक्षरता में वृद्धि, शैक्षिक अवसरों में समानता, अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति को विशेष शैक्षिक सुविधाएँ देने तथा शिक्षण संस्थाओं का राष्ट्रीयकरण करने पर विशेष बल दिया गया।

(3) राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1979) के अन्तर्गत ड्राट प्लान में निःशुल्क व अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा, कॉमन स्कूल पद्धति, प्रौढ़ शिक्षा, व्यावसायिकरण की शिक्षा, पत्राचार पाठ्यक्रम आदि संस्कृति के पारम्परिक एवं तत्कालीन तत्वों का संश्लेषण कर औपचारिक व अनौपचारिक शिक्षा की व्यवस्था करना। मातृभाषा व क्षेत्रीय भाषाओं का विकास ताकि भारतीयता के तत्व विकसित हो सकें। कृषि व आयुर्विज्ञान शिक्षा में सुधार की बात को गई।

(4) राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में बालक में छिपी प्रतिभा के प्रकाशन व सृजनात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से शिक्षा और संस्कृति के समन्वय द्वारा बालकों के व्यक्तित्व के विकास पर बल देने की बात की गई। इसमें विशेष जोर इस पर दिया गया कि आधुनिक तकनीकी के भुलावे में भारतीय इतिहास एवं संस्कृति से नई पीढ़ी को अनभिज्ञ नहीं होने देना है। इसमें शिक्षा क्रम को सांस्कृतिक विषयवस्तु से अधिकाधिक स्वरूपों से समृद्ध किया जायेगा। शिक्षा में सुन्दरता, एकता व सुधार के प्रति संवेदनशीलता विकसित की जायेगी। शिक्षा की सांस्कृतिक समृद्धि के लिये प्रयास किये जायेंगे। सांस्कृतिक परम्पराओं की स्थापना व हस्तान्तरण में परम्परागत प्रशिक्षकों को समर्थन दिया जायेगा। ललित कलाओं, संगीत व लोकगीत आदि के विशिष्ट क्षेत्रों के विकास पर समुचित ध्यान दिया जायेगा तथा हमारी भारतीय संस्कृति के मूल्य व मान्यताओं को सुदृढ़ कर आने वाली संस्कृति को हस्तान्तरित किया जायेगा।

स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 में भारतीयकरण लाने हेतु क्या प्रयास किये गये?
2. 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति द्वारा शिक्षा में भारतीयकरण लाने संबंधी क्या प्रयास किये गये?

2.7 भारतीयकरण के मार्ग में आने वाली बाधाएँ

1. **पारिवारिक उदासीनता -** परिवार में माता-पिता ही अपने बालकों को सांस्कृतिक आधार प्रदान किया करते हे। परिवारों को बालकों के कर्तव्यों के प्रति जागरूक होना चाहिए। धर्म संघ और शिक्षालय इस दिशा में सहयोगी सिद्ध हो सकते है। शिक्षालय, अभिभावक-शिक्षक परिषद द्वारा भी अभिभावकों को सचेत कर सकते है।
2. **भारतीय आदर्शो का अभाव -** बालकों के सांस्कृतिक विकास के क्षेत्र में हमें यह देखना होगा कि आदर्शों का अभाव तो नहीं है। अभाव होने पर पूर्ति की जानी चाहिए। भारतीय समाज की मान्यताओं आदि को पाठ्यक्रम में रखा जाना चाहिए।
3. **पाठ्यक्रम का अभाव -** विद्यार्थी को एक मात्र भारतीय बनाया जा सके, ऐसे पाठ्यक्रम का अभाव है। आज एक समन्वित पाठ्यक्रम की आवश्यकता अधिक होती है जो यह

सिखा सके कि प्राचीन भारतीय संस्कृति कितनी महत्वपूर्ण है तथा नवीन संस्कृति किस सीमा तक आवश्यक है।

4. **अन्य संस्कृतियों का विरोध -** भारत में विविध विरोधी धर्म होने के कारण सांस्कृतिक क्षेत्र में भी विरोध उत्पन्न होता है। विरोधी विचारधाराएँ न जन्म ले, इसके लिये उन सार्वभौतिक तथ्यों को स्पष्ट किया जाना चाहिए जो किसी भी संस्कृति के आधार होते हैं।
5. **शिक्षा में भारतीयकरण के अर्थ की अस्पष्टता -** अभी तक सभी लोगों को शिक्षा के भारतीयकरण का अर्थ स्पष्ट नहीं है। कुछ लोग प्राचीन भारतीय जीवन दर्शन और जीवन मूल्यों को लौटाने को भारतीयकरण मानते हैं। अन्य मत के अनुसार हम अपने आपको भारतीयकरण के नाम पर पिछड़ा हुआ नहीं बनाना चाहते, समाज और विश्व में वैज्ञानिक व तकनीकी विकास के साथ चलना है। अत: इसका स्पष्ट अर्थ समझाया जाना चाहिए।
6. **पुरातन मूल्यों में आस्था न होना -** डॉ. राधाकृष्णन् जैसे दार्शनिक कहते हैं कि मूल्यहीनता का युग चल रहा है। सत्य यह है कि नई पीढ़ी को तो प्राचीन मूल्यों का पता ही नहीं है और यदि कुछ पता भी है तो घृणा के भाव विकसित हो चुके हैं क्योंकि उनके सम्मुख उन बातों को तोड़-मरोड़ कर रखा गया है। जिन लोगों ने प्रयास किये वे आस्थावान नहीं थे। परन्तु यह कहना तो उचित नहीं होगा, किन्तु उन्हें जनसंपर्क नहीं मिला, परिणामत: भारतीय संस्कृति व साहित्य के प्रति आस्था व विश्वास की कमी ने भारतीयकरण के मार्ग में बाधा उत्पन्न की।
7. **पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव -** पाश्चात्य संस्कृति सुख-सुविधा आधारित अथवा भोगवादी कही जा सकती है। साधारण व्यक्ति के लिये यह अत्यंत मोहक व कम बन्धनों वाली है। अत: इसने भारतीयों को आकर्षित किया तथा शिक्षा के भारतीयकरण के मार्ग में बाधा बन सामने आयी।
8. **धर्म निरपेक्षता का संकुचित अर्थ -** आधुनिक धर्म निरपेक्षता की नीति अंग्रेजों की कूटनीतिक विचारधारा की देन है। हमने स्वतंत्रता के बाद इसे ही अपनाया है। इस नीति ने हमें धर्म निरपेक्ष न बनाकर धर्म विहीन बना दिया है और शिक्षा अपने नैतिक दायित्वों को भी पूरा नहीं कर पा रही है। यह नीति भी शिक्षा के भारतीयकरण में बाधक है।

2.8 भारतीयकरण के लिये शिक्षा में परिवर्तन

(i) शिक्षा के प्राचीन रूप को नये राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के साथ संशोधित कर पुनर्निर्मित करना।
(ii) भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं परम्पराओं की शिक्षा की व्यापक व्यवस्था करना होगी।
(iii) बुनियादी शिक्षा का आधुनिकीकरण कर उसमें पुन: प्राण संचारित करने होंगे।
(iv) शिक्षा को कार्यानुभव तथा उत्पादनशीलता के साथ जोड़ना होगा।
(v) सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये समान एवं व्यापक शिक्षा-प्रणाली अपनाई जाये।
(vi) शिक्षा में भारतीय धर्म एवं नैतिकता को समुचित स्थान दिया जाये।

(vii) ऐसी शिक्षा व्यवस्था लागू की जाए जो छात्रों में उपयुक्त मानवीय गुणों का विकास कर सके।

(viii) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

(ix) भौतिक एवं आध्यात्मिक विषयों के व्यावहारिक ज्ञान का शिक्षा के माध्यम से सुन्दर समन्वय किया जाए।

(x) धर्म निरपेक्षता की नीति केवल राजनैतिक पहलू है जिसका प्रयोग केवल जनमत को आकर्षित करने के लिये किया जाता है।

स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. भारतीयकरण के मार्ग में आने वाली बाधाएँ कौन-कौन सी है?
2. भारतीयकरण लाने के लिये हमें शिक्षा में क्या-क्या परिवर्तन करने चाहिए?

2.10 सारांश

भारतीयकरण का शाब्दिक अर्थ है भारतीय कर देना। भारतीयकरण अत्यन्त व्यापक अर्थ है। यह किसी एक धर्म, एक सम्प्रदाय, एक वर्ग, वर्ण या समुदाय पर आधारित नहीं है। भारत के सभी निवासियों के धर्म, पंथ, विचारधारा तथा भाषा को समन्वित किये जाने का नाम है 'भारतीयकरण' या यह भी कहा जा सकता है कि ये सब भारतीयकरण के अन्तर्गत हैं।

भारतीयकरण' की सबसे मुख्य विशेषता है ''मानवतावाद', जिसके अन्तर्गत समस्त प्राणियों को समदृष्टि से देखा जाना, सभी से एकात्म भाव और विश्व बंधुत्व शामिल है। वसुधैव कुटम्बकम भारतीयकरण का महामंत्र है।

भारतीयकरण' को समझने के लिये भारतीय जीवन दर्शन को समझना अत्यंत आवश्यक है। इसके आधारभूत सिद्धान्त है - सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद अस्तेय, अपरिग्रह और अभय।

भारतीयकरण' का जन्म किसी राजनैतिक परिस्थिति में किसी संगठन या व्यक्ति के द्वारा नहीं हुआ। यह मानव जाति के लाखों वर्षों के अनुभवों का परिणाम है।

शिक्षा के क्षेत्र में हम कह सकते है - 'शिक्षा के क्षेत्र से विदेशी तत्वों का निष्कासन कर उसमें भारतीय तत्वों को सम्मिलित करना ही भारतीयकरण है।'

व्यापक अर्थ में भारतीयकरण की व्याख्या के रूप में कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति, देश, परम्पराओं, सांस्कृतिक धरोहरों एवं अन्य निवासियों के साथ अपना आत्मसातीकरण करना ही भारतीयकरण है। वर्तमान भारतीय समाज के मूल्यों, आकांक्षाओं के अनुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व के रूपान्तरण को ही भारतीयकरण की प्रक्रिया के नाम से अभिहित किया जा सकता है।

भारतीयकरण की उपर्युक्त संकल्पना सामाजिक परिवर्तन की दिशा प्रदर्शित करती है। आज भारतीय समाज आधुनिकीकरण के साथ-साथ भारतीयकरण के आधार पर परिवर्तन अपेक्षित है जो राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति कर सके।

इस प्रकार भारत में सामाजिक परिवर्तन के सम्प्रत्यय में आधुनिकीकरण के साथ भारतीयकरण के सामंजस्य का विशेष महत्व है क्योंकि सामाजिक परिवर्तन की यही संकल्पना शिक्षा द्वारा विकसित होकर नये समाज की संरचना में सहायक हो सकती है।

शिक्षा के भारतीयकरण के लिये भारतीय नेताओं ने अनेक प्रयास किये। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भारतीय संस्कृति एवं दार्शनिक विचारधाराओं के अनुरूप शिक्षण की व्यवस्था करने हेतु जगह जगह गुरुकुल एवं विद्यापीठों की स्थापना की। पं. मदन मोहन मालवीय ने काशी में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की जहां भारतीय संस्कृति के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था की गई। रवीन्द्र नाथ टैगोर ने विश्व भारती की स्थापना की, जहां भारतीय पद्धति की शिक्षा प्रदान करने का कार्य शुरू किया गया। गांधीजी द्वारा बुनियादी शिक्षा, धर्म निरपेक्षता की शिक्षा तथा व्यावसायिक कुशलता में भारतीयता का ध्यान रखा गया।

कोठारी आयोग ने शिक्षा को राष्ट्रीय विकास के साथ जोड़कर उसका भारतीयकरण करने का प्रयास किया। कोठारी आयोग राष्ट्रीय विकास के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार के विकास का उल्लेख करता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति पूर्ण रूप से कोठारी आयोग के प्रतिवेदन पर आधारित थी, जिसमें सामाजिक दक्षता, राष्ट्रीय एकता एवं समाजवादी समाज की स्थापना करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया।

पारिवारिक उदासीनता, भारतीय आदर्शों का अभाव, पाठ्यक्रम का अभाव, पुरातन मूल्यों में आस्था न होना, पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव, धर्म निरपेक्षता का संकुचित अर्थ एवं अन्य संस्कृतियों का विरोध आदि भारतीयकरण के मार्ग की प्रमुख बाधाएँ है जिनका निराकरण कर भारतीयकरण किया जाना संभव हो सकता है।

भारतीयकरण के लिये शिक्षा में व्यापक परिवर्तन की आवश्यकता है। इसके लिये शिक्षा के प्राचीन रूप को नये राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के साथ संशोधित कर पुनर्निर्मित करना होगा। शिक्षा को कार्यानुभव तथा उत्पादनशीलता के साथ जोड़ना होगा। शिक्षा में भारतीय धर्म एवं नैतिकता को समुचित स्थान देने के साथ-साथ भौतिक एवं आध्यात्मिक विषयों के व्यावहारिक ज्ञान का शिक्षा के माध्यम से सुन्दर समन्वय किया जाना आवश्यक

2.9 मूल्यांकन प्रश्न -

लघुत्तरात्मक प्रश्न -

1. भारतीयकरण से आप क्या समझते है?
2. भारतीयकरण एवं आधुनिकीकरण की धारणाओं में मुख्य अन्तर क्या है?
3. भारतीयकरण के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीय शिक्षा नीति स्पष्ट कीजिये।
4. भारतीयकरण के मार्ग में आने वाली प्रमुख बाधाओं कौन-कौन सी है?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारतीयकरण के लिये शिक्षा की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए शिक्षा के द्वारा भारतीयकरण के लिये किये गये प्रयासों को स्पष्ट कीजिये?
2. भारतीयकरण हेतु भारतीय शिक्षा आयोग (कोठारी आयोग) की नीति अथवा विचारधारा स्पष्ट कीजिये।

3. भारतीयकरण हेतु शिक्षा क्षेत्र में आवश्यक परिवर्तनों को सूचीबद्ध करते हुए स्पष्ट कीजिये।

2.11सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. शर्मा, डी.एल.	– शिक्षा व भारतीय समाज
2. सक्सेना, निर्मल	– प्रगतिशील भारतीय समाज में शिक्षा
3. चतुर्वेदी सुधा, शर्मा, नमिता	– उदयीमान भारतीय समाज और शिक्षा
4. बघेला, एच.एस	– शैक्षिक एवं उदीयमान भारतीय समाज
5. पुरोहित, जबरनाथ	– भारतीय शिक्षा की विशेषताएँ एवं चिन्ताएँ, दी स्टुडेन्ट कम्पनी
6. अग्निहोत्री, रवीन्द्र	– आधुनिक भारतीय शिक्षा-समस्याएँ और समाधान, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
7. भटनागर, सुरेश	– आधुनिक भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएँ, आर.लाल बुक डिपो, मेरठ
8. अग्रवाल, जे.सी	– स्वतंत्र भारत में शिक्षा का विकास, आर्य बुक डिपो
9. वशिष्ठ, के.के	– विद्यालय संगठन एवं भारतीय शिक्षा की समस्याएँ, लॉयल बुक डिपो
10. Intrenal Sourrces	– Wikipedia, Encyclopedia of Education.

इकाई - 3

औपनिषदिक दर्शन और इसके शैक्षिक निहितार्थ

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 उपनिषद का अर्थ

3.2 उपनिषदों की संख्या/ उपनिषदों का वर्गीकरण

3.3 उपनिषदों का काल

3.4 दर्शन के प्रमुख स्त्रोत

3.5 उपनिषद के विषय

3.6 शैक्षिक निहितार्थ

3.7 सारांश

3.8 मूल्यांकन प्रश्न

3.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

3.0 उद्देश्य

इस इकाई की समाप्ति पर आप जान सकेंगे-

- उपनिषद के अर्थ को बता सकें।
- उपनिषद कितने है? उनकी रचना कब हुई? और प्रमुख उपनिषद कौन-से हैं?
- उपनिषदों में प्रतिपादित विषयों का संक्षिप्त परिचय दे सकेंगे।
- उपनिषदों में शिक्षा के उद्देश्यों, पाठ्यक्रम एवं शिक्षण-विधियों के संदर्भों में उल्लेखित संकेतों को समझ सकेंगे।

उपनिषद भारतीय दर्शन के बीज है इसलिए महान भारतीय दार्शनिकों ने उपनिषदों पर टीकाएं लिखी है कुछ दार्शनिक उपनिषदों को वेदान्त मानते हैं। अपनी इस धारणा के सम्बन्ध में इनका कहना है कि वेद का अन्तिम भाग ज्ञानकाण्ड (अवन्यक) है जो कर्मकांड से बिल्कुल भिन्न है। वेद की विचारधारा और उपनिषद की विचारधारा में महान अंतर है। वेद में कर्मकांड की प्रधानता है, उपनिषद में ज्ञानकांड की प्रधानता है। वैदिक धर्म बहिर्मुखी है। जबकि उपनिषदों का धर्म अर्न्तमुखी है।

3.1 उपनिषद का अर्थ

उपनिषद शब्द की व्युत्पति उप+नि+सद् से हुई है। इसमें उप तथा नि उपसर्ग है और सद् मूलधातु है सद् धातु के तीन अर्थ है पहला अर्थ है, नाश, दूसरा अर्थ गति या प्राप्ति और तीसरा अर्थ अवसाद या अन्त। इस दृष्टि से उपनिषद का अर्थ उस ज्ञान से लिया जाता है जिसमें अविधा या अज्ञान का नाश होता है, आत्म ज्ञान की प्राप्ति होती है और दुःख का अन्त होता है।

मैक्समूलर ने सद् धातु में नि: उपसर्ग लगाकर (जैसे निषीदति) निषद् का अर्थ बैठना लगाया है अत: उपनिषद का अर्थ निकट होता है अत: उपनिषद का अर्थ 'निकट बैठना' बताया गया है।

मैक्समूलर ने उपनिषद की भूमिका में लिखा है कि "संस्कृत भाषा के इतिहास और संस्कृति के अनुसार यह निश्चित ही है कि उपनिषद का प्रारम्भिक अर्थ एक ऐसी गोष्ठी से था, जिसमें शिष्य गुरु के चारों ओर आदर और श्रद्धा के साथ एकत्रित होते थे।"

अत: उपसर्ग में उप का अर्थ है समीप। निकट और 'नि' निश्चयात्मक का द्योतक है। इस प्रकार उपनिषद का अर्थ वह ज्ञान जो अविद्या का नाश करता है ओ मुमुक्षु (मोक्ष के आकांक्षी) को ब्रह्म या ईश्वर के निकट ले जाता है। और उसे जन्ममरण के बन्धन से मुक्त कर देता है। दूसरे शब्दों में, उपनिषद वह विद्या है जो व्यक्ति के अज्ञान को मिटाती है, उसे सांसारिक बन्धन से मुक्त कराती है और आनन्द की अंतिम श्रेणी परम पद तक ले जाती है।

डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार इस शब्द का अर्थ उस ज्ञान से है जो भ्रम को नष्ट कर यथार्थ ज्ञान की ओर ले जाता है। 'उपनिषद' शब्द का प्रयोग इसी कारण से अत्यन्त रहस्य के अर्थों में लिया जाता है।

उपनिषदों में अविद्या को नष्ट करने के उपायों पर प्रकाश डाला गया है तथा विद्या या परम ब्रह्म के स्वरूप के विषय में उल्लेख किया गया है। और बताया गया है कि किस प्रकार से उस परम आनन्द का साक्षात्कार किया जा सकता है तथा किस प्रकार से दुःख से छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है।

उपनिषद वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग (संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक) है। इसे आरण्यक कहा जाता है क्योंकि इसका मनन अरण्य या वन के एकांत वातावरण में होता था। आरण्य का मुख्य विषय या आध्यात्मिक तत्व है। उपनिषद ग्रंथों में आत्मज्ञान, मोक्ष ज्ञान और ब्रह्म ज्ञान की प्रधानता होने के कारण उपनिषदों को आत्म विद्या, मोक्ष विद्या और ब्रह्म विद्या कहा गया है।

कुछ उपनिषद ऋग्वेद, कुछ सामवेद कुछ कृष्ण-यजुर्वेद एवं कुछ अथर्ववेद है।

3.2 उपनिषदों की संख्या / उपनिषदों का वर्गीकरण

उपनिषदों की संख्या 108 है। किंतु उपनिषदों की संख्या के विषय में बड़ा मतभेद है, जिसमें 10 प्रमुख है:-

1. ईश्वरस्य
2. कैन
3. कठ
4. प्रसना / प्रश्न
5. मुंडक
6. मांडूक्य
7. तैतिरीय

8. छन्दोज
9. ऐतरेय
10. वृहदारण्यक

इनके अलावा कौशीतकि, श्वेताश्वतर और मैत्रायण है। इस प्रकार मुख्यत: उपनिषद 13 है उपरोक्त के अलावा भी अनेक उपनिषद है जिनका संबंध तंत्रों से है।

3.3 उपनिषदों का काल

उपनिषदों को प्राचीन एवं प्रमाणिक माना गया है। ये किसी एक काल की रचना नहीं है विभिन्न उपनिषदों के काल के सम्बन्ध में निश्चय रूप से कुछ कहना कठिन है। यह विश्वास किया जाता है कि कुछ प्राचीन उपनिषद जैसे छन्दोज्ञ, वृहदारण्यक, फैन, ऐत्रेय तैत्तिरीय, कौशीतकि और काथ ई.पू. 600 में लिखे गये थे और अन्य सम्भवत: ई.पू. 300 में लिखे गये हो अर्थात भगवान बुद्ध की मृत्यु के बाद।

यदि हम इनका गहन अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि इनमें अनेक प्रकार की शैलियों पाई जाती है। साथ ही इनकी विषय सामग्री में भिन्नता पाई जाती है यद्यपि उपनिषदों के सिद्धान्तों को प्रतिपादन करने का अनेकों बार प्रयत्न किया गया है। परन्तु ये प्रयत्न प्राय: असफल रहे है। क्योंकि इन सिद्धान्तों की नींव पर ही अनेक मतों का उदय हुआ है। अनेक वेदान्त तथा वैष्णव सम्प्रदाय इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। इन सम्प्रदायों में आपसी मतभेद पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। इस पर भी वे अपने सिद्धान्तों की जड़ उपनिषदों को मानते है। इस प्रकार से हम देखते है कि उपनिषद एक निश्चित काल की रचना नहीं है और न किसी एक व्यक्ति द्वारा रचित ग्रन्थ है। इनमें किसी एक निश्चित तथा किसी एक सम्प्रदाय का सिद्धान्त या दर्शन नहीं पाया जाता है। परन्तु इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि चाहे उपनिषदों का कोई अपना विशेष मत न हो, परन्तु इस पर भी उनका एक निश्चित लक्ष्य है। यह है द्वितीय अखण्ड सत् चित् आनन्द परमात्मा की प्राप्ति चाहे उन्हें प्राप्त होने वाली विचारधाराओं के पथ में भिन्नता क्यों न हों।

3.4 दर्शन के प्रमुख स्त्रोत

भारतीय दर्शनों की विभिन्न शाखाएँ उपनिषदों से काफी प्रभावित रही हैं। ईश्वरीय दर्शन की विभिन्न शाखाएं अपने विचारों के समर्थन में उपनिषदों के कथनों का उल्लेख करती हैं। उपनिषदों भारतीय दर्शन के विभिन्न संप्रदायों के स्त्रोत हैं, नास्तिक दर्शन, जैन और बौद्ध, आस्तिक दर्शन, न्याय वैशेषिक, संख्या, योग्य, अद्वैत एवं विशिष्ट द्वैत वेदांत के स्त्रोत हैं।

3.5 उपनिषद के विषय

आत्मा उपनिषदों का ध्यान पूर्वक गहन अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उपनिषदों का प्रमुख एवम् प्रतिपाद विषय आत्मा है। आत्मा हमारी परम सत्ता है और हमारे जीवन का प्रमुख सत्य है। आत्मा सर्वव्यापी है और विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ इसके अन्तर्गत है। आत्मा एक है जो संसार में प्रकृति और मानव में सर्वत्र पाया जाता है। उपनिषदों के अनुसार, आत्मा ही समस्त विश्व का मूल है, और साथ ही हमारे जीवन का चरण लक्ष्य है। संहिता से लेकर ही

हमारे जीवन का चरम लक्ष्य हैं। संहिता से लेकर आरण्यक तक आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है तथा उसी का रूप है अर्थात् आत्मा ही परम ब्रह्म है इस प्रकार हम देखते है कि संसार के जितने स्कूल तथा सूक्ष्म पदार्थ है, वे सब पदार्थ आत्मा के ही रूप है। दृष्य और दृश्य में कोई भेद नहीं है। क्योंकि आत्मा ही सर्वव्यापी है। और जनता के सम्पूर्ण पदार्थ उसी में विलीन हो जाते है। यद्यपि आत्मा के स्वरूप का वर्णन करना प्राय: असम्भव सा है यद्यपि उपनिषदों में कहा गया है कि यह मुख्य प्रयास शोक, मोह, यश तथा मरण से हमारा उद्धार करता है। आत्मा पूर्ण तथा अखण्ड है। आत्मा का ज्ञान अन्तःकरण की शुद्धि पवित्रता तथा शुद्धि के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। आत्मा संसार के सभी पदार्थो का सार है। उपनिषदों में इसको विशेष महत्व प्रदान किया गया है।

आत्मा के लक्षण बताना उतना ही कठिन कार्य है जितना कि गूंगे व्यक्ति के लिए मीठे फल की अभिव्यक्ति या गुणों का वर्णन करना कठिन है। किन्तु फिर भी उपनिषदों में ऋषियों ने इसके स्वरूप का वर्णन करने का प्रयास किया है। आत्मा प्राण, अपान, व्यान, उदान वायुओं के रूप में हमारी देह की रक्षा करती है। आत्मज्ञान से ही पुत्र, धन तथा स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा इसी से सन्यास ग्रहण करने की प्रवृति होती है। आत्मा पूर्ण और अखण्ड है। इसी कारण यह सत्-असत्, शुभ-अशुभ, समीप-दूर आदि विरोधी धर्मो का आधार है। वृहदारण्यक उपनिषद में इसे आध्यात्मिक सिद्ध किया गया है, वाणी इसका वर्णन नहीं कर सकती। मस्तिष्क इसकी कल्पना नहीं कर सकता। आँखें इसे देख नहीं सकती। कान इसे सुन नहीं सकते। मैत्रेय उपनिषद में यह कहा गया है कि शरीर रथ है और आत्मा उसकी सारथी है, आत्मा पूर्णतया शांत, चिरंतन और पूर्णरूप से स्वतंत्र है। कौशतकि उपनिषद में आत्मा को शरीर का स्वामी और इन्द्रियों का नियंत्रक बताया गया है। आत्मा उंगली के नाखून से लेकर सिर के शिखर तक व्याप्त है। सभी इन्द्रियां आत्मा की आज्ञा मानती है।

3.5.1 विद्या और अविद्या

उपनिषदों का प्रमुख विषय ज्ञान और अज्ञान का विवेचन करना है। पर विद्या या परम ज्ञान ही ब्रह्म विद्या है। यह ज्ञान मोक्ष का साधन है। अपरा विद्या कर्म ध्यान है। कर्म के फल में विलम्ब हो सकता है परन्तु ज्ञान का फल तुरंत प्राप्त हो जाता है। वैदिक कर्मकांड निम्न कोटि के है। ज्ञान मार्ग जैसा उपनिषद में कहा है- श्रेष्ठ मार्ग है। मोक्ष के लिए आत्म ज्ञान आवश्यक है। इसके लिए बुद्धिज्ञान की आवश्यकता नहीं है। बुद्धिज्ञान अपरा विद्या और आत्मज्ञान पराविद्या या सूचक है। हमारी इन्द्रियां सामान्यत: ब्रह्म पदार्थों के पीछे दौड़ती है। आत्मज्ञानी के लिए अपनी अर्नादृष्टिको अन्तर्मुखी बनाना आवश्यक है एक आध्यात्मवादी को ब्रह्म नैसर्गिक गुणों को केन्द्रित कर आत्मदर्शन करना चाहिये। आत्मदर्शन आत्मज्ञान की ओर एक कदम है। आत्मज्ञान, पराविद्या ही मोक्ष का साधन है।

3.5.2 परम तत्व

उपनिषद में परम तत्व का विषय सर्वोच्च महत्व का है। समस्त संसार इस अन्तिम सत्य अर्थात् परम् तत्व का विकृत रूप है। वह क्या है? जिसे जानते ही प्रत्येक वस्तु स्वयं ही प्रत्यक्ष हो जाती है? वह क्या है जो सदैव ही सचेतन हे? वह क्या है जो सृष्टि कार्य में सदा

सक्रिय है यद्यपि निद्रा में शरीर संज्ञाहीन रहता है। वह मूल क्या है जो लगातार मृत्यु के बाद भी नये-नये रूपों में प्रस्फुटित होती रहती है? दूसरे शब्दों में मूलतत्व क्या है? अन्तिम सत्य क्या है? आत्मा क्या है? ईश्वर क्या है? इन सभी प्रश्नों का उपनिषदों में हल खोजा गया है।

3.5.3 परम तत्व किसे कहते है?

उपनिषदों की भाषा में परम् तत्व अन्तिम सत्य है। यह सर्वाधार है, इस जगत का आदि और अन्त क्या है? उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म ही इस जगत का आदि और अन्त है। अत: ब्रह्म ही परम् तत्व है। इसे आत्म तत्व भी कहते है।

स्व मूल्यांकन प्रश्न

नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर संक्षेप में दीजिए -

1. मैक्समूलर के अनुसार उपनिषद का अर्थ बताइये?
2. पांच प्रमुख उपनिषदों के नाम लिखिए?
3. डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार उपनिषद का क्या अर्थ है?
4. उपनिषदों के अनुसार परम तत्व किसे कहते है?

3.5.4 ब्रह्म विचार

ब्रह्मदारण्यक उपनिषद में यह निरूपित है कि सर्वप्रथम ब्रह्म ज्ञान क्षत्रियों में था और बाद में इसे ब्रह्मणों ने ग्रहण किया। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी तपस्या के बल पर ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर सकता है उपनिषदों में ब्रह्म को इन्द्रिय वाणी मन, आदि सबसे परे माना गया है। सृष्टि के विकास तथा उत्पत्ति का वर्णन अत्यन्त विस्तार से किया गया है जो इस बात का प्रमाण है कि वे दार्शनिक जगत की सत्यता में विश्वास करते थे। उपनिषद काल में ऋषि मुनि जीवन और जगत के प्रति अत्यन्त आशावादी दृष्टिकोण रखते थे।

उपनिषदों में ब्रह्म परम् सत्य है और ज्ञान अन्त है। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं। कथोपनिषद् के अनुसार जो सृष्टि में केवल ब्रह्म को ही देखता है। वही सच्चा ज्ञानी है ब्रह्म ही सृष्टि का रचयिता है। कथोपनिषद् के अनुसार ब्रह्म ही परम ज्योति है सूर्य, चन्द्र सौर यह अपने आप नहीं ब्रह्म द्वारा प्रकाशवान है।

3.5.4.1 ब्रह्म के स्वरूप

उपनिषदों में ब्रह्म के दो प्रमुख रूप माने गए है

परा / अपरा, निर्गुण, सगुण

निर्गुण ब्रह्म -

निर्गुण या पर ब्रह्म का विशेषणों द्वारा वर्णन संभव नहीं है। यह गुणातीत है। ब्रह्म सभी सांसारिक गुणों से परे हैं। वृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि ब्रह्म स्थूल नहीं है, न सूक्ष्म है न ह्रस्व, न दीर्घ, न रक्त, न द्रव्य न छाया, न अंधकार, न रस, न गंध, न वायु न आकाश, न वाणी, न आकार। यही कथोपनिषद्, मुन्दकोपनिषद् कैनोपनिषद् में वर्णित ब्रह्म का स्वरूप है। इस प्रकार निर्गुण ब्रह्म अनिर्वचन है।

3.5.4.2 सगुण ब्रह्म

अपरा ब्रह्म को सगुण ब्रह्म माना गया है। सगुण ब्रह्म गुणों से युक्त होता है। इसका वर्णन किया जा सकता है। सगुण, ब्रह्म सत्य है, ज्ञान है और अनन्त है। छंदोपनिषद् में सगुण ब्रह्म को इस संसार का हेतु माना गया है। ईश्वर सब प्राणियों में व्याप्त है। वह विश्व का सूत्राधार है। वह अन्तर्यामी है। वह सर्वव्यापी है ईश्वर (ब्रह्म) प्रकृति की आत्मा है। जीव व जगत में ईश्वर का ही अस्तित्व है। इसे सिद्ध करने के लिए मुंडकोपनिषद् में उणनिमि (मकड़ी जाला) और ब्रीहियव (औषधि) का उदाहरण दिया गया है। जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती है और निगल जाती है तथा जिस प्रकार पृथ्वी में ब्रीहियव आदि सभी औषधियाँ उत्पन्न होती है इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से विश्व उत्पन्न होता है।

उपनिषद के अनुसार ब्रह्म के दो रूप मूर्त एवं अमूर्त है, यह सत्य एवं असत्य है स्थिर एवं अस्थिर, सत् एवं असत है इसे परमात्मा भी कहते है। जब आत्मा अविद्या के द्वारा ग्रसित होकर बन्धन में पड़ जाती है तो वह जीवात्मा बन जाती है। वहीं जीवात्मा पूर्व कर्मा के अनुसार सुख और दुःख भोगने के लिए इस संसार में प्रवेश करती है। यहाँ आकर उसे जन्म-मरण के बन्धनों में पड़ना पड़ता है। जगत में आने के समय अपने भोगों के अनुसार स्थूल शरीर ग्रहण करना पड़ता है। वह जगत और परलोक दोनों ही स्थानों पर विचरण करता है।

उपनिषद के अनुसार जीव अपने भोगों के लिए स्वप्न में नवीन पदार्थो की सृष्टि करता है जिस प्रकार शरीर की शक्ति क्षीण हो जाने पर जीव, जाग्रत अवस्था से स्वप्नावस्था में प्रवेश करता है। उसी प्रकार जर्जर स्थूल शरीर को त्याग कर अविद्या के कारण वह नवीन शरीर ग्रहण करता है।

इस शारीरिक स्थानान्तरण को मरण कहते हैं। उपनिषद के अनुसार किसी भी जीव के भविष्य का निर्णय उसी के कर्मों के अनुसार होता है। जो व्यक्ति सत्य, कर्म द्वारा जीवन व्यतीत करता है। उसका भविष्य स्वत: उज्जवल होता है। बुरे कर्म करने वाले जीव अपने भविष्य को भी अन्धकारमय बना देते हैं।

उपनिषद सृष्टि पर भी प्रकाश डालते है। उनके अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में कुछ भी नहीं था। धीरे-धीरे मन, जल तथा तेजस और प्रजापति का जन्म हुआ। सब से अन्त में सुर और असुर पैदा हुए वास्तव में यदि देखा जाए तो उपनिषदों में सृष्टि का वर्णन अनेक प्रकार से किया गया है। इन सब वर्णनों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि सृष्टि का प्रथम स्वरूप अवर्णनीय था। उपनिषद के अनुसार यह अव्यक्त रूप भी 'परब्रह्म' है। सम्पूर्ण संसार इसी से उत्पन्न होता है और इसी में लय हो जाता है। वह भी जगत का निमित्त और उपादान कारण है।

उपनिषदों में वर्णित मोक्ष के रूप:-

1. तादात्म
2. समीप्य

1. **तादात्म:-** उपनिषद में मोक्ष को परम् पुरुषार्थ कहा गया है, जन्म मृत्यु बन्धन से छुटकारा पाना ही मोक्ष है। तादात्म आत्मा का ब्रह्म से पूर्ण एकाकार होना है। शंकराचार्य

और अद्वैतवाद के समर्थकों ने मोक्ष को ब्रह्म से तादात्म माना है। जिस प्रकार सरिता महासागर से गिरकर अपनी पहचान खो देती है उसी प्रकार जीव ब्रह्म से मिलकर अपनी पहचान खो देता है। यह आत्मा और ब्रह्म का मिलन है। यही मोक्ष है।

2. **सामीप्य:-** प्रभु के निकट होना भक्त के लिए मोक्ष है, अमरता देव लोक या भगवान का स्थान प्राप्त करना है।

जहाँ भक्त सामीप्य द्वारा स्वर्गीय आनन्द उठाता है। रामानुजम और दूसरे दार्शनिकों ने मोक्ष के इसी रूप को स्वीकार किया है।

मुण्डकोपनिषद् के अनुसार समस्त व्यक्तित्व को ज्ञान द्वारा पवित्र बनाया जाता है और इस प्रकार व्यक्ति ब्रह्म को प्राप्त करता है। यह नेत्रों, वाणी, तप या कर्म द्वारा संभव नहीं है। अत: ज्ञान मोक्ष का साधन है, कार्य नहीं। छंदोपनिषद में भक्ति व उपासना को मोक्ष का साधन माना है।

3.5.5 उपनिषद में माया असत्य की धारणा

अनेक उपनिषदों में माया का अनेक बार चर्चा की गई है। ब्रह्म वृहदारण्यक उपनिषद में माया को बहुत बलशाली माना गया है। एक स्थल पर कहा गया है कि इन्द्र ने अपनी माया को असत्य के समकक्ष माना है।

छंदोपनिषद् में कहा गया है कि माया के जाल में फंसकर हम सत्य को पहचान नहीं पाते। वह जो आत्मा के निकट पहुंच जाता है, मोक्ष प्राप्त कर लेता है। प्रश्नोपनिषद में कहा गया है कि जब तक हम असत्य और माया का त्याग नहीं करते ब्रह्म लोक को प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रकार उपनिषदों में माया का विविध प्रकार से वर्णन किया है।

3.5.6 आत्म साक्षात्कार

उपनिषदों में आत्म साक्षात्कार के उपायों का भी विस्तार से वर्णन किया गया है ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने के लिए जीव को कायिक, वाचिक तथा मानासिक संयम करना परमावाश्यक हे। ब्रह्मचर्य का पालन करना, सत्यपथ पर चलना, इन्द्रियों का निग्रह करना, किसी की वस्तु का अपहरण न करना, हिंसा न करना, माता-पिता की सेवा करना, अतिथि का देवता तुल्य आदर करना ब्रह्म साक्षात्कार करना ही उपनिषदों का रहस्य है एवं उपदेश है, तथा चरम लक्ष्य है। ब्रह्म साक्षात्कार के पश्चात् जीव संसार बंधन से मुक्ति प्राप्त कर लेता है व संसार के तुच्छ आनन्द से कहीं ऊपर अपरिमित आनन्द का उपभोग करता है और इस संसार में पुन: नहीं आता। इस प्रकार हम देखते है कि उपनिषद वैदिक चिन्तन के पर्याय है और इन्हें वेदांत की संज्ञा दी जाती है। प्राय: समस्त उपनिषदों में ब्रह्मणों के कर्मकांड की निन्दा तथा कर्म के स्थान पर ज्ञान की महिमा को प्रधानता दी गई है। उनकी प्रवृति कर्मकाण्ड से ध्यान की तरफ, यज्ञ से चिन्तन की तरफ, तथा बाह्य प्राकृतिक शक्तियों से अन्तरात्मा की खोज की तरफ है। उपनिषद के अनुसार आत्मा समस्त में निहित परम् सत्य है। "अहं ब्रह्मस्तिमं, तत्वमसि" तथा "अयम् आत्माब्रह्म" आदि परम् वाक्यों में इसी तत्व का विवेचन है। ब्रह्म एवं आत्मा का तादात्म्यम् सूचित करने वाले इन परम् वाक्यों का मुख्य लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार ही प्रतीत होता है। उपनिषदों में जगत को अनित्य परिवर्तनशील एवं दु:खमय माना

स्व मूल्यांकन प्रश्न

1. उपनिषदों में ब्रह्म किस प्रकार वर्णित है?
2. वृहदारण्यक उपनिषद में क्या वर्णित है?
3. ब्रह्म के कितने प्रकार हैं?
4. उपनिषदों के अनुसार मोक्ष का क्या अर्थ है?

3.6 शैक्षिक निहितार्थ

भारतीय दार्शनिक चिन्तन का मुख्य स्त्रोत उपनिषद है। भारतीय शिक्षा का आदि स्त्रोत भी उपनिषद को ही मानना चाहिये। उपनिषदों में जिस अमृत तुल्य ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। वह शिक्षा के लिए भी स्थायी निधि है, उपनिषदों का तात्विक विवेचन संवाद के रूप में है, जिसमें जिज्ञासु शिष्य प्रश्न करता हैं, तथा विद्वान गुरु विभिन्न विधाओं से उसकी जिज्ञासा शान्त करता है। शिष्य बीच-बीच में अपनी शंकाएं प्रस्तुत करता जाता है तथा गुरु उन शंकाओं का निवारण करता है। उपनिषद की इस परम्परा में शिक्षा सम्बन्धी तीन अभिप्रेरित स्पष्ट होते है:-

1. ज्ञान स्वयं प्रयास द्वारा ग्रहण किया जाता है। परन्तु ज्ञान प्राप्ति प्रक्रिया में गुरु की सहायता एवं मार्गदर्शन आवश्यक होता है।
2. शिक्षा वैयक्तिक रूप में ग्रहण किया जाता है सामूहिक रूप से नहीं। प्रत्येक विद्यार्थी अपनी आवश्यकता क्षमता व योग्यता अनुरूप अपनी भांति से स्वनिर्मित योजना के अनुसार शिक्षा ग्रहण करता है। एक ही प्रकार की शिक्षा, एक ही समय में, एक ही गति से, किसी पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार नहीं दी जा सकती।
3. उपनिषद ज्ञान को मूढ़ तथा रहस्यमय मानता है। ज्ञान प्राप्ति के फलस्वरूप ज्ञाता की शक्ति से अनन्त भुजा बढ़ जाती है।

अत: ज्ञान उसे ही प्रदान करना चाहिये जो ज्ञान प्राप्ति के लिए पात्र हो। अपात्र को ज्ञान प्रदान करने से ज्ञान तथा शक्ति के दुरूपयोग होने की आशंका बनी रहती है।

3.6.1 शिक्षा के उद्देश्य

भिन्न-भिन्न उपनिषदों में शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या भिन्न प्रकार से की गई है परन्तु यदि इन्हें मिलाकर देखा जाए तो सबसे एक ही आशय निकलता है। उपनिषद में एक स्थान पर लिखा गया है, "विद्या अमृतमश्नुतें" विद्या से अमृत मिलता है। अमरत्व तभी संभव है जबकि मृत्यु से छुटकारा पाया जाए, और मृत्यु से छुटकारा पाने के लिए आत्मा की वास्तविक प्रकृति को जानना व समझना आवश्यक है। आत्मानुभूति होने पर अमरत्व प्राप्त हो जाता है, तथा सभी दुःखों से छुटकारा मिल जाता है। विभिन्न उपनिषदों के अध्ययन से पता चलता है कि सत् ब्रह्म एवं आत्मा तीनों ही शब्द एक ही सत्ता के लिए प्रयुक्त होते है। कठोपनिषद् में कहा गया है, "आत्मा सभी मे छिपा हुआ है, और इसलिए वह दिखाई नहीं देती, दिव्य दृष्टि तथा तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा इसे देखा जा सकता है।"

आत्मा का लक्षण है, "सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म" अर्थात् वह सत्य है तथा उसका कभी अन्त नहीं होता इसलिए वृदारण्यक उपनिषद में प्रार्थना की गई है:-

असतो मा सदगमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मामृतर्गमय

आत्मानुभूति का सर्वोत्कर्ष वर्णन तैतिरीयोपनिषद् में मिलता है "आनन्दाद्धयेव

खाल्मिमानि भूतानि जायन्ते।

"आनन्देन जातानि कीवन्ति। आनन्द प्रयच्छभि संविशन्तिति।"

उपनिषदों में वर्णित आनन्द कोई बाह्य वस्तु नहीं है यह हर व्यक्ति में अन्तनिर्हित है यह आत्मा का शाश्वत स्वरूप है। हमारा समग्र जीवन इस आत्मा से परिपूरित है। तथापि हम इससे वंचित रह जाते है, उसकी प्रतीति नहीं कर पाते, क्योंकि अज्ञान के कारण हम इधर-उधर भटकते है। आत्मा के इन विभिन्न पदों का अनावरण करने में ही शिक्षा के उद्देश्यों का क्रम निहित है। आनन्दमय उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जिन सोपानों का उल्लेख तैतिरीय उपनिषद में किया गया है, वे ही सोपान शैक्षिक उद्देश्यों का उत्क्रम् माने जा सकते हैं।

अन्नमय् कोष

आनन्द का प्रथम व निम्नतम स्वरूप अन्नमय है अर्थात जीवन में भौतिकी सम्प्राप्ति, आनन्द प्राप्ति का प्रथम लक्षण है। शिक्षा का प्राथमिक मूल्य भौतिक जीवन की सम्पन्नता में निहित है। भौतिक तत्वों की जानकारी उनका उपयोग तथा भौतिक सम्पदा को बढ़ाने वाली क्रियाओं का ज्ञान इस उद्देश्य के अन्तर्गत आता है।

प्राणमय् कोष

भौतिक स्व से उच्चतम प्राणमय स्व है। इसी प्रकार भौतिक जगत से ऊपर प्राणि-जगत आता है। जब तक शरीर स्वस्थ नहीं, हड्डियाँ मजबूत नहीं, रक्त संचार ठीक प्रकार से नहीं होता, श्वास प्रकिया ठीक नहीं चलती तब तक आनन्द कहाँ? इस प्रकार शरीर का रख-रखाव तथा प्राणि-जगत एवं जीव-जगत का अध्ययन शिक्षा का दूसरा उद्देश्य है। अर्थात् बालक का शारीरिक विकास शिक्षा का उद्देश्य है।

मनोमय् कोष

प्राणमय कोष से भी सूक्ष्म हमारी मनन् शक्ति है। जिसे मनोमय कोष कहा जाता है। इसी के कारण मनुष्य अन्य जीवधारियों से उच्च है एवं भिन्न है। उसके पास मन होता है विचार करता है तथा स्मरण रख सकता है, कल्पना कर सकता है, पुराने अनुभवों को नई परिस्थितियों में उपयोग कर सकता है ज्ञान का वर्गीकरण विश्लेषण व संचयन कर सकता है।
इस प्रकार शिक्षा का तीसरा उद्देश्य बालक का मानसिक विकास है मानसिक विकास के अन्तर्गत प्रत्ययों का निर्माण, मानसिक दक्षताओं का विकास, तथ्यों का संश्लेषण, भाषा सम्बन्धी योग्यताओं का विकास, परिवेश की जानकारी इत्यादि। अत: शिक्षा उद्देश्य का संबंध ज्ञानात्मक विकास से भी है।

विज्ञानमय कोष

मनोमय आत्मा से एक सीढ़ी ऊपर विज्ञान मय आत्मा है। तथ्यों का पता तो मन से लगाया जा सकता है, परन्तु प्रेयस एवं श्रेयस् के बीच निर्णय मन द्वारा नहीं किया जा सकता।

जीवन में अनेक निर्णय बुद्धि के बिना नहीं लिए जा सकते। अत: शिक्षा का चतुर्थ उद्देश्य बालक का बौद्धिक-विकास है। ताकि वह सद्-असद् तथा प्रेयस्-श्रेयस् के बीच अन्तर कर सके। सृष्टि-सम्बन्धी इन्द्रिय-जनित ज्ञान को विकसित, परिष्कृत तथा विवेकयुक्त बनाने के लिए बुद्धि की आवश्यकता होती है।

आनन्दमय् कोष

सबसे ऊपर आनन्दमय आत्मा का स्थान है इस स्थिति में ज्ञाता ज्ञेय ज्ञान के बीच सारे भेद मिट जाते है। आनन्द का वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह अनुभतिजन्य है। इस अवस्था में व्यक्ति का विवेक इस प्रकार विकसित हो जाता है कि प्रेयस् एवं श्रेयस् का भेद सहज ही हो जाता है। यही आनन्दमय स्थिति है इसी को मुक्ति कहा जाता है और इसी का नाम आत्मानुभूति है, जो शिक्षा का सर्वोच्च लक्ष्य है

जैसा कि उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निम्नतर चार उद्देश्य साधन के रूप में प्रयुक्त होते है। उपनिषत्कार साधनात्मक तथा साध्य में अन्तर तो करते हैं, परन्तु तात्कालिक उद्देश्यों की उपेक्षा नहीं करते।

तैत्तिरीयोपनिषद् में पुन: एक बार अपने विद्यार्थी को दीक्षान्त भाषण देते हुए सलाह दी गई है-"भूत्यै न प्रमदितव्यम्। कुशलातन्नप्रमदितव्यम्।"

अर्थात हित तथा कल्याण की उपेक्षा मत करना। दूसरे शब्दों में छात्र को यह उपदेश दिया गया है कि आत्महित भी जीवन का एक महत्वपूर्ण पक्ष है।

उपनिषदों में आत्मा की चार अवस्था का संकेत है।

1. **जाग्रत अवस्था:-** यह चेतना की पहली अवस्था है। इस अवस्था में चेतना को वैश्वानर कहते है।
2. **स्वप्न की अवस्था:-** यह दूसरी अवस्था है इस अवस्था में ज्ञान का विषय आंतरिक होता है। इस अवस्था में ज्ञान का विषय आंतरिक होता है इस अवस्था में ज्ञान चेतना को "तेजस" कहते है।
3. **सुषुप्तावस्था:-** सुषुप्ति की अवस्था में जीवात्मा प्रज्ञा कहलाता है। इस अवस्था में आत्मा बाह्य और आन्तरिक किसी विषय का उपभोग नहीं करता, केवल आनन्द का उपभोग करता है। इस अवस्था की चेतना प्रज्ञा कहलाती है।
4. **तुरीयावस्था:-** यह आत्मचेतना की अवस्था है। इस अवस्था में जीवात्मा को आत्मा कहा जाता है। यह शुद्ध चैतन्य है। इसी आत्मा को परम्-तत्व माना गया है। तुरीयावस्था की आत्मा ब्रह्म है।

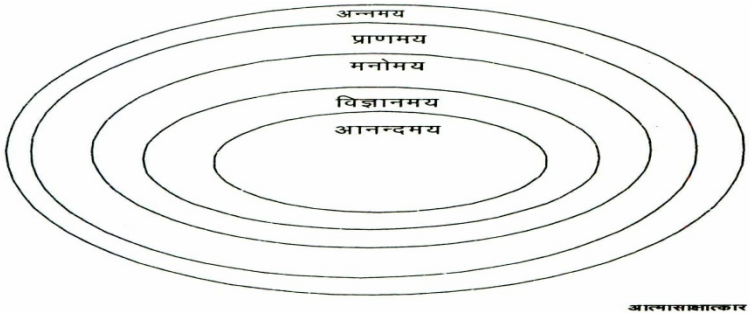

शैक्षिक उद्देश्य के सोपान

उपनिषद का महत्वपूर्ण विषय ब्रह्म है अत: शिक्षा का उद्देश्य ब्रह्मनुभूति भी स्वीकार किया जाना चाहिये। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म ही परम तत्व है, वह जगत की आत्मा है, ब्रह्म ही विश्व का कारण है इसी में विश्व उत्पन्न हुआ है, इसी में विश्व विलीन हो जाता है, ब्रह्म जगत का आधार है, ब्रह्मनुभूति के पांच सोपान निम्नलिखित है:-

प्रथम सोपान:- व्यक्ति स्वयं को आत्मा से पृथक समझते हुए अपने अन्दर आत्मा की अनुभूति करता है आत्मा के रहस्य का समझता है। वृहदारण्यक उपनिषद का वाक्य -

"आत्मा अरे दुष्टव्य" इसी सोपान का सूचक है। जब गुरु शिष्य को बाह्य जगत का अध्ययन करने का आदेश देता है, सर्व खलु इदं ब्रह्मा यह समग्र विश्व ब्रह्म है।

द्वितीय सोपान:- यह अनुभव करना कि हम आत्मा ही है।

वृहदारण्यक उपनिषद का वाक्य-

"'आत्मानं विजावीयाद् यमस्मीति पुरूष:" इसी सोपान का सूचक है।

तृतीय सोपान:- इस सोपान में यह अनुभव किया है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही है। 'अयात्मा ब्रह्म' इसी सोपान का सूचक है।

चतुर्थ सोपान:- इस सोपान में मैं ब्रह्म हूँ या तुम ब्रह्म हो। "अहं ब्रह्मस्मि या तत्वमसि' का अभिप्राय यही है।

पंचम सोपान:- अन्दर और बाहर विषय और विषयी सभी ब्रह्म हैं। समस्त जगत् ही ब्रह्म है। छन्दोग्य उपनिषद का वाक्य "सर्व खल्विदं ब्रह्म" इस सोपान का सूचक है।

शिक्षा का लक्ष्य छात्र को शनै: शनै: एक सोपान से दूसरे सोपान पर चलने की प्रेरणा देता है। शिक्षा का चरम उद्देश्य या परम लक्ष्य ब्रह्मनुभूति है। आत्मासाक्षात्कार या ब्रह्मनुभूति के मार्ग पर चलने से व्यक्तित्त्व का विकास होता है चरित्र का निर्माण होता है, मानव समाज में एकता की भावना का विकास होता है। आध्यात्मिकता के मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति के कार्य में कुशलता आती है और इस प्रकार व्यावसायिक कुशलता के लिए भी आध्यात्मिकता का होना आवश्यक है।

3.6.2 पाठ्यक्रम

उपनिषदों में जिस आत्म तत्व, ब्रह्म, जीव जगत आदि की विवेचना की गई है उनका सम्यक् ज्ञान पाठ्यक्रम के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। उपनिषदों में ज्ञान को दो भागों में विभक्त किया गया है जिसे अपरा एवं परा माना गया है।

"अपरा विद्या" इस दृश्यमान जगत तथा आत्मा को धारण करने वाले शरीर से सम्बन्धित है तथा "परा विद्या", आत्म ज्ञान अथवा ब्रह्म ज्ञान से सम्बन्धित है। उपनिषदों का वर्णन विषय आत्मज्ञान होने के कारण पराविद्या की महत्ता प्रदर्शित की गई है। परन्तु तैजिरीयोपनिषद् में शिक्षक द्वारा यह उपदेश दिलवाया गया है कि "भूत्यै न प्रमदितव्यम् कुशलान्न प्रमदित्त्वयम्" अर्थात् व्यक्तिगत हित तथा समृद्धि की उपेक्षा मत करना। इससे ये अभिप्रेरतार्थ निकलता है, उपनिषत्कार का आग्रह इस बात पर है कि साधन को साधन माना जाऐ, उसे ही लक्ष्य न बना लिया जाऐ।

छन्दोगय उपनिषद के अनुसार चतुर्वेदों के अतिरिक्त इतिहास पुराण (पंचमवेद) पित्रयराशि, निधि वाकोवाक्य एकायन, वेद विद्या, भूत विद्या, ब्रह्मविद्या, क्षत्र विद्या, नक्षत्र, सर्प विद्या एवं देव यत विद्या आदि अध्ययन के प्रमुख विषय होने चाहिये। विद्याओं कलाओं व विएषाद के अतिरिक्त उपनिषदों में परा विद्या (वेदान्त) का पर्याप्त विवेचन मिलता है। ब्रह्मसूत्र में 32 प्रकार की ब्रह्म विद्याओं का उल्लेख है। जैसे सद् विद्या, साण्डिल्य विद्या, अन्तरादित्य विद्या, आकाश विद्या, प्राण विद्या, इन्द्रप्राण विद्या, नेश्वरनर विद्या, भूमि विद्या, मार्गयाक्षर विद्या, प्रानोवारय विद्या, अंगूष्ठ विद्या, अज शारीरिक विद्या, मैत्रियी विद्या, दुहिन रूद्रादि, शारीरिक विद्या आदि का उल्लेख है। उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित पाठ्यक्रम की विशेषता यह है कि पाठ्यक्रम का प्रत्येक विषय तथा प्रत्येक इकाई आत्मा को उन्नत करने के उद्देश्य करने के उद्देश्य से जुडी हुई है। अध्ययन-अध्यापन के हर पद पर आत्मानुभूति का लक्ष्य सामने रहना चाहिये, फिर चाहे भौतिक शान प्राप्त किया जाए या चाहे कलाओं का अनुसरण किया जाए।

स्वमूल्यांकन प्रश्न

1 उपनिषदों के अनुसार कोष कितने है?
2 आत्मा की कितनी अवस्थाएँ है? इनके नाम लिखिए।
3 ब्रह्मनुभूति के कितने सोपान हैं?
4 छंदोग्य उपनिषद के अनुसार पठनीय विषयों के नाम लिखिये।

3.6.3 शिक्षण विधियाँ

औपानिषदिक् दार्शनिकों ने समय के अनुसार, समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप छात्र की रूचि तथा क्षमता के अनुसार शिक्षण विधियों की खोज की थी। उनके द्वारा प्रयुक्त शिक्षण विधियाँ निरपेक्ष नहीं थी। वे लक्ष्य सापेक्ष थी।

छात्रों के मस्तिष्क को ब्रह्म सामग्रियों के अनुकूल करने हेतु प्राचीन भारत में दृश्य या मौखिक प्रविधियाँ प्रचलित थी। इन्हें मौखिक पाठ्यवस्तु विधि, व्याख्याविधि कंठस्थलीकरण विधि, संबोधविधि विचार-विमर्श विधि, प्रश्नोत्तर तालिका विधि, अन्वेष्ण विधि, आगमन विधि, सूत्र विधि, व्युत्पति विधि, साम्य विधि, संश्लेषण विधि, कथा प्रणाली (स्वगत कथन), प्रयोग विधि, प्रयोजन विधि, नायक विधियाँ प्रमुख थी।

शिक्षण विधियों के मनोवैज्ञानिक आधारों के अन्तर्गत प्राचीन भारत में मौखिक शिक्षण प्रणाली कंठस्थलीकरण के रूप में प्रचलित थी। संबोधाविधी के माध्यम से प्रत्यय निर्माण करवाया जाता था। वैदिक युगीन व्याख्या विधियाँ मनोविज्ञान सम्मत थी। उपनिषद्कारों की यह दृढ़ धारणा है कि ज्ञान व्यक्ति स्वयं के प्रयास से ही प्राप्त कर सकता है दूसरों द्वारा प्रदत ज्ञान शाब्दिक रूप से ग्रहण किया जा सकता है, परन्तु उसे आत्मसात् नहीं किया जा सकता।

3.6.4 उपनिषदों में शिक्षक शिक्षार्थी संबंध

उपनिषदों में विद्यार्थी की कल्पना उस ज्ञान पिपासु से की है। जिसमें ज्ञान प्राप्त करने की उत्कृष्ट अभिलाषा है शिक्षा ग्रहण करने के लिए आयु की कोई सीमा नहीं है, ज्ञान प्राप्ति का समय भी निश्चित नहीं है। उपनिषत्कार अनिवार्य शिक्षा में विश्वास नहीं करते। अनिच्छा से

शिक्षा प्रदान नहीं की जा सकती। छात्र के मन में शिक्षा ग्रहण करने की प्रेरणा उत्पन्न होनी चाहिये। शिक्षक को यह स्वायतता है कि वह जिसे चाहे उसे शिष्य के रूप में स्वीकार करें और जिसे योग्य शिष्य न समझें, उसे स्वीकार न करें। विद्यार्थी से गुरु के प्रति समर्पण भाव की अपेक्षा की गयी है, उपनिषत्कारों के अनुसार ज्ञान में अतुल शक्ति निहित होती है। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् शिष्य की शक्ति भी शिक्षक जितनी हो जाती है। शिक्षक-शिक्षार्थी संबंधो मे निम्न सूत्र मार्गदर्शन का कार्य करता है।

सहनाववतुः-एक दूसरे की रक्षा करें।

सहनो भुनस्तु:-अर्जित ज्ञानोपलब्धियाँ तथा सिद्धियों का मिलजुलकर उपयोग करें।

सहवीर्य करवाव:-एक दूसरे की शक्ति में वृद्धि करें।

तेजस्विनावधीतमस्तु - हमारा अध्ययन हम दोनों को तेजस्वी बनाए।

मावि द्विषाव- हम एक दूसरे से ईर्ष्या न करे।

शिक्षक-शिष्य सम्बन्धों का इतना उदार तथा भव्य विवेचन अन्यत्र मिलना कठिन है। नैतिक जीवन के परिपालन में शिक्षक और छात्र दोनों का समान दायित्व है। शिक्षक छात्र से क्या अपेक्षाएं रखता है। इसका वर्णन तैतिरीयोपनिषद् में किया गया है। वह इस प्रकार है-

"अध्ययन तथा सम्भाषण में सदाचारी बनना। अध्ययन के साथ-साथ तप, दम (इन्द्रिय निग्रह) शम (मन का नियन्त्रण) आतिथ्य, विनम्रता, आश्रितों की रक्षा, वीर्य की रक्षा, तथा संतति पालन आदि का ध्यान रखना"। "सत्य बोलना, अध्ययन की उपेक्षा मत करना, समृद्धि की उपेक्षा मत करना, अध्ययन में प्रमाद मत करना।"

"हमारे अन्दर जो भी अनुकरणीय आचरण हों, उनका अनुसरण करना तथा अन्य का नहीं।"

3.6.4 उपनिषदिक शिक्षा का महत्व

उपनिषदिक शिक्षा किसी काल विशेष की शिक्षा प्रणाली नहीं है अपितु इसके सिद्धान्तों का प्रयोग सार्वकालिक हैं क्योंकि उसके प्रश्न आत्मा के प्रश्न से जुड़े है। आत्मा की उत्तरोतर अवस्थाओं का जो वर्णन पंच कोषों के अन्तर्गत किया गया है; वह आज भी शिक्षा के उद्देश्यों का सही सोपान प्रस्तुत करता है। आज हमें आजीविका, स्वास्थ्य, ज्ञान विज्ञान नैतिक जीवन के विकास की शिक्षा चाहिये तथा इसी प्रकार आगामी युगों में ये उद्देश्य उतने ही सार्थक रहेगें।

शिक्षक शिक्षार्थी संबंधों का जो स्वरूप उपनिषदों में वर्णित है, वह किसी भी समाज व किसी भी युग के लिए आदर्श सम्बन्धों की परिकल्पना है। आज के युग की छात्रानुशासन विभीषिका को कम करने का एक मात्र उपाय शिक्षक शिक्षार्थी सम्बन्धों को बेहतर बनाना है। उपनिषदों में विवेचित शिक्षक शिष्य सम्बन्ध इसका एक आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

उपनिषदों में वर्णित अनेक शिक्षण-विधियाँ आज भी आधुनिक शिक्षण-विधियाँ के रूप में प्रयुक्त होती है। उपनिषदिक शिक्षण विधि का मूल मंत्र स्वयं अध्ययन प्रणाली है, जो आधुनिक शिक्षण का मूल मन्त्र है।

3.7 सारांश

उपनिषद भारतीय दर्शन के बीज हैं। वेद और उपनिषद की विचारधारा में बहुत अंतर है। उपनिषद में ज्ञान कांड की प्रधानता है। उपनिषद के अनेकों अर्थ बनते है, परन्तु_ ज्ञान की प्राप्ति और अज्ञान का नाश इसका मूल अर्थ है। उपनिषदों की संख्या 108 है, परन्तु इसमें से 10 उपनिषद मुख्य है। उपनिषदों के काल में विभिन्न मतभेद है अत: इनका काल निश्चित रूप से कहना कठिन हो जाता है। उपनिषदों का प्रमुख एवं प्रतिषद् विषय आत्मा है। आत्मा का ज्ञान अन्त:करण की शुद्धि द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। भारतीय दार्शनिक चिन्तन का मुख्य स्रोत उपनिषद है। इसके अनुसार ज्ञान उसे ही देना चाहिए जो इसके योग्य हो। भिन्न - भिन्न उपनिषदों में शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या की गई है। परन्तु सबका आशय आत्म-ज्ञान ही है। उपनिषद का महत्वपूर्ण विषय ब्रह्म है अत: शिक्षा का उद्देश्य ब्रह्मनुभूति स्वीकार किया जाना चाहिए। उपनिषदों में जिस आत्म तत्व, ब्रह्म, जीव जगत आदि की विवेचना की गई है, उनका सम्यक् ज्ञान पाठ्यक्रम के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसमें छात्र की रूचि अनुसार ही शिक्षण विधियों की खोज की गई। शिक्षक - शिष्य सम्बन्ध का इतना उदार तथा भव्य विवेचन अन्यत्र मिलना कठिन है। उपनिषद 'शिक्षण विधि का मूल मंत्र स्वयं अध्ययन प्रणाली है: जो आधुनिक शिक्षण का मूल मंत्र है।

3.8 मूल्यांकन प्रश्न

1. ब्रह्मनुभूति व आत्मसाक्षात्कार में क्या अन्तर है?
2. औपनिषदिक पाठ्यक्रम की विवेचना कीजिए?
3. औपनिषदिक शिक्षण विधि का मूल्यांकन कीजिए?
4. प्रमुख उपनिषदों के वर्ण्य विषय बताइये?
5. उपनिषदों के विषयों को विस्तार से समझाइये?
6. उपनिषद ब्रह्म और आत्मा में किरन प्रकार तादात्मय स्थापित करती है?
7. उपनिषदों के अनुसार आत्म संबंधी विचार की व्याख्या कीजिए?
8. उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या कीजिए?
9. ब्रह्मनुभूति व आत्मसाक्षात्कार में क्या अन्तर है?

3.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. पाण्डेय, रामशक्ल: शिक्षा दर्शन, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा 1990
2. पाण्डेय, रामशक्ल: शिक्षा वर्तमान सन्दर्भ में, बोहरा पब्लिर्शस ,सिविल लाईन्स इलाहाबाद, 1991
3. ओड. एल. के.: शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1970
4. उपाध्याय बलदेव भारतीय दर्शन शारदा मन्दिर 1960

5. Sharma D.S. The Upanishads- An Anthology, Bomby: Bhartiya Vidhya Bhawan, 1961
6. Radha Krishan S.: The Principal Upanishads CGrege Allen, & Union Lted. London 1953
7. Radha Krishan S.: Indian Philosophy, volume I & II, London Allen. & Union Lted.1927
8. मिश्र उमेश: भारतीय दर्शन हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, 1964
9. दीवान चन्द्र: दर्शन संग्रह: प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश 1958
10. बेलियम उपनिषद 3.1
11. केन उपनिषद 3.4
12. मुण्डकोपनिषद 2/2/8
13. चट्टोपाध्याय एवं दत्ता पुस्तक भण्डार पब्लिकेशन्स हाउस पटना
14. चौबे एस.पी.- शिक्षा के दार्शनिक व समाजशास्त्रीय आधार इन्टरनेशनल पब्लिकेशन हाउस मेरठ

इकाई -4

गीता के शैक्षिक निहितार्थ

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 गीता के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य

4.3 गीता के अनुसार शैक्षिक व्यक्ति के लक्षण

4.4 शिक्षक शिक्षार्थी सहसंबंध

4.5 शिक्षक के लिए बाल प्रकृति का अध्ययन

4.6 शिष्य में अपेक्षित योग्यताएँ

4.7 शिक्षक में अपेक्षित योग्यताएँ

4.8 गीता व पाठ्यक्रम

4.9 गीता व शिक्षण विधियाँ

4.10 गीता का शैक्षिक निहितार्थ

4.11 गीता के अनुसार जनतंत्रात्मक शिक्षा

4.12 शिक्षा दर्शन के निर्माण में गीता का महत्व

4.13 सारांश

4.14 मूल्यांकन प्रश्न

4.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययनोपरान्त विद्यार्थी :-

- गीता के अनुसार शिक्षा के उद्देश्यों को जान सकेंगे।
- गीता के अनुसार शिक्षक-शिक्षार्थी के सहसंबंध को समझ सकेंगे।
- शिक्षक के लिए बाल प्रकृति के अध्ययन की आवश्यकता को समझ सकेंगे।
- गीता के अनुसार शिक्षक व शिष्य में अपेक्षित योग्यताओं को समझ सकेंगे।
- गीता के शैक्षिक योगदान को स्पष्ट कर सकेंगे।
- गीता के अनुसार जनतंत्रात्मक शिक्षा की विवेचना कर सकेंगे।
- शिक्षा दर्शन के निर्माण में गीता के महत्व को जान सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

गीता महाभारत का एक अंश है। जिसमें सद्गुरु श्री कृष्ण द्वारा शिष्य के प्रतीक रूप में अर्जुन को शिक्षा दी गई है। शिक्षा दर्शन की दृष्टि से गीता अमूल्य निधि है क्योंकि इसमें सभी प्रचलित दार्शनिक मान्यताओं तथा सिद्धान्तों का समाहार मिलता है। भारतीय शिक्षा दर्शन का सार यदि कही देखना है तो वह गीता में दिखाई देता है।

भारतीय दर्शनों में दो प्रमुख प्रवृतियाँ दिखाई देती है। निवृति मार्ग तथा प्रवृत्ति मार्ग शिक्षा की दृष्टि से प्रवृत्ति मार्ग का महत्व अधिक है। निवृत्ति मार्ग सम्भवत: सन्यासाश्रम के लिए उपयुक्त है। गीता में प्रवृति मार्ग की विशेष रूप से पुन: स्थापना की गई है। अतएव शिक्षा देने के लिए रणभूमि का चयन किया गया जहाँ प्रवृत्ति की प्रधानता है।

गीता के शान की व्याख्या इस प्रकार की है जिसके द्वारा सभी प्राणियों में केवल एक निर्विकार भाव देखा जाता है तथा विविधता में जहाँ एकता दिखाई देती है उसी को सात्विक ज्ञान कहा जाता है। अर्थात् ज्ञान प्राप्ति का लक्ष्य न केवल मनुष्य जगत की एकता को पहचानता है अपितु सम्पूर्ण जगत में दिखाई देने वाली भिन्नताओं के अन्तराल में छिपे हुए सर्वात्मा की अनुभूति करता है जो केवल एकमात्र सत्ता है।

ज्ञान की व्याख्या में ही शिक्षा की परिभाषा निहित रहती है। उपयुक्त व्याख्या के सन्दर्भ में यदि शिक्षा की परिभाषा दी जाए तो गीता के अनुसार शिक्षा वह है जो प्रत्येक व्यक्ति के निहित ब्रह्म अथवा परमात्मा की अनुभूति करने में सहायक होती है। आत्मा की अनुभूति शिक्षा के द्वारा ही हो सकती है। जिसके ज्ञानचक्षु खुल गए है वह ही इस अन्तरात्मा के दर्शन कर सकते हैं मोहस्थ प्राणी नहीं। सब प्राणियों में विद्यमान परमात्मा के दर्शन बिना ज्ञान के सम्भव नहीं है।

4.2 गीता के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य

शिक्षा का लक्ष्य मनुष्य को उस अज्ञान से मुक्त करना है, जो भेद उत्पन्न करने वाला है तथा आत्मानुभूति बाधक है तथा उसे उस प्रकाश में ले जाता है जो भेद में अभेद का दर्शन करवाता है, जो सभी प्राणियों में संस्थित परमात्मा की अनुभूति करवाता है।

अन्य भारतीय दर्शनों के समान ही गीता का आग्रह भी मनुष्य को वह आध्यात्मिक मुक्ति दिलवाना है जिसके द्वारा समग्र व्यक्तित्व का रूपान्तरण हो जाता है जिसके फलस्वरूप मानवीय प्रकृति, दैवीय प्रकृति बन जाती है। नैतिक आचरण सहज बन जाता है तथा ईश्वर के साथ समरसता हो जाती है। मुक्ति आत्मा ईश्वरीय ज्ञान से अभिप्रेरित होता है तथा देवी संकल्प में कर्म करता है। उसकी बुद्धिकृत प्रकृति का दैवी प्रकृति में समाहार हो जाता है। मुक्ति इस जगत से परे नहीं है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए मानवीय जीवन के तनावों को नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है, अपितु इन्हें रूपान्तरित करने की आवश्यकता है। मुक्ति से मनुष्य का शरीर, मन, इन्द्रियां आदि नष्ट नहीं हो पाते है। अपितु इस प्रकार शुद्ध हो जाते है कि उनके माध्यम से ईश्वरीय ज्योति के दर्शन किए जा सकते है।

शिक्षा के वैयक्तिक एवं सामाजिक उद्देश्य का विवेचन गीता में मिलता है। रणभूमि में दोनों सेनाओं के मध्य खड़े हुए अर्जुन की मानसिक स्थिति व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं सामाजिक कर्तव्य के बीच झूलती सी दिखाई देती है। एक तरफ क्षत्रिय होने के नाते सामाजिक कर्तव्य उससे अपेक्षा करता है कि उसे युद्ध करना चाहिए क्योंकि वह क्षत्रिय है। उसे व्यर्थ का मानसिक तर्क-वितर्क छोड़ देना चाहिए कि उसके लिए क्या उचित तथा क्या अनुचित, परन्तु अर्जुन इस प्रकार की मानसिक शान्ति प्राप्त करना नहीं चाहता। वह अपने आपको एकदम अकेला तथा असहाय पाता है। क्षत्रिय कर्तव्य का पालन करके उसे आन्तरिक शान्ति मिल सकती है परन्तु

उसे ग्रहण नहीं करके वह मानसिक पीड़ा को भोगना पसन्द करता है। यदि वह सामाजिक कर्तव्य के प्रति अपने आपको समर्पित कर देता है तो उसमें निहित अद्‌वितीय शक्तियों को प्रतीत उसे कैसे होती? उनका आत्मा प्रत्यय कैसे बन पाता? उसके व्यक्तित्व का विकास अवरूद्ध हो जाता है। इस प्रकार यद्‌यपि गीता में सामाजिक कर्तव्य से ऊपर वैयक्तिक स्वतन्त्रता को स्थान दिया गया है परन्तु आगे हम देखते है कि अर्जुन युद्ध अवश्य करता है तथा क्षत्रिय धर्म का निर्वाह भी करता है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता एवं सामाजिक आदर्श के मध्य समन्वय इसी में प्रकट होता है।

गीता के अनुसार मनुष्य को निर्णय लेने की स्वतन्त्रता है, कर्म करने की स्वतन्त्रता है तथा यद्‌यपि स्वतन्त्रता के फलस्वरूप मनुष्य अकरणीय नहीं कर सकता। प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर वासुदेव (ईश्वर) निवास करता है और जब व्यक्ति अन्तःकरण की प्रेरणा से कोई कर्म करता है तो उसके पीछे ईश्वरीय प्रेरणा छिपी रहती है। चूंकि सभी प्राणियों में वही ईश्वर विद्‌यमान है। इसलिए स्वभाव अथवा स्वधर्म की सहज प्रवृति से प्रेरित मनुष्य का कर्म सामाजिक अहित का कारण बन ही नहीं सकता। जब व्यक्ति सामाजिक कर्तव्य की भावना से कोई कार्य करता है तो उससे न केवल उसका व्यक्तित्व अविकसित रहता है अपितु उनमें अहंकार भाव प्रविष्ट कर जाता है। कर्तव्य हम किसी अन्य के लिए नहीं करते हैं। कर्तव्य हमारा सामाजिक दायित्व नहीं है अपितु अपने आप के प्रति दायित्व है। दूसरे शब्दों में वह दायित्व अपने में निहित भगवान के प्रति हम पूरा करते हैं। ऐसा न करने पर समाज की विशेष हानि नहीं होती है परन्तु अन्तःकरण की आवाज के प्रति अनुवरित होने से हमारा विकास रूक जाता है।

कर्तव्य सापेक्ष होता है। प्रत्येक अवस्था अथवा प्रत्येक परिस्थिति में कर्तव्य एक समान नहीं होता। कर्तव्य मानव विकास का वह मार्ग है जो मनुष्य को अपूर्ण वर्तमान से भावी उच्चतर पूर्ण की ओर बढ़ने में सहायक होता है। गीता के अनुसार कर्तव्य हम सबमें विद्‌यमान परमात्मा के प्रति समर्पण है। कर्तव्य करके किसी फल की इच्छा नहीं रखी जाती, परन्तु निर्लिप्त भाव से परिणाम की चिन्ता करे बिना कर्म किया जाता है व्यक्ति अपने खुद के लिए कर्म करता है न कि दूसरे की भलाई के लिए। गीता के अनुसार, कर्तव्य मानवीय कर्म नहीं, अपितु देवी कर्म है। सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करने के लिए कर्म नहीं किया जाता परन्तु हमारी प्रकृति के माध्यम से ईश्वरीय संकल्प की निःस्वार्थ भाव से परिपूर्ति है। जिसमें कर्तव्य के अन्य सभी मापदण्डों का त्याग कर दिया जाता है।

इस प्रकार गीता के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक को सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करना ही सिखाना नहीं है। अपितु अंतरात्मा की आवाज को सुनने, समझने एवं उसकी अनुसरण करने की योग्यता प्रदान करता है सामाजिक दायित्व एवं काल देश-सापेक्ष होते है। परन्तु अंतरात्मा उसे विवेक से परखने की योग्यता प्रदान करता है। प्रत्येक समाज सम्मत व्यवहार, शुभ सत् और न्यायोचित ही नहीं हो सकता। बहुमत द्‌वारा अनुमोदित या सर्वानुमोदि कानून भी देवी प्रकृति के विपरीत पास किया जाता है। शिक्षा द्‌वारा ऐसे व्यक्ति तैयार होने चाहिए जो अंतरात्मा की आवाज को सुन सके, पहचान सके तथा सामाजिक अन्याय का विरोध कर सके।

गीता के अनुसार व्यवहार की कसौटी समाज द्वारा मान्य व्यवहार नहीं अपितु अन्तरात्मा की प्रकृति के अनुरूप व्यवहार है।

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि विभिन्न व्यक्तियों की प्रकृति भिन्न-भिन्न हो सकती है और कभी-कभी व्यवहार मे अन्तःकरण की प्रकृति भी भिन्न-भिन्न रूप से अभिव्यक्त होती है। ऐसी परिस्थिति में यह कैसे तय किया जाए कि न्यायोचित व्यवहार क्या है तथा किसके व्यवहार मे देवी प्रकृति प्रस्फुटित हो रही है। गीता के अनुसार हम सबकी अन्तरात्माएं समान है क्योंकि उन सभी में वही ईश्वरीय सत्ता विद्यमान है जिस प्रकार किसी नाटक के विभिन्न पात्र विभिन्न प्रकार की भूमिका निभाते है परन्तु वह सभी नाटक के एक सामान्य उद्देश्य की परिपूर्ति में सहायक होते हैं। उसी प्रकार विभिन्न व्यक्ति पृथक-पृथक मार्ग का अनुसरण करते हुए सृष्टि के एक मात्र लक्ष्य की पूर्ति में सहयोग देते हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी अन्त:आत्मा के आदेशानुसार जो भी कर्म करता है उसके द्वारा वह उसी सत्ता के लक्ष्य की पूर्ति करता है।

4.3 गीता के अनुसार शैक्षिक व्यक्ति के लक्षण

जिस व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त हो गया है तथा जिसने ज्ञान को आत्मसात कर लिया है। वह जीवन-चक्र से मुक्त कहलाता है। गीता में उसे स्थिर बुद्धि वाला अथवा स्थिर प्रज्ञ कहा गया है। भगवत गीता में स्थिर प्रज्ञ के लक्षण इस प्रकार बतलाये गए है :-

स्थिर बुद्धि वाला मनुष्य सभी कामनाओं का त्याग कर देता है तथा अपने आप में सन्तुष्ट रहता है। दुःखों में वह सुख नहीं होता सुखों की स्पृहा नहीं करता। वह राग, भय एवं क्रोध का त्याग कर देता है। स्थिर प्रज्ञ व्यक्ति अनुकूल प्रतिक्रिया की सराहना नहीं करता एवं प्रतिकूल प्रतिक्रिया के प्रति द्वेष भाव नहीं रखता अर्थात् जिसकी वृति में तटस्थ भाव उत्पन्न हो गया है। जो शुभ-अशुभ तथा शत्रु-अशत्रु के प्रति समभाव रखता है। वही स्थिर प्रज्ञ है। ज्ञानी व्यक्ति इन्द्रियजनित विषयों में मोहासक्त नहीं होता अर्थात् उनके प्रति अनाशक्त हो जाता है। गीताकार आगे स्पष्ट करता है कि विषयों का परिहार विवशतापूर्वक नहीं किया जाना चाहिए अपितु विषयों के उपलब्ध होते हुऐ भी उनके प्रति उदासीन होना, इतनी का लक्षण है। विषयों के सेवन से मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है क्योंकि एक विषय दूसरे विषयों को जन्म देता जाता है विषयों के प्रति आसक्ति मन में कामना उत्पन्न करती है। कामना से क्रोध, क्रोध से सम्मोह,सम्मोह से स्मृति विभ्रम और स्मृति-विभ्रम से बुद्धि का नाश हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान, अज्ञान में परिणत होने लगता है ज्ञानी राग, द्वेष रहित तथा अपने वशीभूत इन्द्रियों द्वारा विषयों का उपभोग कर सकता है। इससे उसे शान्ति प्राप्त होगी और वह विषयों का उपयोग करते हुए भी विषयासक्त नहीं होगा। शान्ति प्राप्त होने पर शिक्षार्थी के सारे दुःखों का नाश होगा और वह विषयों का उपयोग करते हुए भी विषयासक्त नहीं होगा। शान्ति प्राप्त होने पर शिक्षार्थी के सारे दुःखों का नाश हो जाता है। अन्त में गीताकार कहता है सब प्राणियों के लिए जो रात्रि है ज्ञानी व्यक्ति उसमें जाग्रत रहता है तथा जिस समय सब लोग जागते हैं वह स्थिर प्रज्ञ के लिए रात्रि के समान है। अर्थात् अज्ञान रूपी अन्धकार में फंसे हुए अन्य लोग जब

विषयों में लिप्त रहते हैं उस समय ज्ञानी जन उनमें आसक्त नहीं होते। जो व्यक्ति सभी कामनाओं का त्याग करके भोगों के प्रति निस्पृह होकर विचरण करता है तथा जिसके मोह एवं अहंकार-भाव नष्ट हो गए हैं। वही व्यक्ति शान्ति प्राप्त करता है।

इस प्रकार शिक्षा के उद्देश्यों, आदर्शों एवं मूल्यों का अत्यन्त विशद तथा सुन्दर विवेचन गीता में किया गया है। आदर्श इतने महान तथा उच्च दिखाई पड़ते है कि कभी-कभी सामान्य शिक्षक के मन में एक निराशा घर करने लगती कि क्या इन उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव है। इस सम्बन्ध में यह नहीं भूलना चाहिए कि गीता के उद्देश्य केवल विद्यालय शिक्षा तक सीमित नहीं है, अपितु गीता की शिक्षा तो जीवन भर चलने वाली प्रक्रिया है। केवल एक जीवन तक ही नहीं अपितु जन्म-जन्मान्तर तक इसका प्रसार है। जीवन के लक्ष्य की ओर बढ़ने वाला व्यक्ति निरन्तर बढ़ता जाता है जब तक कि वह लक्ष्य तक पहुँच नहीं जाता। जिस स्तर तक एक जीवन में पहुँचा जाए उससे आगे दूसरे जीवन में कदम अग्रसर होते हैं। शिक्षा मृत्यु के साथ नष्ट नहीं हो जाती बल्कि अगले जन्म में भी लक्ष्य-प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करती है।

शिक्षा का लक्ष्य ही यदि दुर्बल तथा हल्का हो तो प्रगति अवरूद्ध हो जायेगी। लक्ष्य प्राप्ति के पश्चात् क्या गीता के अनुसार मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति से निरन्तर ऊपर उठना चाहता है। वर्तमान उसे अपूर्ण लगने लगता है और वह उस अपूर्णता से ऊपर उठकर पूर्णता की ओर अग्रसर होना चाहता है। यही प्रगति का द्योतक है। यदि वर्तमान ही पूर्ण लगने लगे तो प्रगति रूक जायेगी।

4.4 छात्र शिक्षक - शिक्षार्थी सहसंबंध

गीता में शिक्षार्थी के बाह्य शरीर तथा आत्मा दोनों ही को समान रूप से महत्व प्रदान किया गया है। ईश्वर के दो अंश है - एक सत् तथा दूसरा असत्। “सह” अंश से आत्मा की उत्पत्ति बतलाई गई है तथा "असत्" अंश से आत्मा को धारण करने वाले शरीर से युक्त प्राणियों की कर्मभूमि। इस भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति भी इसी "असत्" अंश से होती है। इस प्रकार बालक का शरीर भी उतना ही पवित्र तथा देवीय है। जितनी की उसकी आत्मा।

सभी प्राणियों में मनुष्य का स्थान सर्वोपरि है क्योंकि मानव शरीर में स्वयं भगवान भी अवतार ग्रहण करते हैं।

अवतार की कल्पना यह प्रमाणित करती है कि ईश्वर शारीरिक अभिव्यक्ति के खिलाफ नहीं है हम इस शरीर को धारण करते हुए भी चैतन्य की सम्पूर्ण शक्ति ग्रहण कर सकते हैं।

गीता के अनुसार अवतार भी एक और कल्पना है जो छात्र संकल्पना की दृष्टि से और भी अधिक महत्वपूर्ण है। गीता के अनुसार हममें से प्रत्येक के अन्दर देवत्व का वास है, जो कभी लुप्त नहीं होता। हम सब उस ईश्वरीय ज्योति से प्रकाशित है, जो जन्म-जन्मान्तर तक बनी रहती है। जिसे शस्त्र से नष्ट नहीं किया जा सकता। आग में जलाया नहीं जा सकता, पानी में गलाया नहीं जा सकता तथा सुखाया नहीं जा सकता। वह दिव्य ज्योति अव्यक्त है अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा उसको देखा नहीं जा सकता, अचित्य है, अर्थात् मन से इसे जाना नहीं

जा सकता, अविकारी है अर्थात् कर्मेन्द्रियों द्वारा भी इसकी अनुभूति नहीं की जा सकती। इस पर मृत्यु का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह ज्योति नित्य है।

अध्यापक के लिए छात्र की यह संकल्पना अविकारी है। उसके शिक्षार्थी पंच तत्वों के बने हुए शरीर-इन्द्रिय युक्त नामरूप प्राणी ही नहीं है। उनमें आत्मा का निवास है और वह आत्मा देवी है। अध्यापक उनके शारीरिक एवं ऐन्द्रिय विकास की भी उपेक्षा नहीं कर सकता क्योंकि शरीर भी देवीय है और वह दिव्य ज्योति की धारणा करने वाला है। जो अध्यापक ईश्वर में विश्वास करता है, जो अपने सभी छात्रों में उस ईश्वर की छवि देखता है। उसके छात्र उसके उपासना के पात्र होते हैं, घृणा तथा उपेक्षा के पात्र नहीं। छात्र का शरीर तो कर्मजनित है, अत: उनकी शारीरिक, इन्द्रिय एवं मानसिक शक्तियाँ भिन्न-भिन्न हो सकती है। परन्तु उसमें निहित आत्मा एक है। वे सब ईश्वर के प्रच्छन्न अवतार है। उनकी प्रसन्नता को हटाकर उनकी ज्योति को जगाना ही अध्यापक का कर्म है। प्रत्येक बालक में देवत्व है परन्तु वह प्रच्छन्न है और शिक्षा द्वारा ही उसको प्रकाश में लाया जा सकता है।

बालक प्रकृति से दुष्ट तथा पापी नहीं है क्योंकि उसकी प्रकृति तो दैवीय है, बाह्य दुष्टता अथवा पाप की प्रति छाया से वह आवृत दिखाई देता है, उसका कारण उसका अज्ञान है। ज्ञान के द्वारा उन सुप्त शक्तियों को जगाया जा सकता है और तब हम उसमें देवत्व का दर्शन कर सकते हैं।

4.5 शिक्षक के लिए बाल प्रकृति का अध्ययन

गीता के अनुसार प्रत्येक बालक अपनी प्रकृति (जन्मजात प्राकृतिक शक्तियों) के अनुसार शिक्षा ग्रहण करता है। अत: शिक्षक के लिए बालक की प्रकृति को समझना आवश्यक है गीता में कहा गया है :-

सदृशं चेष्टते स्वास्या: प्रकृतेज्ञनिवानापि।
प्रकृतियान्ति भूतानि, निगृह: कि करिष्यिति।।

ज्ञानी व्यक्ति ही अपनी प्रकृति के अनुसार आचरण करता है। सभी प्राणी अपने जन्मजात संस्कारों के अनुसार व्यवहार करते हैं। संयम अथवा इन्द्रिय निग्रह भी प्रकृति की इस प्रबल शक्ति को नहीं रोक सकी।

भगवत गीता में इस प्रवृति को 'स्वधर्म' अथवा 'सहजकर्म' कहा गया है तथा यह अपेक्षा की गई है कि बालक को शिक्षा उसके 'स्वधर्म' अर्थात् उसकी जन्मजात शक्तियों के अनुसार आयोजित होनी चाहिए।

सहजकर्म कौन्तेय सदोषमापि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवातृता:।।

अर्थात् सहजकर्म के दोष युक्त होने पर भी उसका त्याग नहीं करना चाहिए क्योंकि सभी आरम्भ किसी न किसी दोष से व्याप्त होता है। जिस प्रकार आग के साथ धुआं रहता है। शिक्षा के फलस्वरूप शनैः-शनै: दोषों का निवारण किया जाता है तथा अग्नि के समान ज्ञान रूपी तेज से शिक्षार्थी को तेजोमय बनाया जा सकता है।

नए ज्ञान को देने के पूर्व शिक्षार्थी मे उस ज्ञान को प्राप्त करने की अभिप्रेरणा होना आवश्यक है। कभी-कभी यह अभिप्रेरणा परिस्थिति-वश उत्पन्न होती है और कभी अध्यापक के प्रयास द्वारा सुषुप्त प्रेरणा को जाग्रत करना पड़ता है। कुरुक्षेत्र की युद्ध भूमि मे इसी प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती है। परिस्थितियों के कुचक्र में फंसकर अर्जुन मोहासक्त हो जाता है कृष्ण उसके 'सहज स्वभाव' के अनुरूप उसे कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं परन्तु परिस्थितियाँ इतनी उग्र है कि वह युद्ध करने के लिए तत्पर नहीं होता, परन्तु ज्ञान प्राप्त करने की स्थिति परिपक्व हो जाती है अर्जुन कहता है :-

कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव:
पृच्ध्गमि त्वां धर्मसम्पूदचेता:
यच्छ्रेय: स्यात्रिश्चितं बु हि तन्ये।
शिष्यस्तेअहं शाधि मां त्वां प्रपत्रम्।।

अर्थात् परिस्थितियों के कारण जो सहज भाव है वह तमसावृत है और कर्तव्य के सम्बन्ध में मन यह निश्चित नहीं कर पाता कि क्या करे और क्या नहीं। इन परिस्थितियों में उसे क्या करना चाहिए, इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए अर्जुन की मानसिक तत्परता जागृत हो चुकी है। इस स्थिति में वह कृष्ण को ज्ञान प्रदान करने के लिए प्रार्थना करता है।

अस्तु गीता इस बात को बलपूर्वक कहती है कि ज्ञान प्रदान करने से पूर्व छात्र को अभिप्रेरित करना आवश्यक है।

4.6 शिष्य में अपेक्षित योग्यताएँ

उपनिषदों के समान ही गीता का भी दृढ़मत है कि केवल सत्पात्र को ही ज्ञान प्रदान किया जाना चाहिए। शिक्षा प्राप्ति प्रत्येक का अधिकार है परन्तु शिक्षक का भी यह अधिकार है कि वह सत्पात्र को ही ज्ञान प्रदान करे एवं जो ज्ञान प्राप्त करने के लिए उचित पात्र नहीं है। उसे शिष्य के रूप में स्वीकार नहीं करे। गीता में सत्पात्र के निम्नांकित लक्षण कह गए है।

"शिष्यत्व ग्रहण करने के लिए छात्र में संयम तथा तप होना चाहिए, उसमे शिक्षक के लिए श्रद्धा होनी चाहिए। शिष्य ऐसा नहीं होना चाहिए जो अध्यापक के दोषों को देखता रहे।"

प्रत्येक व्यक्ति हर प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता नहीं रखता परन्तु शिक्षा प्राप्त करना उसका अधिकार है। गीता के अनुसार उसे उसकी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार शिक्षा देनी चाहिए। अज्ञानी की भर्त्सना करके उसे अपने कर्तव्य से विमुख करना शिक्षक के लिए उचित नहीं है।

गीता विद्यार्थी से यह अपेक्षा करती है कि विद्यार्थी सर्वतोभावेन शिक्षक के प्रति समर्पण भाव रहे। ज्ञान तथा अहंकार का मेल नहीं है। जिससे ज्ञान प्राप्त करना हो उसके प्रति विनायावनत् होना आवश्यक है।

"नमस्कार द्वारा, चर्चा द्वारा तथा सेवा द्वारा ज्ञान को प्राप्त कर तत्व-दृष्टा ज्ञानी-लोग तुझे उस ज्ञान का उपदेश देंगे।"

ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रद्धा आवश्यक है परन्तु श्रद्धा का आशय यह कदापि नहीं कि बिना प्रश्न किए अध्यापक की हर बात स्वीकार कर ली जाए। श्रद्धा और विनय के साथ ही

परिचर्चा आवश्यक है यदि मन में संशय रह जाए और उसका निवारण नहीं किया जाए तो शिक्षा प्राप्त नहीं की जा सकती। शिक्षक की अध्यापन क्षमता के सम्बन्ध में संशय रखने से भी शिक्षा प्राप्त नहीं की जा सकती है।

छात्र के मन में विश्वास होना चाहिए कि अध्यापक में ज्ञान प्रदान करने की पूरी सामर्थ्य है तथा उसकी सभी शंकाओं का निवारण करने की उसमे क्षमता है, तभी ज्ञान का आदान-प्रदान आरम्भ होता है। कि -

एतन्मे संशय कृष्ण, छेतुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्थास्य छेता न हु पपद्यते।।

अर्थात् हे कृष्ण! मेरे इस संशय को पूरी तरह से मिटाने में समर्थ और कोई नहीं है केवल आप ही मेरे संशय को दूर कर सकते है।

4.7 शिक्षक में अपेक्षित योग्यताएँ

जिस प्रकार विद्यार्थी से श्रद्धा, विनय, समर्पण आदि की अपेक्षा की गई है, उसी प्रकार शिक्षक से भी कुछ विश्वास उत्पन्न करे कि वे सफलता प्राप्त कर सकते है। बालक अनेक प्रकार की चिन्ताओं से व्यथित रहता है। शिक्षक का यह कर्तव्य है कि वह उसे चिन्ताओं से मुक्त करके सफलता का विश्वास दिलाए। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि

सर्वधर्मान्यरित्मज्य मामेकं शरण ब्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यों मोक्षामिष्यामि मा शुचः।।

अर्थात् अर्जुन सभी धर्मो (अन्य वृथा बातों) को छोड़कर मेरी शरण मे आ। मैं तुझे सभी पापों से मुक्ता करूँगा। चिन्ता मत कर।

शिक्षक विद्यार्थी में एक आशावाद उत्पन्न करता है। कृष्ण कहते है कि हे अर्जुन! मेरा शिष्य कभी कष्ट में नहीं रहता। दूसरे शब्दों में मेरा शिष्य कभी असफल नहीं होता। कितना बड़ा 'विश्वास है यह छात्र के लिए और उसके व्यक्तिगत के निर्माण में। यही विश्वास छात्रा के विकास के लिए आवश्यक है।

अध्यापक के मन में अपने छात्र के प्रति अनन्त प्रेम होना चाहिए। अपने छात्र के हित की उसके मन में कामना होनी चाहिए। छात्र के लिए जो कल्याणकारी है। उसी का उपदेश देना चाहिए तथा छात्र को भी ज्ञान छिपाकर नहीं रखना चाहिए। गीता के अनुसार शिक्षक को छात्र के व्यक्तित्व का समादर करना चाहिए। छात्र पर अपने निर्णय को नहीं लादना चाहिए। उसे अपनी राय देने का अधिकार है, परन्तु निर्णय की स्वतन्त्रता छात्र की है। गीता का सम्पूर्ण ज्ञान देने के पश्चात् कृष्ण कहते है :-

हे अर्जुन! मैंने तुम्हे गुप्त से गुप्त ज्ञान प्रदान कर दिया है। इस पर पूरी तरह से विचार करने के बाद, जैसी इच्छा हो वैसा करो।

अध्ययन - अध्यापन की प्रक्रिया ही कुछ इस प्रकार की है कि -उसमें शिक्षक और शिष्य दोनो की रूचि आवश्यक है। किसी एक की भी रूचि के अभाव में अध्ययन-अध्यापन नहीं हो सकता।

4.8 गीता व पाठ्यक्रम

गीता दर्शन के अनुसार पाठ्यक्रम को मुख्यत: दो भागो में बांटा गया है यथा :-

1. **परा विद्या:**

परा विद्या से तात्पर्य अध्यात्मिक विद्या से है। गीता मे परा विद्या को अक्षर तत्व, अध्यात्मक व क्षेत्र आदि नामो से पुकारा जाता है। परा विधा के अन्तर्गत आत्मज्ञान आता है। परा विधा का ज्ञान नित्य, सत्य, पूर्ण एवं सनातन है जो त्रिकाल-भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान में सत्य है। इसके अन्तर्गत जीव क्या है, आत्मा क्या है, मनुष्य सुख व दुःख क्यों पाता है। आदि का ज्ञान समाहित है। इसमें वेद, उपनिषद, वेदान्त, पुराण आदि का अध्ययन-अध्यापन कराया जाता है। इनके माध्यम से भारतीय संस्कृति का ज्ञान देने के साथ-साथ बालक को जन्म-मरण से मुक्ति प्राप्त करने की भावना का ज्ञान प्रदान किया जाता है ताकि वह मोक्ष प्राप्त कर सके और भव-बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर सके।

2. अपरा विद्या

अपरा विद्या से आशय भौतिक विद्या से है। दृश्यमान सम्पूर्ण विश्व अपरा विद्या के ज्ञान का एक भाग है। वास्तव में अपरा विद्या जड़ प्रकृति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना ही है और परा विद्या तक पहुँच पाने का एक साधन है अपरा विद्या के अन्तर्गत समस्त प्रकार के वैज्ञानिक, सामाजिक, वाणिज्यिक विषयों का अध्ययन आता है। जिनकी सहायता से मानव इस भौतिक जगत में सफलता पूर्वक अपना जीवन-निर्वाह कर सके। अपरा विद्या, परा विद्या से श्रेष्ठ नहीं है। अपरा विद्या का ज्ञान परमावश्यक होते हुए भी यह सर्वोपरि नहीं है। अपरा विद्या का ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त किया जाता है। इसमें ज्योतिष, काव्य, गणित, विज्ञान, ललित कला, नृत्य कला, संगीत कला, इतिहास, भूगोल आदि विषय सम्मिलित है।

4.9 गीता व शिक्षण विधियाँ

छात्र-संकल्पना में शिक्षण विधि के कुछ आधारभूत मनोवैज्ञानिक तथ्यों का विवेचन किया जा चुका है। दो प्रमुख मनोवैज्ञानिक तथ्य शिक्षण विधि में प्रतिबिम्बित होने चाहिए। प्रथम तो शिक्षण विधि सप्रयोजन होनी चाहिए तथा छात्र की सहज प्रवृतियों एवं रूचियों पर आधारित होनी चाहिए।

मानव प्रकृति के अनुसार छात्रों को तीन वर्गो में विभक्त किया जाता है। ज्ञान-प्रधान प्रकृति वाले भावना-प्रदान प्रकृति वाले तथा कर्म-प्रधान प्रकृति वाले। शिक्षण-विधि भी इन तीन प्रकार के विद्यार्थियों के अनुरूप तीन प्रकार की हो सकती है। ज्ञानात्मक भावनात्मक तथा कर्म-प्रधान। जिस विद्यार्थी विशेष की प्रवृत्ति तथ्यों को एकत्र करने, उनका विश्लेषण करने, तर्क करने तथा गहराई से समझने की हो, उसके लिए ज्ञानात्मक विधि उपयुक्त होती है। जिसके अन्तर्गत श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि आते है। जिन विद्यार्थियों की प्रकृति भावनात्मक होती है। उसके साथ बुद्धि प्रधान तार्किक प्रणाली उपयोगी नहीं होती। वे ज्ञान को ग्रहण करते हैं परन्तु आनन्दानुभूति के लिए, तार्किक विवेचन के लिए नहीं।

तीसरे प्रकार की प्रकृति वाले विद्यार्थी कर्म के माध्यम द्वारा अधिक सरलता से ज्ञान ग्रहण कर सकते हैं। करके सीखने की विधि उनके लिए अधिक लाभकारी होती है। यदि गीता का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें तो उस युग में समाज में कौन-कौन सी अध्यापन विधियाँ प्रचलित थी स्पष्ट उत्तर प्राप्त होता है।

- प्रश्नोत्तर विधि

गीता का आरम्भ ही प्रश्नोत्तर के माध्यम से होता है तथा सम्पूर्ण गीता में श्री कृष्ण एवं अर्जुन के संवाद प्रश्नोत्तर रूप में ही है। प्रश्नोत्तर विधि द्वारा ही समस्त गढ़ तत्वों का सार अर्जुन को भगवान श्री कृष्ण ने समझाया है। अत: उस युग में गीता दर्शन के अनुसार प्रश्नोत्तर विधि अध्यापन विधियों में मुख्य स्थान रखती है।

- वार्तालाप विधि

गीता में श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन की शंकाओं का समाधान वार्ता के रूप में किया गया है। कभी-कभी अर्जुन ने भी अपने विचार वार्ता के रूप में प्रस्तुत किये हैं। वार्तालाप के माध्यम से तात्विक ज्ञान को जनसाधारण तक पहुँचाने का प्रयास किया गया है।

- तर्क विधि

गीता में श्री कृष्ण अर्जुन का मोह भंग करने का अथक प्रयास करते हैं किन्तु अपने तर्कों से विचारों को काट देते हैं। इस प्रकार श्री कृष्ण और अर्जुन तर्क द्वारा अपनी-अपनी बात को समर्थन देने का प्रयत्न करते हैं। अत: गीता के दर्शन के अनुसार उस युग में तर्क विधि भी प्रचलित थी।

- मौखिक विधि

उत्तर वैदिक युग का समस्त साहित्य संस्कृत भाषा में है तथा श्लोकमय है। गुरु, शिष्यों को मौखिक रूप से ज्ञान प्रदान करते थे। शिष्य उन श्लोकों को और प्राप्त ज्ञान को कंठस्थ करते थे। गुरु के मुख से निकला वाक्य वेद वाक्य के समान होता था। मौखिक विधि में रटना महत्वपूर्ण है।

- अनुकरण विधि

गुरुओं का जीवन आदर्शयुक्त होता है। महापुरुषों के आदर्शमय जीवन को छात्रों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है और छात्रों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे महापुरुषों के आचरण के अनुरूप ही कार्य करें। शिष्यों को अपने गुरुओं का आचरण को अनुकरण करने की शिक्षा दी जाती थी।

इस प्रकार गीता दर्शन के अनुसार उस युग में शिक्षा में प्रश्नोत्तर, वार्तालाप, तर्क, मौखिक एवं अनुसरण तथा ज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा कर्म-प्रधान विधियों का प्रचलन था।

4.10 गीता का शैक्षिक निहितार्थ

उत्तर वैदिक कालीन युग में "गीता" महान ग्रन्थ है। महाभारत जैसे विशाल महाकाव्य का गीता संक्षिप्त एवं सरलतम रूप है। गीता के अठारह अध्याय तथा सात सौ श्लोक है जो संस्कृत भाषा में है। गीता में श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन को "महाभारत युद्ध क्षेत्र" में दिया गया वह

महान उपदेश है। जो अर्जुन के मोह को भंग कर उसे युद्ध करने की प्रेरणा देता है तथा इस नश्वर संसार के बारे में सच्चा ज्ञान प्रदान करता है। इस महान ग्रन्थ के रचयिता श्री वेद व्यास कृष्ण द्वैपायन है। गीता का अब तक विश्व की लगभग तीस भाषाओं में अनुवाद हो चुका है तथा विभिन्न विद्वानों द्वारा इस पर टीकाएं एवं भाष्य भी लिखे जा चुके हैं।

'कुरुक्षेत्र' के मैदान में कौरव एवं पाण्डव, युद्ध के लिए तैयार खड़े हैं। केवल आदेश की प्रतीक्षा है। अर्जुन श्री कृष्ण को अपना रथ दोनों सेनाओं के मध्य खड़े करने की प्रार्थना करता है और दोनों ओर के परिजन आत्मज, मित्रादि को देखकर अर्जुन का मोह उत्पन्न हो जाता है और वह युद्ध न करने का विचार कृष्ण को बतलाता है। श्री कृष्ण अपना विराट रूप प्रदर्शित कर अर्जुन को युद्ध करने के लिए पुन: तत्पर करते है। इस प्रकार अर्जुन एवं श्री कृष्ण के मध्य संवाद ही गीता की मुख्य विषय वस्तु है।

गीता का दर्शन आदर्शवादी दर्शन है। इसका दर्शन आत्मा और परमात्मा में विश्वास रखता है तथा संसार की नश्वरता का ज्ञान कराता है। मोह को त्याग कर ही परमपद (मोक्ष) की प्राप्ति की जा सकती है। निष्काम कर्म द्वारा ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। काम, क्रोध, माया, लोभ आदि सांसारिक बन्धन के साधन है। गीता इनसे छुटकारा दिलाकर आत्म स्वरूप का दर्शन कराती है।

शिक्षा दर्शन की दृष्टि से गीता अमूल्य निधि है, क्योंकि उसमे सभी प्रचलित दार्शनिक मान्यताओं तथा सिद्धांतों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। डॉ. एल.के. पाण्डे के शब्दों में भारतीय शिक्षा दर्शन का सार यदि कहीं देखना है तो वह गीता में दिखाई देता है।

- ब्रह्म

गीता के अनुसार ब्रह्म या ईश्वर सर्वोपरि सत्ता है। जो अविनाशी है नित्य, शुद्ध, सर्वत्र, व्याप्त सार्वकालिक व अनादि है। ब्रह्म के दो रूप है - निर्गुण व सगुण। इसका विस्तृत विवेचन गीता के अभाव व तेरहवें अध्याय में मिलता है।

– आत्मा

गीता दर्शन में आत्मा अविनाशी, अजन्मा, नित्य, शाश्वत, अचिन्त्य सर्वव्यापक व अनादि है। आत्मा परमात्मा का ही अंश है। गीता के द्वितीय अध्याय में आत्मा के स्वरूप के विषय में विशद वर्णन मिलता है।

- जगत

गीता में जगत के विषय में कहा गया है कि जिस प्रकार वृक्ष की उत्पत्ति बीज से होती है और अंत में बीज में ही वृक्ष विलीन हो जाता है। इसी प्रकार जगत की उत्पत्ति ब्रह्म से होती है और अंत में उसी ब्रह्म में विलीन हो जाता है। जगत की उत्पत्ति व विलय का कारण परम् ब्रह्म ही है।

- अपरा एवं परा प्रकृति

गीता में सृष्टि की रचना को दो प्रमुख प्रकारों में विभक्त किया है।

(अ) अपरा प्रकृति

पंचतत्व - आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी तथा मन, अहंकार और बुद्धि ये आठ तत्व अपरा प्रकृति में सम्मिलित होते हैं। यह भौतिक जड़ तथा अचेतन है।

(ब) परा प्रकृति

यह जीव है जो चेतन तत्व से समन्वित होता है, यह जगत को धारण करती है। अपरा व परा प्रकृति के ऊपर ईश्वरीय तत्व है। वस्तुत: जीव (आत्मा) ईश्वर का ही अंश है।

- ज्ञान, योग, कर्मयोग एवं भक्ति योग का समन्वय

गीता में ज्ञान योग, कर्मयोग व भक्तियोग का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत किया गया है। ज्ञान योग सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञान योग के द्वारा ही व्यक्ति सच्चिदानन्द के दर्शन करता हुआ मोक्ष को प्राप्त होता है। कर्मयोग का अर्थ गीता में, कर्तव्य अथवा सामाजिक दायित्व से लिया गया है। गीता में कर्मयोग का वही बड़ी सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। निष्काम कर्मयोग से ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव होती है। भक्ति मार्ग को गीता में ईश्वर प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ मार्ग कहा गया है। ईश्वर में श्रद्धा रखकर, निस्वार्थ भाव से कर्म करके व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त होता है।

4.11 गीता के अनुसार जनतंत्रात्मक शिक्षा

गीता का शिक्षक महान जनतांत्रिक है। गीता में अपने स्थानों पर "इति म मति" का कथन कर गुरु की निरहंकारिता का ही प्रदर्शन है। साथ ही इस मान्यता की पुष्टि कि ज्ञान आरोपण की वस्तु नहीं हैं। "ऐसा मेरा मत हैं" इसमें मानने का आग्रह नहीं है। "मानो या न मानो" की स्वतन्त्रता सुरक्षित है। गीता में कभी भी गुरूस्वाभिमान की दुहाई नहीं दी गई है। वहाँ स्वामित्व की भावना का अभाव है। छात्र के व्यक्तित्व के प्रति समादर भाव है, शिक्षक को "मत देने का अधिकार है"। किन्तु निर्णय की स्वतन्त्रता छात्र की है। गीता का सम्पूर्ण ज्ञान देने के पश्चात् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते है :-

हे अर्जुन! मैंने तुम्हें गुप्त से गुप्त ज्ञान प्रदान कर दिया। इस रहस्य युक्त ज्ञान को सम्पूर्णता से अच्छी तरह विचार करने के बाद जैसा चाहते ही वैसा करो अर्थात् जैसी तेरी इच्छा हो वैसा की कर। स्पष्ट है कि हस्तक्षेप के प्रकृतिवादी अभिप्राय को गीता स्वीकार नहीं करती वरन् यथासम्मव यथोचित हस्तक्षेप की प्रयोजनवादी संकल्पना गीतोक्त अभिप्राय को स्पष्ट करने में सक्षम है।

4.12 शिक्षा दर्शन के निर्माण में गीता का महत्व

गीता का शिक्षा दर्शन किसी काल विशेष के लिए नहीं था, अपितु वह सार्वकालिक है। जब-जब समाज में विश्रृंखलता उत्पन्न होती है तभी-तभी समाज को उन्नत करने के लिए परमात्मा को किसी शिक्षक के रूप में अवतार धारण करना पड़ता है। सामाजिक-परिवर्तन सतत प्रक्रिया है और उस परिवर्तन के अनुरूप सामाजिक प्रक्रिया को नियन्त्रित करने के लिए शिक्षक को हमेशा अवतार की भूमिका निभानी पड़ती है। सामाजिक परिवर्तन के कारण उत्पन्न कुसमायोजन से निपटने के लिए शिक्षा का व्यवसाय करना पड़ता है। इसी को कर्म कहा जाता

है। आज के युग में कर्म की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। मौलिक सृजन वैज्ञानिक, विकास, औद्योगिक क्रान्ति, अधिक उत्पादन, सभी कुछ कर्म आश्रित है परन्तु गीताकार मनुष्य को एक तरफ कर्म के फल से उत्पन्न अहंकार से बचाता है तो दूसरी ओर कर्म के विफल होने की कुंठा से भी रक्षा करता है। सामाजिक प्रगति के लिए मनुष्य कर्म करता है और उससे समाज आगे बढ़ता है। हर इंसान को अपना कार्य उत्कृष्ट रूप से पूरे परिश्रम के साथ करना चाहिए। उसके परिश्रम का फल भगवान पर छोड़ देना चाहिए। गीता के कर्मनिष्ठता शिक्षक के कर्म-पक्ष मे उस पवित्रता को मिश्रित करती है जिसमें कर्म में रहते हुए भी व्यक्ति में आसक्ति की भावना नहीं होती।

4.13 सारांश

गीता महाभारत का एक अंश है जिसमें जगतगुरु श्री कृष्ण द्वारा शिष्य के रूप में अर्जुन को शिक्षा दी गई है। शिक्षादर्शन की दृष्टि से गीता अमूल्य निधि है। गीता में ज्ञान की व्याख्या इस प्रकार की गई है जिसके द्वारा सब प्राणियों में केवल एक निर्विकार भाव देखा जाता है तथा विविधता में जहाँ एकता दिखाई देती है उसी को सात्विक ज्ञान कहा जाता है। ज्ञान प्राप्ति का लक्ष्य न केवल मनुष्य जगत की एकता को पहचानना है अपितु संपूर्ण जगत में दिखाई देने वाली विभिन्नताओं के अन्तराल में छिपे हुए सर्वात्मा की अनुभूति करना है। गीता के अनुसार शिक्षा वह है जो प्रत्येक व्यक्ति में निहित ब्रह्म तथा परमात्मा की अनुभूति करवाने में सहायक होती है।

4.14 मूल्यांकन प्रश्न

1. गीता के अनुसार शिक्षा के उद्देश्यों का वर्णन कीजिए?
2. गीता के अनुसार शिक्षार्थी व शिक्षक के सहसंबंध को समझाये?
3. शिक्षक के लिए बाल प्रकृति के अध्ययन की आवश्यकता क्यों है?
4. गीता के अनुसार शिक्षक व शिष्य में अपेक्षित योग्यताओं को बताये?
5. गीता के शैक्षिक योगदान को स्पष्ट कीजिए?
6. गीता के अनुसार जनतंत्रात्मक शिक्षा की विवेचना कीजिए?
7. शिक्षा दर्शन के निर्माण में गीता के महत्व को समझाये?

4.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1 श्रीमद्भगवद्गीता।

2 चौबे, सरयू प्रसाद व अखिलेश चौबे (2005) शिक्षा के दार्शनिक समाजशास्त्री आधार, इन्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ

3 सक्सेना, एन. आर. स्वरूप व के. पी. पाण्डे (2009) शिक्षा के दार्शनिक व समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, आर. लाल. बुक डिपो, मेरठ

इकाई - 5

बौद्ध दर्शन तथा उसके शैक्षिक निहितार्थ

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 बौद्ध धर्म का परिचय

5.2 बौद्ध-दर्शन के प्रमुख तत्व

5.2.1 प्रथम आर्य सत्य - दुःख

5.2.2 द्वितीय आर्य सत्य - दुःख समुदाय

5.2.3 तृतीय आर्य सत्य - दुःखों का निवारण

5.2.4 चतुर्थ आर्य सत्य - दुःख निरोध मार्ग

5.3 मध्यम मार्ग

5.4 अष्टांगिक मार्ग

5.5 सदाचार के नियम

5.6 बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धांत

5.7 बौद्ध धर्म का प्रभाव

5.8 बौद्ध दर्शन में निहित मूल शैक्षिक विचार

5.9 सारांश

5.10 मूल्यांकन प्रश्न

5.11 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप समझ सकेंगे :-

- भगवान बुद्ध के जीवन से संबंधित बातों को ज्ञान।
- महात्मा बुद्ध के उपदेशों को समझ सकेंगे।
- दार्शनिक विचार और सिद्धान्तों को समझ सकेंगे।
- बौद्ध धर्म के सम्प्रदाय का बता सकेंगे।
- बौद्ध दर्शन में निहित शैक्षिक विचार।

5.1 बौद्ध धर्म का परिचय

बौद्ध दर्शन के संस्थापक महात्मा बुद्ध माने जाते है। बुद्ध का जन्म 563 ई.पू. में हुआ था। इनका जन्म हिमालय की तराई में स्थित कपिलवस्तु नामक स्थान में लुम्बिनी बाग में हुआ था। इनके पिता कपिलवस्तु के शाक्य गणराज्य के प्रधान शुद्धोधन थे माता का नाम मायादेवी था। जन्म के समय भगवान बुद्ध का नाम सिद्धार्थ रखा गया।माता का प्रसव काल में ही देहान्त हो जाने के कारण इनका पालन पोषण इनकी सौतेली माता प्रजापति गौतमी ने किया। राजवंश में जन्म लेने के फलस्वरूप इनके जीवन को सुखमय बनाने के लिए पिता ने

भिन्न-भिन्न प्रकार के आमोद-प्रमोद का प्रबन्ध किया, ताकि सिद्धार्थ का मन विश्व की क्षणभंगुरता तथा दुःख की ओर आकर्षित न हो।

युवावस्था में इनका विवाह यशोधरा नामक एक राजकुमारी से हुआ, जिससे उनके पुत्र राहुल का जन्म हुआ।

सिद्धार्थ आरम्भ से ही चिन्तनशील थे। रोगी, वृद्ध एवं मृतक के शव को देखकर उन्हें संसार से वैराग्य हो गया और 29 वर्ष की आयु में उन्होंने स्थायी सुख की खोज में गृह त्याग किया। यह घटना 'महाभिनिष्क्रमण' के नाम से प्रसिद्ध है। वे छः वर्षों तक अपने पाँच साथियों के साथ सन्यासी जीवन व्यतीत करते रहें। उरुबेला नामक स्थान पर उन्होंने वन में कठोर तप किया, किन्तु उन्हें शांति नहीं मिली। अतः उन्होंने तपस्या का मार्ग छोड़ दिया और वे गया में एक पीपल के वृक्ष के नीचे बैठ गए। जहाँ उन्हें आत्म ज्ञान हुआ और वे उसी समय से "गौतम" बुद्ध या 'तथागत' कहलाने लगे। आत्मज्ञान प्राप्त होने के बाद उन्होंने मानव-कल्याण हेतु भ्रमण कर अपने मत का प्रचार किया। सर्वप्रथम उन्होंने बनारस के पास सारनाथ नाम स्थान पर पाँच भिक्षुकों को सबसे पहले उपदेश दिया। यह घटना 'महाधर्मचक्र प्रवर्तन' के नाम से प्रसिद्ध हुई। राजगृह में उन्होंने सारिपुत्र मोग्गलायन को शिष्य बनाया तथा मगध नरेश बिम्बसार ने उनका उपदेश सुना। वे अपने मत का प्रचार अनेक स्थानों पर भ्रमण कर 44 वर्षो तक करते रहें। सत्य का ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद बुद्ध ने लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपने सन्देशों को जनता तक पहुँचाने का संकल्प किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने घूम-घूमकर जनता को उपदेश देना आरम्भ किया। दुःख के कारणों और दुःख दूर करने के उपायों पर प्रकाश डालते हुए, उन्होंने दुःख से त्रस्त मानव को दुःख से छुटकारा पाने का आश्वासन दिया। बुद्ध के उपदेशों के फलस्वरूप बौद्ध धर्म एवं बौद्ध दर्शन का विकास हुआ। वे कौशल नरेश प्रसेनजित, मगध नरेश बिम्बसार तथा अजात शत्रु एवं वत्स-नरेश उदयन को बौद्ध धर्मावलम्बी बनाने में सफल रहें। 483 ई.पू. में 80 वर्ष की आयु में गोरखपुर जिले में कुशी नगर में उनका देहावसान (निर्वाण) हुआ। यह 'महापरिनिर्वाण' कहलाता है। बौद्ध दर्शन के अनेक अनुयायी थे। अनुयायियों में मतभेद के कारण बौद्ध दर्शन की अनेक शाखाएं निर्मित हो गई जिसके फलस्वरूप उत्तरकालीन बौद्ध दर्शन का जिसमें दार्शनिक विचारों की प्रधानता है, सृजन हुआ।

बुद्ध ने स्वयं कोई पुस्तक नहीं लिखी। उनके उपदेश मौखिक ही होते थे। बुद्ध की मृत्यु के बाद उनके शिष्यों ने बुद्ध के उपदेशों का संग्रह लिपिटक में किया। "त्रिपिटक" को आरम्भिक बौद्ध दर्शन का मूल और प्रमाणिक आधार कहा जा सकता है। लिपिटक रचना पाली साहित्य में की गई है। 'पिटक का अर्थ पिटारी और लि' का अर्थ तीन होता है। इसलिए लिपिटक का शाब्दिक अर्थ होगा तीन पिटारियाँ। सचमुच लिपिटक बुद्ध शिक्षाओं की तीन पिटारियाँ है। सुन्तपिटक अभिधम्य पिटक और विनय पिटक तीन पिटकों के नाम है।

सुन्तपिटक में धर्म संबंधी बातों की चर्चा है। बौद्धों की गीता 'धम्मपद' सुन्तपिटक का ही एक अंग है। अभिधम्य पिटक में बुद्ध के दार्शनिक विचारों का संकलन है। इसमें बुद्ध के मनोविज्ञान संबंधी विचार संग्रहित है। विनय पिटक में नीति-संबंधी बातों की व्याख्या की गई है।

इस सिलसिले में वहाँ भिक्षुओं की जीवन-चर्चा का भी संकेत किया गया है। लिपिटिक की रचना का समय तीसरी शताब्दी ई.पू. माना गया है। बौद्ध दर्शन की प्राचीन पुस्तकों में लिपिटक के अतिरिक्त 'मिलिन्द पन्हो' अथवा मिलिन्द प्रश्न का भी नाम उल्लेखनीय है।

इस ग्रन्थ में बौद्ध शिक्षक नागसेन और युनानी राजा मिलिन्द के संवाद का वर्णन है। बुद्ध घोष ने लिपिटक के बाद इस ग्रन्थ का बौद्ध दर्शन का प्रमाणिक एवं प्रशंसनीय ग्रन्थ माना है।

5.2 बौद्ध-दर्शन के प्रमुख तत्व

बौद्ध दर्शन के तत्वों या सिद्धान्तों में, जिन्होंने भारतीय शिक्षा व्यवस्था को प्रभावित किया, निम्नांकित प्रमुख है-:

(अ) चार आर्य सत्य:- बुद्ध के सारे उपदेश चार आर्य सत्यों में सन्निहित है। महात्मा बुद्ध के अनुसार सांसारिक दुःखों का कारण अविद्या है। इन दुःखों का निवारण विद्या द्वारा अविद्या के निराकरण से किया जा सकता है। यह अविद्या चार आर्य सत्यों के अज्ञान से उत्पन्न होती है। ये चार आर्य सत्य निम्नांकित है :-

5.2.1 प्रथम आर्य सत्य: दुःख

बुद्ध का प्रथम आर्य सत्य है - संसार दुःखमय है। बुद्ध ने बताया कि जीवन दुःखों से परिपूर्ण है जिसके कारण जीव जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा नहीं पाता। जीवन में अनेक प्रकार के दुःख है। रोग, बुढ़ापा, मृत्यु, चिन्ता, असन्तोष, नैराश्य, शोक इत्यादि सांसारिक दुःखों का प्रतिनिधित्व करते है। इस सिलसिले में बुद्ध के ये कथन, जो दुःखों की व्यापकता को प्रमाणित करते है उल्लेखनीय हैं:- 'जन्म में दुःख है, नाश में दुःख है, रोग दुःखमय है, मृत्यु दुःखमय है। अप्रिय से संयोग दुःखमय है, प्रिय से वियोग दुःखमय है।' संक्षेप में रोग से उत्पन्न पंचस्कन्ध दुःखमय है। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक होगा कि शरीर, अनुभूति, प्रत्यक्ष, इच्छा और विचार को बौद्ध दर्शन में पंच स्कन्ध माना जाता है।

संसार का पाप और कष्ट ही वास्तविक है तथा इससे छुटकारा पाना मनुष्य का प्रथम लक्ष्य होना चाहिए। जब हम बुद्ध की शिक्षाओं को दुःखवादी कहते है तो इसे निराशा का धर्म नहीं समझना चाहिये। अन्य धर्मो की भांति लोक तथा परलोक में सुख लाने का विश्वास नहीं दिलाता। किन्तु यह इसी जीवन में शांति प्राप्ति की सम्भावना को अवश्य प्रकट करता है, जिससे कि मानव कष्टों से पीड़ित न होकर उन पर विजय प्राप्त करता है।

5.2.2 द्वितीय आर्य सत्य: दुःख समुदाय

बौद्ध दर्शन में दुःखों का उत्तम 'अविद्या' या 'अज्ञान' माना है। अविद्या से 'इच्छा', इच्छा से कर्म और कर्म से पुनर्जन्म में नई इच्छाओं की उत्पत्ति होती है। बुद्ध ने दुःख के कारण का विश्लेषण दूसरे आर्य सत्य में एक सिद्धान्त के सहारे किया है, उस सिद्धान्त को संस्कृत में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहा जाता है। 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के अनुसार प्रत्येक विषय का कुछ न कुछ कारण होता है, कोई भी घटना अकारण उपस्थित नहीं हो सकती है। दुःख एक घटना है। बौद्ध दर्शन में दुःख को 'जरामरण' कहा गया है। जरा का अर्थ वृद्धावस्था और मरण का अर्थ

मृत्यु होता है। 'जरामरण अथवा दुःख के मध्य बारह कारणों की एक कड़ी है। इस कड़ी को 'द्वादश निदान' कहा जा सकता है। इस कड़ी से छुटकारा पाने से ही व्यक्ति जन्म और मृत्यु से मुक्त हो सकता है।

5.2.3 तृतीय आर्य सत्य: दुःखों का निवारण

द्वितीय आर्य सत्य में बुद्ध ने दुःख के कारण को माना है। इससे प्रमाणित होता है कि यदि दुःख के कारण का अन्त हो जायें तो दुःख का भी अन्त अवश्य होगा। यदि अज्ञान से उत्पन्न इच्छाओं का नाश किया जा सके तो दुःख का अन्त हो सकता है। यदि राग, द्वेष, काम और क्रोध पर व्यक्ति विजय प्राप्त कर लेता है तो उसके अन्तःकरण में कोई तृष्णा नहीं रह जायेगी और वह सदैव के लिए जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्त हो जायेगा। मुक्ति की इस अवस्था को ही बौद्ध धर्म में 'निर्वाण' की संज्ञा दी गई है। इस तृतीय आर्य सत्य में भगवान बुद्ध का कहना है कि अविधादि अथवा 'अज्ञानादि' जो दुःख की जड़ है उसका नाश किया जा सकता है। इसका विनाश करने से व्यक्ति को निर्वाण मिल सकता है।

5.2.4 चतुर्थ आर्य सत्य: दुःख निरोध मार्ग

तृतीय आर्य सत्य में बुद्ध ने बतलाया है कि दुःखों का निरोध संभव है। प्रश्न उठता है- दुःखों का निरोध किस प्रकार सम्भव है? बुद्ध ने चतुर्थ आर्य सत्य में दुःख निरोध की अवस्था को अपनाने के लिए एक मार्ग की चर्चा की है। इस मार्ग को दुःख निरोध मार्ग कहा जा सकता है। उनके द्वारा यह प्रदत्त संकेत 'अष्टांगिक मार्ग' नाम से प्रसिद्ध है।

5.3 मध्यम मार्ग

बुद्ध के समकालीन दार्शनिकों में 'मोक्ष प्राप्ति हेतु कठोर तपस्या का विधान प्रचलित था। परन्तु छः वर्षों की घोर तपस्या के बाद भगवान बुद्ध ने इस प्रकार की घोर तपस्या की निरसारता का अनुभव किया। बुद्ध के अनुसार घोर तपस्या उसी प्रकार व्यर्थ और हानिकर है जिस प्रकार सांसारिक लिप्सायें और इच्छायें होती है। अतः बुद्ध ने इस मत का प्रतिपादन किया कि जो सांसारिक प्रपंच से मुक्त होना चाहते है उन्हें इन दोनों विकल्पों को त्यागकर मध्यम मार्ग को अपनाना चाहिए। इनमें से पहला त्यागने वाला विकल्प है आत्मा की नित्यता की धारणा से उत्पन्न निकृष्ट सांसारिक सुख की लिप्सा और दूसरा त्यागने वाला विकल्प है शरीर की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए कठोर तपस्या की साधना। इन दोनों विकल्पों को भगवान बुद्ध ने निर्वाण मार्ग के लिए एक दम व्यर्थ समझा और एक मध्यम मार्ग के अनुसरण का उपदेश दिया। यह मध्यम मार्ग "संयुक्ता निकाय" के अनुसार वह अष्टांगिक मार्ग है जिसके अनुसरण से मनुष्य बुद्धत्व प्राप्त कर सकता है।

5.4 अष्टांगिक मार्ग

निर्वाण या मोक्ष प्राप्ति हेतु बुद्ध ने 'अष्ट मार्ग' के अनुसरण की शिक्षा दी है। बौद्ध धर्म एक सर्वव्यापी धर्म है, इसलिए यहां ऐसे मार्ग की ओर संकेत है जिसका हृदयंगम प्रत्येक व्यक्ति

कर सकता है। बुद्ध का यह आर्य सत्य उनके धर्म और नीतिशास्त्र का आधार-स्वरूप है। इसलिए इस मार्ग की महत्ता अत्याधिक बढ़ गई है।

5.4.1 सम्यक् दृष्टि -

बुद्ध ने दुःख का मूल कारण अविद्या को माना है। अविद्या के फलस्वरूप मिथ्या दृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। मिथ्या दृष्टि से प्रभावित होकर मनुष्य नश्वर विश्व को अविनाशी तथा दुःखमय अनुभूतियों को सुखमय समझता है। मिथ्या दृष्टि का अन्त सम्यक् दृष्टि से ही संभव है। इसलिए बुद्ध ने सम्यक दृष्टि को अष्टांगिक मार्ग की प्रथम सीढ़ी माना है। वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को जानना ही सम्यक् दृष्टि कहा जाता है।

5.4.2 सम्यक् संकल्प

बुद्ध के चार आर्य सत्यों का जीवन पालन करने का निश्चय ही सम्यक् संकल्प है। आर्य-सत्यों के ज्ञान से मानव अपने को लाभान्वित तभी कर सकता है जब वह उनके अनुसार जीवन व्यक्ति करता हो, इसलिए निर्वाण के आदर्श को अपनाने के लिए एक साधक को इन्द्रिय विषयों से अलग रहने, दूसरे के प्रति द्वेष तथा हिंसा के विचारों मे त्याग करने का संकल्प करना चाहिए।

5.4.3 सम्यक् वाक्

सम्यक वाक्, सम्यक् संकल्प की अभिव्यक्ति अथवा उसका बाह्य रूप है, सदैव सत्य-भाषण, प्रिय वचनों का प्रयोग ही सम्यक् वाक् है।

5.4.4 सम्यक् कर्मान्त

इसका अभिप्राय शुभ कर्म करने से है जो सदाचार का आधार है। सम्यक् कर्मान्त का अर्थ होगा बुरे कर्मों का परित्याग।

5.4.5 सम्यक् आजीविका

सम्यक् आजीविका का अर्थ है ईमानदारी से जीविकोपार्जन करना। जीविका-निर्वाह का ढंग उचित होना चाहिए। धोखा, रिश्वत, लूट, अत्याचार इत्यादि अशुभ उपायों से जीविका निर्वाह करना महापाप है।

5.4.6 सम्यक् व्यायाम

इसका अर्थ है मनुष्य को असद प्रवृत्तियों के दमन तथा सद् प्रवृत्तियों के विकास का सदैव यत्न करना चाहिये। मन को अच्छे भावों से परिपूर्ण रखना चाहिए तथा अच्छे भावों को मन में कायम रखने के लिए प्रयत्नशील तथा सक्रिय रहना चाहिए। इस चार प्रकार के प्रयत्नों को अर्थात् (1) पुराने बुरे विचारों को बाहर निकालना, (2) नये बुरे विचारों को मन में आने से रोकना, (3) अच्छे भावों को मन में भरना, (4) इन भावों को मन में कायम रखने के लिए सतत् क्रियाशील रहना 'सम्यक् व्यायाम' कहलाता है। इस प्रकार सम्यक् व्यायाम उन क्रियाओं को कहते है जिनसे अशुभ मन स्थिति का अन्त होता है तथा शुभ मन स्थिति का प्रादुर्भाव होता है।

5.4.7 सम्यक् स्मृति

सम्यक् स्मृति का पालन करना तलवार की धार पर चलना है। अभी तक जिन विषयों का ज्ञान हो चुका है उन्हें सदैव स्मरण रखना आवश्यक है। सम्यक् स्मृति का अर्थ वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप के संबंध में जागरूक रहना है, निर्वाण की कामना रखने वाले व्यक्ति को शरीर को शरीर, मन को मन संवेदना को संवेदना समझना आवश्यक है। इनमें से किसी के संबंध में यह सोचना "यह मैं हूँ अथवा वह मेरा है" सर्वदा भ्रमात्मक है। इस प्रकार नाशवान वस्तुओं की स्मृति ही सम्यक् स्मृति है।

5.4.8 सम्यक् समाधि

यदि व्यक्ति उपर्युक्त सात नियमों का पालन कर लेता है तो उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वह अपने ध्यान को एकाग्र कर सकता है। मोक्ष के लिए ध्यान की एकाग्रता अत्यन्त आवश्यक है। ध्यान की एकाग्रता के सहारे मुमुक्षु धीरे-धीरे परम शान्ति या निर्वाण की अवस्था को प्राप्त कर सकता है। बौद्ध धर्म में निर्वाण की प्राप्ति के लिए योगदर्शन की तरह ही "ध्यान की एकाग्रता" को एक आवश्यक साधन माना गया है। बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग को प्रज्ञा, शील, समाधि नामक विशेष अंगों में विभाजित किया जा सकता है। सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प प्रज्ञा के अन्तर्गत आते है। सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम शील के अन्तर्गत आते है, शेष दो मार्ग - सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि के अन्तर्गत रखे जाते है।

5.5 सदाचार के नियम

गौतम बुद्ध ने भिक्षुकों के लिये सदाचार के दस नियम बताये है - (1) सत्य बोलना, (2) अहिंसा, (3) ब्रह्मचर्य, (4) संग्रहवृत्ति का त्याग, (5) चोरी न करना, (6) सुगंधित पदार्थो का त्याग, (7) कोमल शैय्या का त्याग, (8) नाचने गाने का त्याग, (9) कामिनी कंचन का त्याग और (10) असमय भोजन का त्याग।

उपरोक्त नैतिक शिक्षाओं के अतिरिक्त बुद्ध ने माता-पिता की आज्ञा पालना, गुरुजनों के प्रति श्रद्धा, सत्पात्रों को दान, प्रेम व उदारता का व्यवहार, कोई नशा न करना तथा प्राणी मात्र पर दया करने का भी उपदेश दिया है। अशोक ने स्तम्भों व चट्टानों पर सदाचार के इन्हीं नियमों को उत्कीर्ण कराया था।

5.6 बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धांत

5.6.1प्रतीत्यसमुत्पाद

भगवान बुद्ध के मूलभूत उपदेशों में चार आर्य-सत्य हैं। इन चार आर्य-सत्यों में दूसरा आर्य-सत्य "दुःख समुदाय" है। दुःख समुदाय आर्य-सत्य को ही प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद बुद्ध के सभी दार्शनिक विचारों का आधार माना जाता है। जन्म-मरण के चक्र को ही प्रतीत्यसमुत्पाद कहा गया है। प्रत्ययों की उत्पत्ति के नियम को प्रतीत्यसमुत्पाद कहते है। प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द में उत्पाद का तात्पर्य उत्पत्ति से है। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ यह है कि

किसी उत्पत्ति का कोई प्रत्यय या कारण होता है। प्रत्यय का कारण के रहने पर कार्य का होना अनिवार्य है। यदि प्रत्यय या कारण नहीं है तो कार्य नहीं हो सकता। आदि कारण 'तृष्णा' के विद्यमान होने पर जन्म अवश्य होगा। यदि तृष्णा नहीं है तो जन्म नहीं होगा। प्रतीत्यसमुत्पाद का सार-रूप नियम यही है। इसे "कारणतावाद" या "इदं प्रत्ययता" का भी नियम कहते हैं। "इदं प्रत्ययता" का तात्पर्य यह है कि "इसके" होने से "यह" होने की अवस्था उपस्थित होगी। सारांश यह है कि "कारण" के उपस्थित होने पर "कार्य" अवश्य होगा। यदि अविद्या या अज्ञान है तो संस्कार अवश्य होगा। जन्म लेने से जरा तथा मरण का सामना करना होगा। इस प्रकार संसार में कोई भी कार्य बिना कारण नहीं होता। किसी घटना की उत्पत्ति के लिए कोई न कोई कारण अवश्य होता है। इस प्रकार किसी भी घटना (या बात) का होना किसी न किसी कारण के अधीन है। कारण या प्रत्यय के सिद्धान्त को ही प्रतीत्यसमुत्पाद कहा गया है। इसी को "तथता", अतथता और "अनन्यथता" भी कहते है। कारणों के फलस्वरूप नियमानुसार जो उत्पत्ति होती है उसे "तथता" कहा गया है। अतथता का तात्पर्य है प्रत्यय या कारणों के होने पर, किसी घटना की अवश्यंभावी उपस्थिति। "अनन्यथता" का तात्पर्य है कि किसी दूसरे पदार्थ को उत्पत्ति असम्भव है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि किसी पदार्थ की उत्पत्ति तभी हो सकता है जब कि उसके लिए कोई न कोई कारण विद्यमान हों।

"भगवान बुद्ध प्रतीत्यसमुत्पाद या कारणतावाद के माध्यम से हमें मध्यम मार्ग का उपदेश देते हैं। मध्यम मार्ग दो "अतिवादों" का समन्वय है अथवा दो "अन्तों" का परिहार है। दो "अन्त" क्या है? एक तो अकारणवाद या नास्तिकवाद है और दूसरा नियतिवाद या आस्तिकवाद है। अकारणवाद या नास्तिकवाद के अनुसार, संसार के सभी कार्य, अकारण घटित होते रहते हैं, अर्थात् किसी घटना का कोई कारण नहीं होता और सभी घटनायें या कार्य अकस्मात् होते रहते हैं। इस धारणा के अनुसार, मनुष्य का जन्म भी अकस्मात् होता हैं उसके सुख और दुःख का कोई कारण नहीं होता। नास्तिक मतावलम्बी इसी प्रकार की धारणा में विश्वास करते हैं। इसके ठीक विपरीत अर्थात् दूसरे "अन्त" वाले अर्थात् आस्तिक लोग जन्म तथा सुख और दुःख को ईश्वरीय कार्य समझते हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान ही सब कुछ करता है और हमारे भाग्य का निर्माता वही होता है। ईश्वर की इच्छानुसार ही मनुष्य इस जगत में सुख या दुःख भोगता है अर्थात् सब कुछ भाग्याधीन या ईश्वराधीन है। भगवान बुद्ध इन दोनों "अन्तों" अर्थात् "नास्तिकवाद" और "आस्तिकवाद" का परिहार करते हैं। भगवान बुद्ध का मत है कि जन्म, जरा और मरण अकारण नहीं होता और इसका कारण कोई अदृष्ट परमात्मा नहीं है। प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार "प्रतीत्य" अर्थात् इसके होने पर "समुत्पाद" अर्थात् यह उत्पन्न होता है, और इसके न होने पर अथवा इसके निरोध करने पर यह नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक उत्पत्ति किसी कारणवश या सकारण होती है, तथा अकारण कुछ नहीं होता। प्रत्येक कार्य हेतु कुछ न कुछ कारण होता है। वर्तमान जीवन भूतकाल के जीवन का फल है और पुन: भविष्य का जीवन उत्पन्न होगा। इस प्रकार वर्तमान, भूत और भविष्य की अविरल धारा चलती रहती है।

जैसा कि ऊपर कहा ही जा चुका है, प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध दर्शन के आधारभूत सिद्धांत के रूप में माना जाता है। इसी दर्शन की खोज में भगवान बुद्ध ने राज-भोग-सुख को त्याग कर घोर तपस्या की थी। मनुष्य जन्म लेता है और मरता है। उसके जन्म और मरण का चक्र अविरल रूप में चलता रहता है। मनुष्य जन्म लेता है मरने के लिए और मरता है जन्म लेने के लिए। जन्म और मरण का कारण कोई अज्ञात शक्ति या अज्ञात ईश्वर नहीं है। हम किसी के कहने पर पृथ्वी पर जन्म नहीं लेते। हम स्वयं जन्म लेने की इच्छा करते हैं इसलिए जन्म लेते हैं। मनुष्य का कोई अन्य कारण नहीं है। वह स्वयं अपना कारण है। यदि हम पुन: जन्म लेने की इच्छा न करें तो हम जन्म नहीं ले सकते। मनुष्य की इच्छा और तृष्णा ही जन्म का प्रधान कारण बताना भगवान बुद्ध की देन है। इस प्रकार भगवान बुद्ध मनुष्य को अपना स्वयं स्वामी, भाग्यविधाता और नाथ मानते हैं।

5.6.2 क्षणिकवाद (अनित्यवाद)

प्रतीत्यसमुत्पाद के उपर्युक्त विवेचन में कारण-सिद्धांत के अनुसार हम यह समझ चुके हैं कि "इसके होने पर ऐसा होता है, तथा इसके नहीं होने पर ऐसा नहीं होता है। क्षणिकवाद (या अनित्यवाद) तथा अनात्मवाद का प्रतीत्यसमुत्पाद से बहुत गहरा सम्बन्ध है। प्रतीत्यसमुत्पाद का कार्य-सिद्धांत सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता या क्षणभंगुरता सिद्ध करता है। कारण के होने पर ही कोई कार्य होता है और कारण के अभाव में कार्य उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार सभी वस्तुएं कुछ कारणों से ही उत्पन्न होती है और उत्पन्न होने के कारण वे विनाशी या क्षण भंगुर होती है क्योंकि जन्म और मरण संसार का स्वभाव ही है, अर्थात् संसार में कोई वस्तु नित्य नहीं होती ओर सभी का विनाश अवश्यंभावी है।

क्षणिकवाद का तात्पर्य यह है कि किसी भी वस्तु का अस्तित्व स्थायी या सनातन नहीं है। दूसरे शब्दों में, कोई भी वस्तु केवल थोड़े ही दिन तक रहती है और उसके बाद वह नष्ट हो जाती है। जैसे एक प्रवाह से दूसरा प्रवाह उत्पन्न होता है और दूसरे से तीसरा उत्पन्न होता है तथा यह क्रम सदा चलता रहता है, वैसे ही एक क्षण दूसरे को जन्म देता है और दूसरा तीसरे को जन्म देता है और यह क्रम सदैव चलता रहता है। प्रवाह को इस नित्यता को भ्रमवश हम सनातन या शाश्वत मान लेते हैं। वस्तुत: कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं होती। सभी विनाशी, अनित्य और क्षणिक हैं। परिवर्तन प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है अर्थात्
प्रत्येक वस्तु किसी न किसी रूप में हर समय बदलती रहती है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव ही क्षणिक है।

5.6.3 अर्थ क्रियाकारित्वाद

अर्थ क्रियाकारित्व का तात्पर्य किसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति से है। वर्तमान भूत से उत्पन्न हुआ है, अर्थात् भूत में वर्तमान को उत्पन्न करने की शक्ति है। प्रत्येक क्षण अपने पूर्व क्षण से ही जनित है और प्रत्येक क्षण अपने उत्तर क्षण का जनक है। इस प्रकार बौद्ध दार्शनिकों का यह विश्वास है कि प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व क्षणिक है। "अर्थ" का तात्पर्य "वस्तु" या "सत्ता" से है। प्रत्येक "वस्तु" परिवर्तनशील और क्षणिक है। इसलिए परिवर्तन करने

की शक्ति प्रत्येक "वस्तु" में है-ऐसा मानना होगा। बीज अंकुरित होता है। इसका तात्पर्य है कि बीज में अंकुरित होने की शक्ति है। अंकुरित होने के बाद बीज नष्ट हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि बीज विनाशी या क्षण भंगुर है। इस प्रकार आर्थिक-क्रिया-कारित्व "क्षंगभंगवाद" पर निर्भर है और "क्षणभंगवाद" प्रतीत्य समुत्पाद पर निर्भर है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो सत्ता (या वस्तु है उसमें अर्थ क्रिया की शक्ति है। इस प्रकार सत्ता और अर्थ क्रिया सामर्थ्य एक ही वस्तु है। समझने की सुविधा हेतु केवल उन्हें दो नाम दिये गये हैं।

5.6.4 अनात्मवाद

ब्राह्मण दर्शन में आत्मा को नित्य, कूटस्थ अचल और ध्रुव रूप में स्वीकार किया गया है। उम्र के साथ शरीर के विभिन्न अंग परिवर्तित होते रहते हैं-परन्तु परिवर्तित होने वाला व्यक्ति एक ही होता है। विभिन्न अवस्थाओं के स्वरूप की स्मृति व्यक्ति में अवश्य बनी रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि सभी स्मृतियों का आधार एक नित्य आत्मा ही है। नित्य आत्मा की स्थिति स्वीकार करने पर ही बन्धन और मोक्ष की व्याख्या करना सम्भव है। आत्मा को ही बंधन से मुक्ति प्राप्त होती है। ब्राह्मण दर्शन में इसी तरह के अनेक तर्क से आत्मा की सत्ता सिद्ध की गई है। बौद्ध दर्शन की यह विशिष्टता है कि वह जन्म-मरण, स्मृति, कर्मवाद, संस्कार और बन्धन-मोक्ष को स्वीकार करते हुए भी "नित्य आत्मा" अर्थात् "आत्म" की "नित्यता" को स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन अनात्मवादी है, परन्तु इसमें कर्म, बन्धन और मोक्ष इत्यादि प्रत्ययों की इस प्रकार युक्तिपूर्वक व्याख्या की गई है कि इन व्याख्याओं में दार्शनिक दृष्टिकोण से कहीं लचर-पचर अर्थात् अतार्किक बात नहीं है। ब्राह्मण दर्शन में आत्मा को परम सत् और अविनाशी माना गया है। आत्मा को ही सभी वस्तुओं का आधार माना गया है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को नहीं मानते। भगवान बुद्ध ने कहा है कि व्यक्ति जिस प्रकार स्त्री, पुरूष, पुत्र तथा धन की कामना करता है उसी प्रकार वह आत्मा की भी कामना करता है। उनका कहना है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए सभी प्रकार की कामनाओं का परित्याग करना होगा। यदि व्यक्ति सांसारिक वस्तुओं का त्याग करता है, परन्तु आत्मा की कामना का परित्याग नहीं करता तो उसे मोक्ष, नहीं प्राप्त हो सकता। स्पष्ट है कि भगवान बुद्ध के अनुसार "आत्म-कामना" सांसारिक विषय की कामनाओं की ही तरह है। भगवान बुद्ध का विश्वास है कि आत्मा पांच स्कन्धों या तत्वों का केवल एक समुदाय है। यह पांच स्कन्ध या तत्व रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान है। भगवान बुद्ध पारमार्थिक आत्मा को नहीं मानते, किन्तु अनित्य व्यावहारिक आत्मा को मानते हैं। व्यक्ति की सत्ता अवश्य है परन्तु व्यक्ति केवल पांच स्कन्धों या तत्वों का समुदाय है, वह नित्य और अविनाशी नहीं है। व्यक्ति पांच स्कन्धों या तत्वों से भिन्न नहीं है। वह तो शारीरिक और मानसिक दो अवस्थाओं का पुंज है।

5.6.5 पंच स्कन्ध या पांच तत्व

रूप स्कन्ध : इसके अन्तर्गत पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु से उत्पन्न सभी रूप स्कन्ध कहे जाते हैं। हड्डी, स्नायु, माँस और चर्म से घिरा हुआ आकाश रूप बनाते हैं।

वेदना स्कन्ध : "सुख", "दुःख" और "न सुख और न दुःख" को अनुभूतियों को वेदना की संज्ञा दी गई है। अनुकूल अनुभव से सुख मिलता है और प्रतिकूल से दुःख। "न सुख और न दुःख" अनुभव

से अ-दुखसुखात्मक वेदना (भाव या अनुभूति) का अनुभव होता है। इसी को वेदना-स्कन्ध कहते है।

संज्ञा स्कन्ध : गुणों के आधार पर हम किसी वस्तु का नामकरण करते हैं। यह नामकरण ही संज्ञा-स्कन्ध कहा जाता है। संज्ञा का कार्य पहचान करना है। नीला, पीला, लाल, सफेद आदि से किसी वस्तु की पहचान होती है। इस प्रकार की पहचान कर पाना संज्ञा स्कन्ध है।

संस्कार स्कन्ध : किसी वस्तु के सम्पर्क में आने से जो हमें कुशल या अकुशल चेतना होती है वहीं संस्कार है। राग-द्वेष की प्रवृत्तियां इसी के अन्तर्गत मानी जाती हैं। किसी वस्तु की संज्ञा से ही व्यक्ति में कोई राग या द्वेष उत्पन्न होता है। राग और द्वेष की चेतना को संस्कार कहा गया है। संस्कार तीन प्रकार के होते हैं-काम-संस्कार, वाक्-संस्कार और चित्र-संस्कार। शारीरिक धर्म काम संस्कार है। वितर्क या कुतर्क वचन वाक् संस्कार है। संज्ञा और वेदना को चित्र संस्कार कहा गया है।

विज्ञान स्कन्ध : बाहरी वस्तुओं का ज्ञान आन्तरिक अहम् अर्थात् "मैं" का अभिज्ञान। विज्ञान कहा जाता है। रूप, रस, स्पर्श तथा गन्ध से हमें बाहरी वस्तुओं का ज्ञान होता है, और आन्तरिक ज्ञान हम अपने "अहम्" रूप में करते हैं यही विज्ञान-स्कन्ध है। संज्ञा, वेदना और विज्ञान में परस्पर संबंध है। मीठा तथा कडुवे आदि के स्वाद का अनुभव वेदना है और जब हमें किसी वस्तु के परिचय का ज्ञान होता है तो वह संज्ञा है।

उपर्युक्त पांच स्कन्धों के संयोग से आत्मा का निर्माण होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता कि ये पांच स्कन्ध आत्मा के प्रधान अंग है।

5.6.6 कर्मवाद

भगवान बुद्ध द्वारा प्रतिपादित कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांतों में औपनिषद सिद्धांत का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। बुद्ध के अनुसार "पाप" और "पुण्य" मनुष्य के कर्मों का ही फल होता है। पापी व्यक्ति इस लोक और "परलोक" दोनों स्थानों में शोक करता है। जो व्यक्ति अच्छे कर्म करता है वह इस लोक और परलोक दोनों में सुख पाता हैं अपने कर्मफल के कारण ही कोई व्यक्ति सुखी रहता है और कोई दुखी रहता है। यह अपने-अपने कर्म का ही फल है कि कोई धनी है, कोई गरीब है, कोई बलवान है, कोई दुर्बल है, कोई स्वस्थ है, कोई रोगी है, कोई मूर्ख है और कोई ज्ञानी। इतना ही नहीं, वरन् इस संसार का वर्तमान स्वरूप अथवा इसकी अनेक विचित्रता ईश्वर की इच्छा का फल नहीं है। संसार की विचित्रता भी किसी कर्म के फलस्वरूप ही है। चूंकि भगवान बुद्ध का "प्रतीत्यसमुत्पाद" में विश्वास था, इसलिए संसार की विचित्रताओं के पीछे किसी कारण को उन्होंने स्वीकार किया। स्पष्ट है कि कुछ कार्यों के फलस्वरूप ही विश्व को विचित्रताओं की अभिव्यक्ति होती है। भगवान बुद्ध ने प्राणी मात्र को यह संदेश दिया है कि उन्हें दुःख उनके कर्मों के फलस्वरूप ही मिलता है। अत: प्रत्येक व्यक्ति अपने दुख का निवारण स्वयं कर सकने में समर्थ हो सकता है। यह ध्यान देने की बात है कि बौद्ध धर्म के अनुसार मनुष्य की आत्मा का आवागमन नहीं होता वरन् उसके कर्मों का आवागमन होता है। मृत्यु के बाद जीव की आत्मा का तो नाश होता है, परन्तु उसके कर्म, अविनाशी रूप में विद्यमान रहते हैं। इन्हीं कर्मों के फलस्वरूप दूसरे शरीर का निर्माण होता है

और व्यक्ति पुनर्जन्म प्राप्त करता हैं। इस प्रकार बौद्ध धर्म में कर्मवाद के प्रमुख सिद्धांतों को स्वीकार किया गया है कि कोई कर्म कैसा भी हो, परन्तु उसका फल अवश्य मिलेगा। यह फल किसी न किसी रूप में अपने कर्ता पर प्रभाव डालते हैं। बौद्ध धर्म के अनुसार कर्म का फल ईश्वराधीन नहीं है। कर्म तो अपने फल को स्वत: देने में सक्षम होता है। ब्राह्मण धर्म द्वारा प्रतिपादित ईश्वर की सत्ता तथा जैन धर्म की भौतिक विवेचना के बीच बौद्ध धर्म का कर्मवाद मध्यम मार्ग कहा जा सकता है।

ब्राह्मण धर्म की तरह ही बौद्ध धर्म में भी कर्म के तीन प्रकार स्वीकार किये गये हैं- (1) शारीरिक, (2) वाचिक और (3) मानसिक। कर्म से किसी क्रिया को करने की भावना जागृत होती है। वाचिक कर्म में इस भावना का प्रकाशन वाणी द्वारा होता है, और शारीरिक कर्म में व्यक्ति अपने शरीर से क्रिया को संचालित करता है। यदि व्यक्ति किसी जंगल में किसी पशु के वध के लिए जाता है तो उसका यह मन्तव्य मानसिक कर्म हुआ।

5.6.7 बोधिसत्व

महायान सम्प्रदाय का यह बहुत ही प्रसिद्ध सिद्धांत है। इस सिद्धांत के कारण महायान सम्प्रदाय को "बोधिसत्व यान" भी कहा जाता है। जिस मनुष्य ने बोधिसत्व प्राप्त कर लिया वह परम आध्यात्मिक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इस आध्यात्मिक स्वरूप को भगवान का स्वरूप भी कहते हैं। बोधिसत्व किसी भी मनुष्य के लिए सर्वोच्च आदर्श है। ऐसा मनुष्य आध्यात्मिक विभूतियों से सम्पन्न रहता है। वह भगवान के समान ही महत्वपूर्ण समझा जाता है। एक प्रकार से बोधिसत्व को मनुष्य देवता भी कहा जा सकता है। चूंकि व्यक्ति ने मनुष्य के समान जन्म लिया है। इसलिए वह मनुष्य है, परन्तु दैवी-विभूतियों से युक्त होने के कारण वह देव है। बोधिसत्व का शाब्दिक अर्थ ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा वाला व्यक्ति। "बाधि" का अर्थ "ज्ञान" होता है। भगवान बुद्ध अपने अनेक पूर्वजन्मों में जब बुद्धत्व प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे थे तो वे बोधिसत्व थे। महात्मा बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाएं (जातक कथायें) बोधिसत्व की ही कहानियां हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि हीनयान में भी बोधिसत्व का विवरण मिलता है। परन्तु महायान में यह एक "वाद" या "सिद्धांत" के रूप में प्रतिपादित है। महायान के अनुसार हीनयान में श्रोतापन्न, सुकदागामी, अनागामी और अर्हत नामक चार आध्यात्मिक श्रेणियां हैं। इसी प्रकार साधकों के तीन स्तर हैं-

1. श्रावक
2. प्रत्येक बुद्ध और
3. बोधिसत्व

श्रावक अपनी साधना के बल पर अर्हत् पद पाने की इच्छा करता है। श्रावक श्रोतापन्न-सुकृतगामी-अनागामी और अर्हत् नामक चार सीढ़ियों को पार करके निर्वाण की कामना करता है। वह अर्हत् पद प्राप्त करके संतोष प्राप्त कर लेता है। बोधिसत्व ऐसा महाप्राणी है जिसे सम्यक् सम्बोधि प्राप्त होती है। सम्यक् सम्बोधि को श्रेणी बोधि से बहुत ऊँची है। बोधि प्राप्त किया हुआ श्रावक (या प्रत्येक बुद्ध) केवल अपना व्यक्तिगत कल्याण ही चाहता है, जबकि सम्बोधि

प्राप्त साधक समस्त प्राणियों का कल्याण या निर्वाण चाहता है। सभी प्राणियों को निर्वाण प्राप्त कराने में उसे परम आनन्द की अनुभूति होती है। इसलिए वह वन में जाकर व्यक्तिगत निर्वाण या जन्म सुख की अनुभूति का इच्छुक नहीं होता। वह तो सभी प्राणियों को निर्वाण दिलाने का संकल्प करता है। परोपकार ही उसका व्यसन हो जाता है। वह सामाजिक सेवा में लगा रहना पसन्द करता है। बोधिसत्व महाकरूणा की मूर्ति होता है। फलत: वह व्यक्तिगत निर्वाण को ठुकराकर सभी के सुख के लिए अपने सुख का त्याग करता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि महायान सम्प्रदाय में आध्यात्मिकत्व के साथ सामाजिकता का भी समावेश है। बोधिसत्व सामाजिक सेवा तथा परोपकार की सजीव मूर्ति होता है। दूसरे के दुःख को दूर करने में उसे बड़ा ही आनन्द आता हैं अत: बोधिसत्व का सबसे बड़ा गुण सबके लिए महाकरूणा है। फलत: सभी जीवों को सुखी बनाने का वह व्रत धारण करता है और इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु वह अपने जीवन को उत्सर्ग कर देता है। भगवान बुद्ध "बोधि" प्राप्त करने के बाद स्वयं बोधिसत्व हो गये और उन्होंने लोक कल्याण का व्रत धारण किया सबके हित और सबके सुख के लिए उन्होंने अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया तभी तो स्थान-स्थान पर जाकर वे उपदेश दिया करते थे। बोधिसत्व के लिए दो बातें आवश्यक हैं : बोधिवित्त और बोधिचर्या।

बोधिचित्त :- सभी प्राणियों के लिए बुद्धत्व प्राप्त कराने की चेष्टा करना बोधि-चित्त है। बोधिचित्त ग्रहण करने से ही सभी जीवों के कल्याण के लिए हृदय में करूणा प्राप्त हो सकती है।

बोधिचर्या :- बोधिचर्या में परमिताओं का अभ्यास हैं। ये परमिताएं दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा हैं। ये परमिताएं ही बोधिसत्व की शिक्षा हैं।

बोधिचित्त और बोधिचर्या के अतिरिक्त बोधिसत्व के लिए कुछ पूजा-विधानों का भी विवरण दिया गया है। महायान सम्प्रदाय में पूजा का विधान एक आवश्यक अंग समझा गया है। इस विधान के सात निम्नलिखित भाग हैं-

(1) प्रार्थना-पूजा।

(2) शरण-गमन। बोधिसत्व संघ की शरण लेता है।

(3) पाप-देखना। बोधिसत्व अपने पाप को देखता है और उससे मुक्ति पाने के लिए बेचैन रहता है।

(4) पुण्यानुमोदन- अन्य साधकों के कार्यों की प्रशंसा करते हुए उन्हें समुचित महत्व देता है।

(5) अध्येषण- भगवान बुद्ध से उपदेश देने के लिए वन्दना करता है।

(6) आत्मभाव- परित्याग-बोधिसत्व अहम् भाव को जीत लेता है। उसका अहम् शून्य हो जाता है। फलत: लोक सेवा में वह रत हो जाता है।

बोधिसत्व अपने आचार और विचार के कारण सर्वोच्च प्राणी माना जाता है। उसका जीवन अत्यंत पवित्र समझा जाता है। भगवद्गीता में वर्णित "स्थित-प्रज्ञ" के समान ही उसका आचरण होता है।

5.6.8 बौद्ध धर्म के सम्प्रदाय हीनयान और महायान

भगवान बुद्ध के जीवन-काल में बौद्ध धर्म के अन्तर्गत कोई सम्प्रदाय नहीं बना। भगवान बुद्ध ने सारी मानव जाति के कल्याण के लिए जन्म और मरण का निदान समझाया। उनके इस निदान को किसी देश, काल या सम्प्रदाय की परिधि में नहीं बांधा जा सकता। अत: भगवान बुद्ध के उपदेश शाश्वत सत्य हैं और वह किसी काल या किसी भू-भाग की परिधि के परे हैं। परन्तु अन्य धर्मो की तरह भगवान बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्ध धर्म भी दो प्रमुख सम्प्रदायों में बंट गया-हीनयान औ महायान। इस सम्प्रदायों की उत्पत्ति का प्रधान कारण भिक्षुओं में परस्पर वाद-विवाद तथा मत-मतान्तर रहा। भगवान बुद्ध के मूल उपदेशों के आदि को लेकर मतभेद खड़े होने लगे और उनकी विभिन्न व्याख्यायें दी जाने लगी। किसी एक व्याख्या का सहारा लेकर एक सम्प्रदाय बना लिया गया और दूसरी व्याख्या के अनुसार दूसरा सम्प्रदाय। वस्तुत: आज बौद्ध धर्म में अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हैं, जैसे-स्थविरवाद, महीशासक, हैमावत, वात्सीपुत्रीय, धर्मगुप्तिक, काश्यनीय और महासांधिक आदि-आदि। इन सबकी व्याख्या यहां करना आवश्यक नहीं हैं। परन्तु अत्यंत संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म के दो प्रमुख सम्प्रदाय हैं- हीनयान और महायान। बौद्ध धर्म के सम्प्रदाय संसार के अनेक देशों में प्रचलित हैं। हीनयान धर्म प्रमुखत: लंका, बर्मा, थाईलैण्ड आदि देशों में है और महायान धर्म जापान और कोरिया आदि देशों में प्रचलित है।

5.6.9 हीनयान धर्म और महायान धर्म में मौलिक भेद

हीनयान धर्म बौद्ध धर्म का सबसे पुराना रूप है। हीनयान शब्द का अर्थ है "छोटी गाड़ी" या "लघु पन्थ"। महायानी आचार्यों ने यह नाम रखा है। हीनयान धर्म में व्यक्तिगत निर्वाण को प्रमुख मान्यता दी गई है। महायान का अर्थ "बड़ी गाड़ी" या "वृहद् मार्ग" है। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति और समष्टि के निर्वाण का ही दोनों सम्प्रदायों में मौलिक भेद प्रदर्शित किया गया है। नीचे हम दोनों सम्प्रदायों के मौलिक भेद की ओर अति संक्षेप में संकेत कर रहे हैं-

हीनयान में "व्यक्ति-विशेष" के कल्याण पर बल दिया गया है और महायान में समष्टि कल्याण पर। यदि भगवान बुद्ध का उद्देश्य सबके कल्याण का न होता तो वे स्वयं अपना निर्वाण प्राप्त करके संतुष्ट हो जाते। परन्तु उन्होंने सबके हित और सुख के लिए शिक्षा दी है। हीनयान के अनुसार, व्यक्ति को निजी मोक्ष की चेष्टा करनी चाहिए। महायान के अनुसार ऐसा विचार संकुचित है। भगवान बुद्ध का उपदेश सबको मुक्त करने के लिए है।

हीनयान का आदर्श व्यक्तित्व निर्वाण है, परन्तु महायान का आदर्श "बोधिसत्व" है। बोधिसत्व वह प्राणी है जो अपना निर्वाण प्राप्त करके भी उसे तब तक स्वीकार नहीं करता जब कि सभी प्राणी निर्वाण न प्राप्त कर लें। इस प्रकार बोधिसत्व सबको मुक्ति के लिए अपनी मुक्ति की उपेक्षा करता है। इस प्रकार परमार्थ के लिए अपने स्वार्थ (अर्थात मुक्ति) का त्याग करना उसका आदर्श है।

लोक-कल्याण की भावना से महायान ओत-प्रोत है। एक महायानी के लिए दीन-दुखियों की सेवा करना सबसे बड़ा धर्म है।

त्रिकायवाद महायान का एक प्रमुख सिद्धांत है। हीनयान के अनुसार, बुद्ध एक साधारण मनुष्य थे। उनका, जन्म, शैशव, विवाह और सन्तान-प्राप्ति आदि एक सामान्य व्यक्ति के समान था। उन्होंने निरन्तर साधना करके बुद्धत्व प्राप्त किया। हीनयान के अनुसार बुद्ध एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। महायानी मतावलियों के अनुसार, महात्मा बुद्ध के तीन शरीर है- निर्माण काय, धर्म काय और सम्भोग काय। निर्माण काय को निर्मत कार्य या "रूप काय" भी कहते हैं। रूप काय को शाक्य-मुनि ने लोकाचार के अनुसरण के लिए धारण किया था। वस्तुत: बुद्ध की यह असली काया नहीं है। भगवान बुद्ध का वास्तविक शरीर धर्म-काय है। धर्म-काय आध्यात्मिक शरीर है। यह भौतिक शरीर नहीं है। सम्भोग काय भगवान बुद्ध का आनन्दमय शरीर है। इस शरीर से वह स्वर्ग में निवास करते हैं।

महायान भक्तिप्रधान धर्म है। हीनयान में इस भाव का अभाव है। महायान में बुद्ध को सारे जगत का ईश्वर माना गया है और उनकी मूर्ति की पूजा की जाती है।

महायान में "पूर्णता" या परिमिता की एक अवधारणा है। बोधिसत्व (अर्थात् एक सच्चे महायानी), के लिए छ: परिमिताओं (पूर्णताओं) का अभ्यास आवश्यक माना गया है- ये परिमितायें-दान शील, शान्ति (या सहिष्णुता), वीर्य (पराक्रम), ध्यान और प्रज्ञा (बुद्धि या ज्ञान) है। हीनयान में दस परिमिताओं का विवरण है। ये हैं-दान, शील, निष्कामना, प्रज्ञा, वीर्य, शान्ति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री और उपेक्षा। महायान में प्रज्ञा परिमिता को सबसे प्रधान समझा जाता है। महायान का विश्वास है कि प्रज्ञा वाले व्यक्ति को ही शून्यता का ज्ञान हो सकता है। शून्यता का तात्पर्य सभी धर्मो के निस्सरण के ज्ञान से है। इस प्रकार की शून्यता को दृष्टि-शून्यता भी कहते हैं। दृष्टि-शून्यता "ज्ञेयावरण" का क्षय है। ज्ञेयावरण हीनयान में वर्णित "क्लेशवरण" के क्षय से अधिक महत्व का समझा जाता है। महायान की धारणा है कि शून्य में प्रवेश करने वाला ही निर्वाण को प्राप्त कर सकता है।

दसभूमि की कल्पना महायान धर्म की एक विशिष्टता है। हीनयान में केवल चार भूमियों का विवरण है-श्रोतापत्र, सकृदागामी, अनागामी और अर्हता। महायान का विश्वास है कि निर्वाण प्राप्त करने के लिए दसभूमियों का होना आवश्यक है। ये दस इस प्रकार है-प्रमुदिता, विमल, प्रभाकारी, अर्चिमतो, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दूरगया, अचला, साधुमती और धर्ममेधा। इन भूमियों से यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल अहत-पद प्राप्त करना ही बोधिसत्व का कार्य नहीं है। इस पद के प्राप्त कर लेने पर भी उसके लिए दसभूमियों का नियम-पालन अत्यंत आवश्यक है।

त्रिविध यान :- इस संबंध में हीनयान और महायान एकमत नहीं है। त्रिविध यान के अन्तर्गत श्रावकयान, प्रत्येक बुद्ध-यान और बोधिसत्व यान आते हैं। ये तीनों यान निर्वाण की प्राप्ति के लिए आवश्यक समझे जाते हैं। हीनयान का मार्ग श्रावकया है। गुरू के पास सीखने के लिए जाने वाले को श्रावक कहते हैं। श्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी और अहत् ये चार

भूमियां श्रावक के लिए आवश्यक समझी गई हैं। गुरू की आवश्यकता प्रत्येक बुद्धियान में नहीं पड़ी, क्योंकि वह स्वयं ज्ञान प्राप्त करता है। महायान का मार्ग बोधिसत्व यान है। इसके लिए ज्ञान के अतिरिक्त "महाकरूणा" भी आवश्यक है। महाकरूणा के आधार पर वह सबको बुद्ध बना सकता है। इसके लिए बोधि के अतिरिक्त "सम्बोधि" भी आवश्यक समझी जाती है।

अनित्यवाद अनात्मवाद और अनीश्वरवाद की दार्शनिक अवधारणा हीनयान की देन है। हीनयान का विश्वास है सब कुछ अनित्य क्षणिक, विनाशी और परिणामी है। जहां कोई भी सत्ता है उसमें परिवर्तन अवश्यंभावी है। कोई भी वस्तु सदा रहने वाली नहीं है। ईश्वर को मानना बुद्धि का एक भ्रमभाग है। मनुष्य का कोई ईश्वर नहीं होता। वह स्वयं अपना मित्र, सहायक और स्वामी होता है। विज्ञानवाद और शून्यवाद महायान की दार्शनिक देन है। महायान में वस्तु को सत्ताविज्ञान के रूप में स्वीकार की गई है। महायान के अनुसार सम्पूर्ण जगत विज्ञान का विस्तार समझा गया है। शून्यवाद के अनुसार सभी धर्म शून्य या निस्सार हैं। प्रज्ञा से ही शून्यता का ज्ञान हो सकता है, वह ज्ञान बुद्धि से सम्भव नहीं है। बौद्धिकज्ञान विकल्पात्मक होता है। "शून्य" सभी विकल्पों, अर्थात् सत्-असत् के परे निर्वाण का ज्ञान है।

महायान के अनुसार "संवृत्ति" ओर "परमार्थ" नामक दो "सत्य" हैं। ये "सत्य" महायान की दार्शनिक देन हैं। संवृत्ति के अन्तर्गत सांसारिया या व्यावहारिक ज्ञान आता है। दूसरा अर्थात् "परिमार्थ" पारमार्थिक ज्ञान है। महायान की यह दूसरी अवधारणा अद्वैत वेदान्त की तरह ही पारमार्थिक सत्य के समान है।

ऊपर हमने हीनयान और महायान के मतभेद की ओर अति संक्षेप में संकेत किया है। यह याद रखना आवश्यक है कि ये दो सम्प्रदाय बौद्ध धर्म के केवल दो वर्ग हैं। हीनयान को बौद्ध धर्म की प्रारम्भिक अवस्था कह सकते हैं और महायान को विकसित। वस्तुत: दोनों के आधार बुद्ध वचन ही है। महायान का कोई भी ऐसा सिद्धांत नहीं है जो बीज रूप में हीनयान में न पाया जा सके। अत: हीनयान यदि बीज है तो महायान एक विकसित वृक्ष है। कहने का तात्पर्य यह है कि हीनयान और महायान दोनों मूल रूप में एक ही है। केवल शाखा रूप में वे दो मालूम होते है।

5.6.10 माध्यमिक शून्यवाद

आचार्य अश्वघोष शून्यवाद के प्रारम्भिक प्रतिपादक माने जाते हैं परन्तु नागार्जुन ने इस वाद को सम्प्रदाय का रूप दिया। अश्वघोष और नागार्जुन द्वारा शून्यवाद पर रचित साहित्य के पहले भी महायान सूत्रों में शून्यवाद का यत्र-तत्र विवरण मिलता है। परन्तु शून्यवाद के अस्त-व्यस्त और अक्रमिक विचारों को सुसम्बद्ध रूप में गठित करने का श्रेय मुख्यत: नागार्जुन को प्राप्त है। नागार्जुन द्वारा रचित "माध्यमिक कारिका" तथा आर्य देव द्वारा लिखी हुई "चतु:शतिका" को "शून्यवाद" का प्रामाणिक साहित्य माना जाता है।

माध्यमिक का अर्थ

भगवान बुद्ध ने अपने लिए "मध्यम मार्ग" को चुना था। इसका अर्थ यह है कि वे न तो तपस्वी बन कर किसी जंगल में अपना जीवन व्यतीत करना चाहते थे, और न एक सांसारिक व्यक्ति के रूप में संसार के प्रपंचों के मध्य रहना चाहते थे। ज्ञान प्राप्त करने के बाद

लोगों के कल्याणार्थ उन्होंने अपने जीवन को बिताया। इस प्रकार एक "मध्यम मार्ग" का अनुसरण करना ही उनके जीवन का परम लक्ष्य बना। अत: बुद्ध का यह मार्ग "माध्यमिक" नाम से विख्यात हुआ।

शून्यवाद का अर्थ

भगवान बुद्ध के माध्यमिक दर्शन (या मध्यम मार्ग के सिद्धांत) की प्रमुख धारा "शून्यवाद" के नाम से प्रसिद्ध है। बुद्ध के "मध्यम मार्ग" के अनुसरण करने वाले बौद्ध लोग "परमार्थ सत्य" को "शून्य" मानते हैं। अत: माध्यमिक बौद्ध लोगों का दर्शन "शून्यवाद" कहा जाता है। इस "वाद" में "शून्य" को ही परम सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है। आधारभूत तत्व विकल्पों से परे हैं और वह तर्क से भी परे हैं। यह (अर्थात् आधारभूत तत्व) शून्य है। तर्कबुद्धि के द्वारा हम तत्व के वास्तविक स्वरूप को ग्रहण नहीं कर सकते। किसी व्यक्ति के तर्क में "भाव"(अर्थात् अस्ति) और अभाव (अर्थात् नास्ति) के रूप में ही किसी वस्तु को स्वीकार किया जाता है। परन्तु "भाव" या "अभाव" के रूप में किसी तत्व को समझना सम्भव नहीं है। यदि तर्क के द्वारा हम तत्व को समझने का प्रयास करते हैं तो हम तर्क-जाल में फंसते ही जाते हैं, क्योंकि तर्क का कोई अन्त नहीं है। संसार सागर को पार करने के लिए हमें तर्क-जाल से बचना चाहिए। हमें बौद्धिक प्रपंचों से छुट्टी लेकर केवल "शून्य" की शरण लेनी चाहिए। इसीलिए भगवान बुद्ध ने सभी दृष्टियों (सभी सांसारिक प्रपंचों तथा तर्क-जाल) से छुटकारा प्राप्त करने का उपदेश दिया है। इस प्रकार का छुटकारा पाना "शून्यता" है। इस प्रकार "शून्यवाद" विभिन्न प्रकार के विकल्प सम्बन्धी तर्क-बुद्धि को सत्य के क्षेत्र से बाहर फेंक देता है। साधारणत: "शून्य" शब्द का अर्थ असत् या अभाव के रूप में लिया जाता है। परन्तु माध्यमिक आचार्यों ने "अभाव" के रूप में "शून्य" का अर्थ नहीं लिया है। इन आचार्यों के मत में "शून्य" का अर्थ है "अनिवर्चनीय" हैं; अर्थात् जो निर्वचन के अयोग्य हो-जिसके लक्षण आदि न बताये जा सके-अर्थात् जिसका वर्णन न किया जा सकें। संसार को न तो मानसिक कहा जा सकता है और न बाह्य। किसी वस्तु के स्वरूप के निर्धारण में चार श्रेणियों का प्रयोग किया जा सकता है-भाव, (अस्ति), अभाव (नास्ति), उभय या नोभय (न भाव और न अभाव) इस प्रकार किसी भी वस्तु के स्वरूप का ठीक-ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता। वह वाणी और बुद्धि की परिधि के बाहर होता है। माध्यमिक दर्शन में "शून्य" के दो रूप हैं। यह सत्य भी है और मिथ्या भी। यह तत्व भी है और इसे माया भी कहा जा सकता है। शून्य का अर्थ है सभी प्रपंचों से छुटकारा या निवृत्ति। संसार की जड़ में निहित यह शून्य तत्व भाव पदार्थ है। शून्यता सापेक्षवाद का सिद्धांत है। संसार का कोई भी ऐसा धर्म नहीं है जो किसी न किसी पर निर्भर न हो, अर्थात् सभी धर्म "शून्य" हों। इस प्रकार सभी धर्म परावलम्बित हैं, सभी परिवर्तनशील हैं। वे सभी अनिवर्चनीय हैं। उनकी अनिर्वाच्यता "शून्य" है। शून्य-संबंधी इस मत को मध्यम मार्ग कहा जाता है। इस मध्यम मार्ग के अनुसार किसी वस्तु का स्वरूप न तो पूर्णत: भाव रूप है और न अभाव रूप ही है। माध्यमिक दर्शन में "शून्य" की व्याख्या करने के क्रम में कुछ विद्वानों ने "शून्यवाद" को अभाववाद बताया है, परन्तु इस अभाववाद को प्रमाणिकता सिद्ध नहीं है।

माध्यमिक दर्शन में शून्य को एक मात्र तत्व मानने का अर्थ यह स्पष्ट करना हैं कि किसी वस्तु के पारमार्थिक स्वरूप की व्याख्या नहीं की जा सकती और यह "बुद्धि या तर्क" के परे हैं। जिस तत्व का हम शब्दों में वर्णन नहीं कर सकते उसे वास्तव में "शून्य" कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। अत: शून्यवाद का दार्शनिक मन्तव्य भावात्मक है, अभावात्मक नहीं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि माध्यमिक दर्शन के अनुसार "शून्य" ही तत्व है। "व्यवहार" और "परमार्थ-दृष्टि" के दृष्टिकरण से हम "शून्य" का अर्थ ले सकते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से शून्य प्रतीत्यसमुत्पाद है, अर्थात् व्यवहारिक दृष्टि से यह जन्म-मरण का चक्र है और परमार्थिक दृष्टि से यही निर्वाण है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि "शून्य" का अर्थ "अभाव" से नहीं लेना चाहिए। शून्यवाद को असत्वाद नहीं समझना चाहिए।

5.7 बौद्ध धर्म का प्रभाव

भारत तथा भारत के बाहर एशिया महाद्वीप के अन्य देशों में बौद्ध धर्म का विस्तार हुआ। यद्यपि आज भारत में बौद्ध धर्मावलम्बी केवल कुछ ही प्रदेशों में इधर-उधर मिलते हैं, परन्तु इस धर्म का विस्तार विशेष रूप से लंका, बर्मा, तिब्बत, मंगोलिया, इण्डोनेशिया, वियतनाम, कम्बोडिया, थाईलैण्ड (श्याम), चीन, जापान ओर कोरिया में हुआ। जापान, चीन और तिब्बत में तो इस धर्म की अनेक उपशाखाएं निकलीं। ये उपशाखाएं भारत में नहीं हैं। बौद्ध धर्म तथा बौद्ध दर्शन का अन्य भारतीय दर्शनों पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इसके फलस्वरूप कई सन्दर्भों में बौद्ध धर्म का विशद रूप में खण्डन किया गया है। इस प्रकार भारतीय धर्म पर बौद्ध धर्म की अमिट छाप पड़ी है। ब्राह्मण धर्म में भी बहुत सी ऐसा बातें मिलती है जो बौद्ध धर्म से मेल खाती हैं, यद्यपि दोनों धर्मों की आधारभूत मान्यतायें अलग-अलग है। भारतीय मूर्तिकला, स्थापत्य, काव्य, चित्रकला तथा नाटक आदि पर बौद्ध धर्म तथा भगवान बुद्ध के चरित्र की अविस्मरणीय छाप है। भारत के प्रधान राजाओं में अशोक, कनिष्क और हर्षवर्धन ने बौद्ध धर्म स्वीकार करके इस धर्म के विस्तार और प्रचार में अमूल्य योगदान किया। इन राजाओं के प्रभावस्वरूप बौद्ध धर्म बहुत दिनों तक राजधर्म बना रहा। यदि हम यह कहें कि बौद्ध धर्म से ही कारूणिक अवधारणा, जनसेवा, ऐकान्तिक आदि प्राणिमात्र का कल्याण तथा मोक्ष संबंधी अनेक विचार और कल्पनायें वैष्णव धर्म में आई हैं तो यह अतिशयोक्ति न होगी। मुस्लिम सूफियों में बौद्ध धर्म की निर्वाण-कल्पना का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। मसीही धर्म में बोधिसत्व को कल्पना से ग्रीक, रोमन चर्च के जोसफ की अवधारणा पूर्णत: मेल खाती है। इस्लाम धर्म का प्रचार एशिया के जिन देशों में हुआ वे पूर्णत: बौद्ध धर्म के प्रमुख केन्द्र थे। अत: बौद्ध धर्म और संस्कृति का प्रभाव वहां के इस्लाम धर्मावलम्बियों पर पड़ना स्वाभाविक ही था। एक प्रकार से यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि बौद्ध धर्म एक विश्व धर्म के रूप में आज भी प्रचलित है क्योंकि आज भी इसके करोड़ों अनुयायी हैं। भविष्य में चाहे जिस धर्म का विकास हो उसमें बौद्ध धर्म का स्थान सुनिश्चित है।

5.8 बौद्ध दर्शन में निहित मूल शैक्षिक विचार

चार आर्य सत्यों में निहित शैक्षिक विचार

भगवान बुद्ध ने प्रथम आर्य सत्य के द्वारा जीवन के विविध दुःखों को मानव जाति के स्वभाव के रूप में देखा। यदि बहुत प्रारम्भ से ही व्यक्ति को इस सत्य का आभास हो जाय तो वह कोई भी ऐसा कार्य नहीं करेगा जिससे उसे किसी दुःख का सामना करना पड़े। बहुत प्रारम्भ से ही जीवन के इस सत्य से उसका साक्षात् होगा और इसके फलस्वरूप वह अपना जीवन इस प्रकार चलायेगा कि उससे किसी को दुःख नहीं होगा। वह अपने आचार-व्यवहार को इस प्रकार सुनिश्चित करेगा कि उसका शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास अच्छे ढंग से चले और समाज में वह एक आदर्श नागरिक के रूप में आलोकित हो। यदि माता-पिता, शिक्षक तथा विद्यार्थी गण इस ध्रुव सत्य से अनुप्राणित होकर ही अपना विकास करें तो ही हमारी शिक्षा प्रणाली में वांछित सुधार होगा।

अपने द्वितीय आर्य सत्य में भगवान बुद्ध का कहना है कि "अविद्या" या "अज्ञान" ही मनुष्य के दुःख का कारण है। अज्ञान के कारण व्यक्ति संसार के विविध बन्धनों में फंस जाता है, तृतीय आर्य सत्य में बुद्ध कहते हैं कि अज्ञान से उत्पन्न इच्छाओं का यदि नाश कर दिया जाए तो व्यक्ति राग, द्वेष, काम और क्रोध पर विजय प्राप्त कर सकता है। वस्तुत: इस विजय को पाना ही "निर्वाण" प्राप्त करना है। चौथे "आर्य-सत्य" में सांसारिक दुःख के निरोध के मार्ग की ओर संकेत किया गया है। इस संकेत के उन्होंने "अष्टांगिक मार्ग" अर्थात् आठ उपायों को बतलाया है। इन उपायों के सहारे व्यक्ति सभी सांसारिक दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर सकता है।

भगवान बुद्ध ने मध्यम मार्ग के अनुसरण का उपदेश दिया है। उन्होंने तपस्या के आधार पर शरीर को कष्ट देने का विरोध किया, क्योंकि इसे उन्होंने व्यर्थ समझा। निर्वाण की प्राप्ति के लिए उन्होंने एक मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया। इस मध्यम मार्ग में आठ प्रमुख उपदेशों की व्याख्या की गई है। इन आठ उपदेशों के अनुसार चलने से शिक्षा के परम उद्देश्यों की प्राप्ति हो सकती है। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि निर्वाण प्राप्त करना या जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होना ही शिक्षा का उत्कृष्टतम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भगवान बुद्ध द्वारा बताये हुए अष्टांगिक मार्ग के शैक्षिक आशय की ओर हम नीचे संकेत कर रहे हैं।

अष्टांगिक मार्ग में निहित शैक्षिक विचार

अष्टांगिक मार्ग का प्रथम सोपान "सम्यक् दृष्टि" है। सम्यक् दृष्टि का तात्विक अर्थ समुचित सूझ-बूझ के होने पर व्यक्ति सांसारिक प्रपंच में नहीं फंसेगा। सूझ-बूझ (अर्थात सम्यक् दृष्टि) की प्राप्ति के बाद सांसारिक भोगों से अलग रहने का दृढ़ या सम्यक् संकल्प का होना आवश्यक है। इस संकल्प के आधार पर व्यक्ति अपनी मोक्ष-प्राप्ति की ओर अग्रसर होगा। अग्रसर हो जाने पर सम्यक् वाणी अर्थात् अपने वचन पर समुचित नियंत्रण रखना आवश्यक है। इस नियंत्रण के आधार पर ही हम दूसरों के हृदय को जीत सकते हैं। इस नियंत्रण के बाद अपने मानसिक और शारीरिक कर्मों पर भी नियंत्रण रखना होगा। इसे सम्यक् कर्मान्त की संज्ञा

दी गई है। इस नियंत्रण का तात्पर्य मन, कर्म और वचन से सभी प्रकार की हिंसाओं से अपने को दूर रखना जैसे दूसरों के धन का अपहरण तथा इन्द्रिय भाग आदि को त्यागना होगा। सम्यक् कर्मान्त के बाद व्यक्ति को "सम्यक् अजीव" अर्थात् न्यायोचित ढंग से अपनी जीविका कमाने में दृढ़ विश्वास होना आवश्यक है। "सम्यक् अजीव" के बाद "सम्यक् व्यायाम" का क्रम आता है। इसका प्रमुख तात्पर्य मन में शुभ विचारों को स्थान देना तथा बुरे विचारों को कोई स्थान न देना है। "सम्यक् स्मृति" भगवान बुद्ध द्वारा बताया हुआ सातवाँ मार्ग है। इस मार्ग का निहित आशय यह है कि प्राप्त ज्ञान के विविध तत्वों को सदैव याद रखना चाहिए। उपर्युक्त सात मार्गों के सच्चे अनुसरण से व्यक्ति का अन्तःकरण शुद्ध हो जायेगा और ध्यान की एकाग्रता उसके लिए सम्भव हो जायेगी। ध्यान की एकाग्रता के सहारे ही मुमुक्षु परम शान्ति या निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। कहना न होगा कि उपर्युक्त अष्टांगिक मार्ग महान शैक्षिक विचारों से ओत-प्रोत हैं।

प्रतीत्यसमुत्पाद में निहित शैक्षिक विचार

बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धांतों में "प्रतीत्यसमुत्पाद" का प्रमुख स्थान है। "प्रतीत्यसमुत्पाद" का तात्पर्य दुख-समुदाय से है। प्रतीत्यसमुत्पाद कारण और प्रभाव की ओर संकेत करता है। भगवान बुद्ध द्वारा प्रतिपादित यह मध्यम मार्ग है। इस मध्यम मार्ग द्वारा दो अन्तों में समन्वय प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया है। दो "अन्त" के अन्तर्गत एक ओर "नास्तिकवाद" है और दूसरी ओर "आस्तिकवाद" है। इन दोनों वादों का भगवान बुद्ध परिहार उपस्थित करते हैं। भगवान बुद्ध का कहना है कि प्रत्येक की उत्पत्ति किसी कारणवश होती है। वर्तमान जीवन भूतकाल के जीवन का फल है और वर्तमान जीवन भावी (भविष्य के) जीवन के स्वरूप की ओर संकेत करता है। भगवान बुद्ध का विश्वास है कि भूत, वर्तमान और भविष्य की धारा सदैव अविरल गति से चलती रहती है। व्यक्ति की इच्छा और तृष्णा ही उसके जन्म का कारण होती है। जन्म का इस प्रकार "कारण" बताना भगवान बुद्ध की एक प्रमुख देन, है। इस प्रकार बुद्ध ने मनुष्य को स्वयं अपना भाग्य-विधाता, स्वामी और नाथ ठहराया है। उपर्युक्त विवरण से यह शैक्षिक आशय निकलता है कि व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का विधाता बन सकता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को उच्च कोटि का बना सकता है यदि इस भावना को शिक्षकगण अपने विद्यार्थियों में दृढ़ता से बैठा सकें तो निश्चय ही समाज का कल्याण होगा और समाज उन्नति के शिखर पर पहुँच जायेगा।

भगवान बुद्ध के कर्मवाद सिद्धांत में निहित शैक्षिक विचार भगवान बुद्ध के अनुसार "पाप" या "पुण्य" व्यक्ति के कर्म का फल होता है। अपने कर्म के कारण ही कोई रोगी बना रहता है और कोई स्वस्थ जीवन का सुख भोगता है। भगवान बुद्ध ने मानव जाति को यह संदेश दिया है कि दुःख व्यक्ति के कर्मों के फलस्वरूप ही प्राप्त होता है अत: अपने दुःख के निवारणार्थ वह सर्वथा सक्षम है। इस प्रकारण बौद्ध धर्म में कर्मवाद का दृढ़ता से प्रतिपादन किया गया है। कर्म स्वत: अपना फलकर्ता को देता है। बौद्ध धर्म के इस कर्मवाद में गूढ़ शैक्षिक आदर्श निहित है।

'बोधिसत्व' प्रत्यय में निहित शैक्षिक विचार बोधिसत्वता को प्राप्त करना ही बौद्ध धर्म का चरम लक्ष्य है। यह स्थिति किसी भी मनुष्य के लिए सर्वोच्च आदर्श है। ऐसा व्यक्ति आध्यात्मिक विभूतियों का धनी होता है। एक बोधिसत्व समस्त प्राणियों के कल्याणार्थ अपने जीवन को उत्सर्ग कर देता है। शिक्षा का भी परम लक्ष्य विद्यार्थी को 'बोधिसत्व' की प्राप्ति की ओर नियोजित करना है यदि ऐसा सम्भव हो सका तो संसार में कोई दुःखी न रहेगा।

माध्यमिक शून्यवाद में निहित शैक्षिक विचार

भगवान बुद्ध का यह मूल उपदेश है कि हमें तर्क जगत अथवा बौद्धिक प्रपंचों से छुटकारा पाकर केवल शून्य की शरण में जाना चाहिए। सांसारिक प्रपंचों अथवा विविध सांसारिक तर्क-वितर्क से एक दम अलग होने को शून्यता की प्राप्ति कहा गया है।

बौद्धिक आचार्यों ने "शून्य" का अर्थ 'अनिर्वचनीयता' से लिया है। अर्थात् शून्य वह है जिसका वर्णन न किया जा सके। शून्य का आधारभूत तात्पर्य सभी सांसारिक प्रपंचों से निवृत्ति पाना है, अर्थात् दूसरे शब्दों में इसका वास्तविक अर्थ निर्वाण प्राप्त करना है तो निर्वाण प्राप्त करना ही शून्यवाद का वास्तविक अर्थ है। वस्तुत: एक प्रकार से "शून्यवाद" के अन्तर्गत बौद्ध धर्म के सारे उपदेश सन्निहित है। यदि हम शिक्षा का अर्थ 'सा विद्या या विमुक्तये' लेते हैं, तो शिक्षा भी वास्तविक उद्देश्य सांसारिक प्रपंचों से ऊपर उठते हुए 'निर्वाण' या 'मुक्ति' हो जाता है।

5.9 सारांश

बौद्ध धर्म के संस्थापक महात्मा बुद्ध माने जाते हैं। बौद्ध दर्शन के प्रमुख अर्थ सत्य : दुख, दुख समुदाय, दुखों का निवारण, दुख निरोध मार्ग है। महात्मा बुद्ध कठोर तपस्या का विरोध करते हैं। उन्होंने मध्यम मार्ग के अनुसरण का उपदेश दिया। निर्वाण या मोक्ष प्राप्ति हेतु उन्होंने 'अष्ट मार्ग' अनुसरण की शिक्षा दी है। जिनका स्वयं शैक्षिक मूल है। यह हैं, सम्यक् दृष्टि, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि। बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धान्तों में प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणिकवाद, अर्थ क्रियाकारित्वाद, अज्ञात्मवाद, कर्मवाद और बोधिसत्व हैं। बौद्ध धर्म के सम्प्रदाय हीनयान और महायान है। बौद्ध धर्म का प्रभाव सम्पूर्ण विश्व पर बड़ा है। परन्तु इसके मुख्य अनुयायी एशिया व आसपास के देश हैं। बौद्ध धर्म के अनुसार शिक्षा का अर्थ "सा विद्या या विमुकाये" अर्थात् शिक्षा द्वारा निर्वाण की प्राप्ति है।

5.10 मूल्यांकन प्रश्न

1 बौद्ध दर्शन के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य क्या होने चाहिये?

2 बौद्ध धर्म के मुख्य सिद्धांतों की व्याख्या कीजिये तथा इसके शैक्षिक निहितार्थ बताइये?

3 भगवान बुद्ध के जीवन के विषय में आप क्या जानते है? वर्णन कीजिये।

4 अष्टांगिक मार्ग के शैक्षिक अभिप्रेतों की विवेचना कीजिये?

5.11 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1 पाण्डेय, रामशक्ल: भारतीय शिक्षा दर्शन, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

2 ओड़, एल.के. : शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
3 रूहेला, सत्यपाल: "शिक्षा का समाजशास्त्र मूल्य संप्रत्यय और सिद्धांत", उ.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।
4 सिंह, एन.पी.: "शिक्षा के दार्शनिक आधार" आर. लाल बुक डिपो मेरठ 2002।
5 चौबे, सरयू प्रसाद: "शिक्षा के दार्शनिक, ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय आधार"' इन्टरनेशनल पब्लिशिंग हाऊस, मेरठ 2002।

इकाई- 6

चार्वाक दर्शन एवं इसके शैक्षिक निहितार्थ

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 चार्वाक का अर्थ

6.2 प्रमाण विचार

6.3 तत्व विचार

6.4 शैक्षिक निहितार्थ

- 6.4.1 शैक्षिक लक्ष्य
- 6.4.2 पाठ्यक्रम
- 6.4.3 पाठन विधियाँ
- 6.4.4 शिक्षक
- 6.4.5 शिक्षक विद्यार्थी संबंध
- 6.4.6 अनुशासन

6.5 सारांश

6.6 मूल्यांकन प्रश्न

6.7 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप समझ सकेंगे कि -

- चार्वाक का अर्थ उसके प्रमाण एवं तत्व विचार क्या है।
- चार्वाक दर्शन के अनुसार शैक्षिक लक्ष्य, पाठ्यक्रम, पाठ्य विधियाँ क्या है।
- चार्वाक दर्शन के अनुसार शिक्षक, अनुशासन व शिक्षक - विद्यार्थी का संबंध कैसा है।

6.1 चार्वाक का अर्थ

भारतीय दर्शन की मुख्य प्रवृत्ति आध्यात्मिक है। भारतीय विचारधारा में अध्यात्मवाद के अतिरिक्त जड़वाद का भी चित्र देखने को मिलता है। चार्वाक एक जड़वादी दर्शन है। चार्वाक अत्यन्त ही प्राचीन दर्शन है। भगवान बुद्ध से पूर्व भी इस मत (दर्शन) के अस्तित्व का पता चलता है। ऋग्वेद में भी इसके अंकुर पाये जाते है। वस्तुत: चार्वाक वे भौतिकवादी है जिनके अनुसार जड़ अथवा भौतिक पदार्थ ही एक मात्र तत्व है। मन तथा चैतन्य की उत्पत्ति भी इससे ही होती है इस विचारधारा के चिंतक जड़ या भौतिकता को ही सभी के मूल में देखते है।

विद्वानो के बीच चार्वाक के शाब्दिक अर्थ को लेकर मतभेद है। विद्वानों का एक दल है जिसका मत है कि 'चार्वाक' शब्द की उत्पत्ति 'चर्व' धातु से हुई है। 'चर्व' का अर्थ 'चबाना' अथवा 'खाना' होता है। इस दर्शन का मूल मंत्र है "खाओ, पीओ और मौज करो।" खाने-पीने पर अत्यधिक जोर देने के फलस्वरूप इस दर्शन को चार्वाक नाम से पुकारा जाता है।

दूसरे दल के विद्वानों का कहना है कि 'चार्वाक' शब्द दो शब्दों के संयोग से बना है, वे दो शब्द है 'चारू' और 'वाक्'। 'चारू' का अर्थ 'मीठा' तथा वाक् का अर्थ वचन होता है। चार्वाक का अर्थ हुआ मीठे वचन बोलने वाला। सुन्दर तथा मधुर वचन बोलने के फलस्वरूप इस विचारधारा को चार्वाक की संज्ञा दी गई। चार्वाक के विचार साधारण जनता को प्रिय एवं मधुर प्रतीत होते है, क्योंकि वे सुख और आनन्द की चर्चा किया करते है।

विद्वानों का एक तीसरा दल है जिसका कथन है कि 'चार्वाक' एक व्यक्ति विशेष का नाम था, जो जड़वाद के समर्थक थे। उन्होंने जड़वादी विचारधारा को जनता के बीच रखा। समय के विकास के साथ-साथ इनके अनुयायी हो गये, जिन्होंने जड़वादी विचारों को बल दिया।

चार्वाक दर्शन को 'लोकायत मत' भी कहा जाता है। यह दर्शन सामान्य जनता के विचारों का प्रतिनिधित्व करता है। मनुष्य सामान्यत: जड़वादी होता है। साधारण जनता में फैला हुआ रहने के कारण ही यह दर्शन लोकायत (लोक-आयात) कहलाता है। डॉ. राधाकृष्णन् का मत है कि चार्वाक को लोकायत इसलिये कहा जाता है कि वह इस लोक में ही विश्वास करता है।

चार्वाक नास्तिक, अनीश्वरवादी प्रत्यक्षवादी तथा सुखवादी दर्शन है। चार्वाक वेद का खण्डन करता है। चार्वाक का महत्वपूर्ण अंग प्रमाण विज्ञान है।

6.2 प्रमाण विचार

चार्वाक का सम्पूर्ण दर्शन उसके प्रमाण विज्ञान पर आधारित है। प्रमाण विज्ञान चार्वाक दर्शन की दिशा निश्चित करता है। चार्वाक प्रत्यक्ष को ही ज्ञान का एक मात्र साधन मानता है। 'सही ज्ञान' को 'प्रभा' कहते हैं। ज्ञान के विषय को प्रमेय तथा ज्ञान के साधन को प्रमाण कहा जाता है। चार्वाक के अनुसार प्रभा, अर्थात् यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति प्रत्यक्ष से सम्भव है। चार्वाक प्रत्यक्ष को ही एक मात्र प्रमाण मानता है। इस दर्शन की मुख्य उक्ति है 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्'। चार्वाक का यह विचार भारत में अन्य दार्शनिक विचारों से भिन्न है।

प्रत्यक्ष का अर्थ होता है 'जो आँखों के सामने हों' प्रत्यक्ष को वह ज्ञान कहा गया जो इन्द्रियों से प्राप्त हो। प्रत्यक्ष के लिये तीन बातों का रहना आवश्यक है (1) इन्द्रिय (2) पदार्थ (3) सन्निकर्ष।

इनका मानना है कि इन्द्रियां ही वे माध्यम है, जिनके आधार पर विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। वे अनुमान को प्रमाणिक ज्ञानार्जन का आधार नहीं मानते है। क्योंकि अनुमान निश्चयात्मक नहीं है। संशय रहित ज्ञान के लिए अनुमान का सहारा नहीं लिया जा सकता है। पहाड़ पर धुएँ को देखकर पहाड़ पर आग का अनुमान लगाते है। आकाश में बादल को देखकर वर्षा का अनुमान किया जाता है। आकाश में बादल का रहना तथा पहाड़ पर धुएँ का रहना हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान है जिनके आधार पर 'वर्षा' तथा 'अग्नि' के अप्रत्यक्ष ज्ञान का बोध होता है। चार्वाक मानते है कि जब तक सभी को प्रत्यक्ष न देखें, तब तक सामान्य ज्ञान नहीं हो सकता। अनुमान में सत्य और असत्य दोनों की संभावना रहती है। ऐसी दशा में अनुमान को यथार्थ ज्ञान का साधन नहीं कहा जा सकता है।

शब्द भी चार्वाक दर्शन के अनुसार प्रमाण नहीं है। अप्रत्यक्ष वस्तुओं के संबंध में शब्द विश्वसनीय नहीं है। विश्वास योग्य व्यक्तियों से अवश्य ज्ञान शब्द रूप में मिलता है। यह सुनना प्रत्यक्ष है अत: इन्हीं को प्रमाणिक माना जा सकता है तथा कथित शब्द प्रमाण से प्राय: हम लोगों को मिथ्या ज्ञान प्राप्त होता है। चार्वाक वेद विरोधी दर्शन होने के फलस्वरूप वैदिक शब्द के विरूद्ध आक्षेप करता है। वेद में अनेक वाक्य है जिनका कोई अर्थ नहीं निकलता है। वेदों की रचना ब्राह्मणों ने अपने जीवन निर्वाह के उद्देश्य से की है। चार्वाक का इस संदर्भ में कहना है कि शब्दों से प्राप्त जितना भी ज्ञान है वे सभी अनुमान सिद्ध है। प्रत्यक्ष ही ज्ञान का एक मात्र साधन है। चार्वाक का कहना है कि चूंकि अनुमान तथा शब्द प्रमाणिक नहीं है, इसलिए प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है।

6.3 तत्व विचार

चार्वाक के तत्व विज्ञान को प्रमाण विज्ञान की देन कहा जा सकता है। तत्व विज्ञान उन वस्तुओं का सत्य मानता है जो प्रमाण विज्ञान के संगत है जब प्रत्यक्ष ही ज्ञान का एक मात्र साधन है तो प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञेय विषय ही एक मात्र सत्य है। प्रत्यक्ष में सिर्फ मूर्त का ज्ञान होता है। ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, कर्म सिद्धान्त आदि कल्पना मात्र है, क्योंकि वे अप्रत्यक्ष है। इस प्रकार चार्वाक जड़वाद का प्रवर्तक हो जाता है। संसार के संदर्भ में इनका विचार है कि बजाय पृथ्वी, जल, वायु, गगन, अग्नि पाँच तत्वों के स्थान पर चार तत्वों वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से ही संसार की उत्पत्ति है। वे आकाश के अस्तित्व को इस संदर्भ में अस्वीकार करते है। इन चार पदार्थो से केवल निर्जीव पदार्थो की ही उत्पत्ति नहीं होती वरन् उद्भिद आदि सजीव द्रव्य भी उत्पन्न होते है। प्राणियों का जन्म तत्वों के संयोग से होता है। मृत्यु के बाद कोई जीवन नहीं होता है। ये तत्व मृत्यु के बाद चार मूर्ता में ही विलिन हो जाते है। आत्मा के बारे में चार्वाक कहते है कि जब आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता तब आत्मा अस्तित्व कैसे हो सकता है। प्रत्यक्ष ही किसी तथ्य की सत्यता के लिए एक मात्र प्रमाण है। प्रत्यक्ष दो प्रकार के हो सकते है बाह्य तथा मानस। मानस प्रत्यक्ष के द्वारा हम आंतरिक भावों का ज्ञान प्राप्त कर सकते है। इस प्रकार आंतरिक भागों से चैतन्य का भी प्रत्यक्ष होता है। तब यह कहा जा सकता है कि अभौतिक सत्ता भी है जिसे हम आत्मा कह सकते है। परन्तु वे कहते है कि जड़ तत्व से बने इस शरीर में चैतन्य शरीर का ही गुण है। ब्रह्मा या ईश्वर का गुण नहीं। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि जब शरीर जड़ है तब शरीर को चैतन्य गुण कैसे हो सकता है? चार्वाक यह कहते है कि जड़ तत्वों से भी किसी वस्तु का निर्माण हो सकता है। उदाहरणार्थ - पान, चूना, सुपारी में लाल रंग का अभाव होता है, परन्तु जब वे एक साथ होते है। तब लाल रंग का जन्म होता है। जब भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में जड़ तत्व मिलते है तब नये-नये गुणों का अभिर्भाव होता है। चेतना भी इसी प्रकार पैदा होती है।

ईश्वर संबंधी धारणा भी काल्पनिक है क्योंकि ईश्वर का भी प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता। समग्र संसार का निर्माण जल तत्वों, जल, अग्नि, पृथ्वी तथा वायु से हुआ है, इसलिए किसी सृष्टि की कल्पना आधारहीन है। इस सन्दर्भ में जो आक्षेप लगाया जाता है, वह है कि उत्पादन कारण के लिए निमित्त कारण भी आवश्यक है। यथा घड़े के निर्माण के लिए जिस प्रकार

कुम्हार की आवश्यकता है, ठीक उसी प्रकार सृष्टि के निर्माण के लिए निमित्त कारक ईश्वर होना चाहिए। इनके उत्तर में चार्वाक कहते है कि जड़ तत्वों का अपना-अपना स्वभाव है। अपने स्वभाव के अनुरूप की सम्मिश्रित होते है। इस सम्मिश्रण से ही संसार की उत्पत्ति होती है। इसलिए ईश्वर की बात करना आवश्यक है। यह जड़ तत्वों का संयोग माना जाना चाहिए ईश्वर के कारण नहीं।

जीवन का परम लक्ष्य सुख की प्राप्ति है। अत: मनुष्य का कर्तव्य अधिक से अधिक सुख प्राप्ति के लिए अग्रसर होना तथा दुःखों को कम करना है। सत्कर्म नहीं है जिनके द्वारा दुःखों को कम कर सुख प्राप्त किये जा सकें, इस मत को सुखवाद भी कहा जा सकता है। यद्यपि चार्वाक के उपर्युक्त विचार भारतीय जनमानस को स्वीकार नहीं हुए परन्तु फिर भी चार्वाक के दार्शनिक योगदान को कम नहीं देखा जाना चाहिए। उदाहरणार्थ - "संशयवाद" और "असेयवाद" स्वतंत्र विचार के परिचायक है। इस दर्शन से यह भी अपेक्षा है कि संशयवादियों के द्वारा व्यक्त विचारों का समाधान प्रस्तुत किया जायें, साथ प्रचलित अंधविश्वास को समाप्त किया जाए। चार्वाक के 'प्रमाण विज्ञान' की देन महत्वपूर्ण है। उनके द्वारा प्रयुक्त युक्तियाँ आधुनिक तर्कशास्त्र में पाई जाती है।

6.4 शैक्षिक निहितार्थ

6.4.1 शैक्षिक लक्ष्य

चार्वाक दर्शन के अनुसार जीवन का लक्ष्य सुख की प्राप्ति है, अत: शिक्षा का लक्ष्य भी सुखकारी होना चाहिए। स्वभाविक है भौतिक सुख प्राप्ति के साधन के रूप में शिक्षा की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। क्योंकि दृश्य व अनुभव जगत ही सत्य है। अत: शिक्षा में दृश्य जगत के ज्ञान व अनुभव को विशेष महत्व दिया जाना आवश्यक है

भौतिक सुखों का आधार मुख्य रूप से इन्द्रियां है अत: इन्द्रियों का प्रशिक्षण इस प्रकार हो, जिससे मनुष्य का स्वस्थ जीवन, स्वस्थ मनोरंजन व बौद्धिक विकास संभव हो सके। अनेक भौतिक सुख तभी सुख प्रतीत होते हैं जब समाज उन्हें सराहना की दृष्टि से देखता है। इससे व्यक्ति को आत्म तुष्टि होती है, अत: व्यक्ति का समुचित समाजीकरण हो इसके लिए सामाजिक नागरिकता के विकास की भी आवश्यकता है। जिससे वह सामाजिक दायित्वों का निर्वाह कर सकें और समाज के एक उपयोगी सदस्य के रूप में अपनी उत्तरदायी भूमिका का निर्वाह कर सकें।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किए जा सकते है-

भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए -

वैयक्तिक उद्देश्य

1. शारीरिक स्वस्थता।
2. मानसिक विकास।

3. धनार्जन के लिए विविध कौशलों का विकास जिससे कृषि, व्यापार, उद्योग व प्रशासनिक कार्यों के लिए योग्यता का विकास हो सकें।
4. अनुरंजनात्मक व सौन्दर्य परक गुणों का विकास।

सामाजिक उद्देश्य

1. सामाजिक विकास-सामाजिक दायित्वों के निर्वाह के योग्य बनाने के लिए।
2. राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण-राष्ट्रीय एकता, अखण्डता, विकास के लिए।

6.4.2 पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रम शिक्षा के लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन है। अत: पाठ्यक्रम में शैक्षिक लक्ष्य प्रतिबिंबित-होने चाहिए। उपरोक्त शैक्षिक लक्ष्यों के वितरण के अनुसार पाठ्यक्रम निम्नानुसार होगा-

शारीरिक स्वास्थ्य- शारीरिक स्वस्थता चार्वाक दर्शन की प्रमुख आधार शिला है। स्वस्थ शरीर के द्वारा ही न केवल भौतिक जगत को जाना जा सकता है वरन् उपभोग भी किया जा सकता है। इस पाठ्यक्रम में-शारीरिक संरचना का ज्ञान, स्वास्थ्य संबंधी नियम, उचित आहार, व्यायाम, रोगों एवं उनके उपचार संबंधी ज्ञान का समावेश किया जा सकता है।

मानसिक विकास- शरीर पर भी मानसिक क्रियाओं का ही नियंत्रण होता है। यह मानसिक विकास ही संसार को जानने का आधार है-अत: शिक्षा क्रम में छात्र के मानसिक विकास को प्राय: सभी दर्शनों ने महत्वपूर्ण स्थान दिया है। इसके लिए मानव जीवन को प्रभावित करने वाले सभी क्षेत्रों के ज्ञान का समावेश आवश्यक है। अत: भौतिक विज्ञान, जीव विज्ञान, गणित, खगोल शास्त्र, भेषज शास्त्र, समाज शास्त्र, राजनीति शास्त्र आदि विविध विषयों का समावेश पाठ्यक्रम में होना आवश्यक प्रतीत होता है।

धनार्जन के लिए उपयुक्त कौशलों का विकास- भौतिक संसार में सुख का एक प्रमुख माध्यम धन है। धनार्जन के लिए व्यक्ति को समुचित कौशल आने चाहिए। इन्हीं कौशलों के माध्यम से वह आवश्यक भोजन, वस्त्र, आवास (मानव की प्रारम्भिक आवश्यकताएँ) आराम दायक व विलास के लिए साधन जुटा सकता है। आज भी संसार के अधिकांश देश, संपन्न और विपन्न इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। अत: विद्यालयी पाठ्यक्रम में जीविकोपार्जन संबंधी कम से कम एक या दो कौशलों में निष्ठता प्रदान करने का प्रावधान रखते हैं ताकि भावी जीवन में वह इन्हीं कौशलों के आधार पर जीविका अर्जन कर सकें। बड़े-बड़े विद्यालयों में सैकड़ों कौशलों का प्रावधान है जहाँ रूचि व क्षमता के अनुरूप उचित कौशल के चयन का आधार है।

उस समय भी जब चार्वाक दर्शन का विस्तार हुआ, तब भी कृषि, व्यापार, सेवा प्रशासन प्रमुख क्षेत्र रहे हैं। आज भी ये व्यवसाय उतने ही महत्वपूर्ण हैं।

अनुरंजनात्मक एवं सौन्दर्य परक गुणों का विकास

जीवन केवल पेट भरने के लिए नहीं है, वरन् आनन्द प्राप्ति के लिए है। इसी आनन्द की प्राप्ति के लिए स्वस्थ मनोरंजन व अनुरंजन आवश्यक है। तब तक यह सम्भव नहीं है जब तक समुचित अनुरंजनात्मक प्रवृत्तियों से परिचय, सहभागिता के लिए तैयारी न हो। अत:

पाठ्यक्रम में विविध अनुरंजनात्मक प्रवृत्तियों, हॉबीज संगीत, ललित कलाओं का प्रावधान किया जाना आवश्यक है ताकि व्यक्ति अपने भावी जीवन में इन प्रवृत्तियों के माध्यम से एक आनन्द पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकें।

सामाजिक उद्देश्य- मनुष्य का अस्तित्व बिना समाज के अपूर्ण है। एक सामाजिक व्यक्तित्व के निर्माण के लिए जहाँ सामाजिक अध्ययन, समाज शास्त्र, नागरिक शास्त्र, इतिहास जैसे विषयों का पाठ्यक्रम में स्थान होगा वहीं सामाजिक प्रवृत्तियों में सहभागिता का भी प्रावधान करना होगा। जीवन में सहकार, सहभागिता, भ्रातृत्वता जैसे गुणों का विकास आवश्यकता है, परन्तु इसके लिए विद्यालयी जीवन में छात्रों को संस्कारित करना आवश्यक है।

राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण- वैयक्तिक व सामाजिक जीवन की स्थायित्वता के लिए राज्य या राष्ट्र की स्थिरता, आवश्यक है क्योंकि बिना स्थायित्व के जीवन सुखमय नहीं हो सकता। यह तब तक संभव नहीं है जब तक प्रत्येक नागरिक को इसका और उसके दायित्वों का समुचित अहसास हो। अस्थिर या संकटग्रस्त राज्य में उसके दायित्वों का समुचित अहसास हो। अस्थिर या संकटग्रस्त राज्य में उसके नागरिकों के आनन्दमय जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अत: राष्ट्रीय एकता व अखण्डता के लिए पाठ्यक्रम के लिए पाठ्यक्रम में राष्ट्र प्रेम राष्ट्र के प्रति समर्पण जैसे गुणों का विकास करना होगा। इसके लिए पाठ्यक्रम में उचित पाठ्य सामग्री व पाठ्य सहगामी प्रवृत्तियों का समावेश किया जाना आवश्यक होगा।

6.4.3 पाठन विधियाँ

चार्वाक के अनुसार दृश्य जगत ही अंतिम सत्य है अत: प्रकृति का गहन ज्ञान पाठन विधियों के निर्धारण का आधार है। इस ज्ञानार्जन के लिए जिज्ञासु विद्यार्थी को ज्ञान के संबंधित क्षेत्र से सभी तथ्यों का निरीक्षण, विश्लेषण, संश्लेषण व निष्कर्षों का निकालना होगा। इसके लिए वर्तमान वैज्ञानिक विधि को एक प्रमुख विधि के रूप में स्वीकार करना होगा।

वैज्ञानिक विधि में आगमन तथा निगमन दोनों विधाओं का विशेष स्थान है, अत: पाठन विधियों में इन विधियों का विशेष प्रयोग होगा।

प्रायोजना, क्षेत्रीय शिक्षण विधियाँ भी चार्वाक दर्शन के अनुरूप है। छात्रों को प्रयोजना के आधार पर नदियों, पहाड़, पठार, मिट्टी, फसलों, जलवायु के प्रभाव का अवचयन कराया जा सकता है।

निरीक्षण, विश्लेषण, चर्चा, निष्कर्ष किसी भी विधि के आधारभूत अंग होंगे। इस प्रकार इस दर्शन में सत्य तक पहुँचने के लिए दल चर्चा, समूह चर्चा, संगोष्ठी, सेमिनार जैसी विधियों का भी उपयुक्त स्थान है।

प्रकृति के विविध अवयवों के परीक्षण, प्रयोग व तत्संबंधी निष्कर्षों के लिए लेबोरेट्री विधि का भी प्रयोग आवश्यक प्रतीत होता है।

6.4.4 शिक्षक

चार्वाक दर्शन-वस्तुत: एक वैज्ञानिक दर्शन है। अत: शिक्षक वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाला होना आवश्यक है।

वह उन विधियों में दक्ष हो, जिसके आधार पर तथ्यों को निरखा-परखा जाकर सही निष्कर्ष निकाले जाते है। वह वस्तुत: उसकी प्रमुख भूमिका ज्ञानार्जन के लिए छात्रों को उचित संस्थितियाँ प्रदान करने का होगा, ताकि वह स्वयं तथ्यों के निरीक्षण व विश्लेषण के आधार पर स्वयं निष्कर्ष निकाल सकें। यह उपागम वर्तमान अधिगम समाज निर्माण की दृष्टि से भी उपयुक्त है।

अधिगम पर्यावरण निर्माता की दृष्टि से शिक्षक का महत्वपूर्ण स्थान है, वैयक्तिक, दलीय व सामूहिक अधिगम के लिए उचित पृष्ठभूमि, पाठ्य सामग्री का चयन बिना एक योग्य व समर्पित शिक्षक के सम्भव नहीं है।

शिक्षक का जहाँ विविध विषयों में निष्णात होना आवश्यक है, वहां शैक्षिक पर्यावरण सृजन, नवीन संस्थितियो के सृजन की योग्यता रखने वाला होना भी आवश्यक है। अत: इस प्रकार के शिक्षक के लिए उचित प्रशिक्षण की भी आवश्यकता है।

6.4.5 शिक्षक विद्यार्थी संबंध

चार्वाक दर्शन में शिक्षक का स्थान एक सहयोगी और मित्र का है। वह छात्रों के साथ मिलकर वस्तुत: ज्ञानार्जन की संस्थितियो के निर्माण में एक सहयोगकर्ता व मार्गदर्शन की भूमिका का निर्वाह करता है। वह छात्र उत्प्रेरक, मनोबल निर्माता है। इस स्थिति में ही छात्र-शिक्षक के मध्य परस्पर समझ, सन्निकटता व सहयोग के दर्शन जा सकते हैं। वैयक्तिक भिन्नता की परख की योग्यता मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि, संवेदनशीलता जैसे गुणों का धनी होना चाहिए। छात्र वैयक्तिक, प्रारम्भिक असफलताओं को ढाढस व प्रेम के साथ सफलताओं और उपलब्धियों में बदलने की उसकी योग्यता होनी चाहिए।

6.4.6 अनुशासन

वैयक्तिक स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति प्रयोग, परीक्षण, इस दर्शन की प्रमुख विशेषता है। दमनात्मक अनुशासन का यह दर्शन विरोधी है। सहज, स्वचिंतन, आत्मानुशासन इस दर्शन के अनुरूप अनुशासन के लक्षण है। यह कहा जा सकता है कि ज्ञान तब तक नहीं आ सकता, जब तक व्यक्ति उसके प्रति समर्पित नहीं होगा। इसके लिए स्वचिंतन निरन्तर लक्ष्य के प्रति प्रवृत्त रहना, विचार-विमर्श करना, आत्मानुशासन के ही भाग है।

6.5 सारांश

चार्वाक एक जड़वादी दर्शन है। वह भौतिकवादी है जिनके अनुसार जड़ अथवा भौतिक पदार्थ ही एक मात्र तत्व हैं। चार्वाक का सम्पूर्ण दर्शन उसके प्रमाण विज्ञान पर आधारित है। चार्वाक प्रत्यक्ष को ही ज्ञान का एक मात्र साधन मानता है। चार्वाक के तत्व विज्ञान के प्रमाण विज्ञान की देन कहा जा सकता है। इनके अनुसार ईश्वर सम्बन्धी धारणा काल्पनिक है क्योंकि ईश्वर का भी प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। चार्वाक दर्शन के अनुसार जीवन का लक्ष्य सुख की प्राप्ति है, अत: शिक्षा का लक्ष्य भी सुखकारी होना चाहिए। भौतिक सुख प्राप्ति के साधन के रूप में शिक्षा की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वैयक्तिक उद्देश्य में शारीरिक स्वस्थता, मानसिक विकास, धनार्जन के विविध कौशल, सौन्दर्य परक गुणों का विकास आता है व सामाजिक उद्देश्य

में सामाजिक दायित्वों का निर्वाह व राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण आता है। इनके अनुसार पाठ्यक्रम में शैक्षिक लक्ष्य, प्रतिबिंबित होने चाहिए। प्रकृति का गहन ज्ञान पाठन विधियों के निर्धारण का आधार है। चार्वाक दर्शन वस्तुत: एक वैज्ञानिक दर्शन है। अत: शिक्षक वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाला होना चाहिए। इसमें शिक्षक का स्थान सहयोगी और मित्र का है। वैयक्तिक स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति प्रयोग, परीक्षण इस दर्शन की प्रमुख विशेषता हैं।

6.6 मूल्यांकन प्रश्न

1. चार्वाक शब्द के अर्थ को समझाइये?
2. चार्वाक किस चार तत्वों को मानता है?
3. चार्वाक दर्शन के अनुसार शिक्षा का लक्ष्य क्या होना चाहिए?
4. चार्वाक शिक्षा दर्शन में पाठ्यक्रम एवं शिक्षण विधि का क्या स्वरूप है?

6.7 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

- पाण्डेय, रामशक्ल : भारतीय शिक्षा दर्शन, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
- चतुर्वेदी सीताराम : "शिक्षा दर्शन" हिन्दी समिति, उ.प्र. लखनऊ।
- ओड़, एल.के. : शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
- पाण्डेय, सत्यप्रकाश : "शिक्षा समाज तथा दर्शन" आर.बी.एस.ए. पब्लिशर्स, जयपुर।
- सिंह, एन.पी. : "शिक्षा के दार्शनिक आधार" आर. लाल बुक डिपो मेरठ।

इकाई - 7

इस्लाम का शिक्षा दर्शन

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 दर्शन का अर्थ

7.2 इस्लाम धर्म

7.3 इस्लाम दर्शन

7.4 इस्लाम शिक्षा के उद्देश्य

7.5 इस्लाम धर्म के मूलभूत आधार

7.6 इस्लाम धर्म के स्त्रोत

7.7 इस्लाम शिक्षा की प्रमुख विशेषताएँ

7.8 इस्लाम शिक्षा का संगठनात्मक स्वरूप

7.9 इस्लामी शिक्षा केन्द्र

7.10 इस्लाम शिक्षा की सीमाएं

7.11 शैक्षिक निहितार्थ

7.12 इस्लाम शिक्षा का आधुनिक शिक्षा पर प्रभाव

7.13 सारांश

7.14 मूल्यांकन प्रश्न

7.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7.0 उद्देश्य

इस इकाई की समाप्ति पर शिक्षार्थी -

- इस्लाम दर्शन के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- शिक्षार्थी इस्लाम के अर्थ को जान सकेंगे।
- शिक्षार्थी इस्लाम धर्म को समझा सकेंगे।
- शिक्षार्थी इस्लाम धर्म के मूलभूत आधार की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- शिक्षार्थी इस्लाम शिक्षा की प्रमुख विशेषताओं को जान सकेंगे
- शिक्षार्थी इस्लाम शिक्षा के संगठनात्मक स्वरूप की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- शिक्षार्थी इस्लामी शिक्षा केन्द्र की जानकारी से अवगत हो सकेंगे।
- शिक्षार्थी इस्लाम शिक्षा की सीमाएं समझ सकेंगे।
- शिक्षार्थी इस्लाम शिक्षा के शैक्षिक निहितार्थ के महत्व को जान सकेंगे।
- शिक्षार्थी इस्लाम शिक्षा का आधुनिक शिक्षा पर प्रभाव को जान सकेंगे।

7.1 दर्शन का अर्थ

वह ज्ञान है जो परम सत्य और प्रकृति के सिद्धान्तों और उनके कारणों की विवेचना करता है। व्यक्ति जिस परिप्रेक्ष्य में रहता है, उसकी यथार्थता जानने का वह प्रयत्न करता है। जानने के बाद उसे संतुष्टि का अनुभव होता है और यही दर्शन है। दर्शन शब्द में मानसिक प्रक्रिया के तीनों पक्ष - ज्ञान, कर्म एवं भाव निहित हैं। सत्य का साक्षात् दर्शन करना 'दर्शन' है।

विशिष्ट तथा अधिक प्रत्यक्ष रूप में दर्शन का अर्थ अमूर्त चिन्तन करने के प्रयास से है। जिसके द्वारा आत्मा, ईश्वर, प्रकृति तथा सम्पूर्ण जीवन का रहस्य उद्घाटन किया जाता है। यह बातें अत्यन्त गूढ़ हैं इसलिए इनके विषय में चिन्तन तथा मनन करना एवं सत्य के वास्तविक स्वरूप को समझना साधारण अथवा सामान्य बुद्धि वाले व्यक्तियों की सामर्थ्य से परे की बात है। यह कार्य महान व्यक्तियों का है।

हक्सले के अनुसार :-

"मनुष्य अपने जीवन दर्शन तथा संसार के विषय में अपनी-अपनी धारणाओं के अनुसार जीवन व्यतीत करते है। बिना दर्शन के जीवन को व्यतीत करना असंभव है।"

7.2 इस्लाम धर्म

इस्लाम अरबी भाषा का शब्द है। अगर इसे "स ल म" से गृहित माने तो इसका अर्थ अमन है और अगर इसे 'सलम' से जुड़ा माने तो इसका अर्थ रब्बे जुल जलाल के सामने पूरे तौर पर आत्म समर्पित होना है। संक्षिप्त रूप में इस्लाम का मतलब वह अमन है जो अपने आप को अल्लाह के हवाले कर देने में हासिल होता है।

छठी शताब्दी के अंतिम चरण में एक नवीन क्रान्तिकारी आध्यात्मिक विचारधारा का उदय हुआ, जिसे इस्लाम धर्म से जाना जाता है। इस्लाम की वास्तविकता एकेश्वरवाद से है।

उनका आशय यह है कि हर चीज खुदा की है। अल्लाह को इस्लाम धर्म में विश्व के रचयिता पालक एवं पुनरूद्धार कर्ता के रूप में माना जाता है। इस्लाम में अल्लाह ही सर्वोच्च है। एक मात्र ईश्वर है।

इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मोहम्मद साहब थे। ईसाई धर्म के पश्चात यह विश्व का सबसे बड़ा प्रचलित धर्म हैं इस्लाम धर्म अरब और उसके आसपास के देशों में आरंभ एवं विकसित हुआ। इस्लाम धर्म के मानने वाले मुस्लिम कहलाये। इस्लाम धर्म के 'शिया' तथा 'सुन्नी' नामक दो प्रमुख सम्प्रदाय हैं।

7.3 इस्लाम दर्शन

मुस्लिम परम्पराएं मुस्लिम धर्म से सम्बन्धित होती हैं। मुस्लिम धर्म में पवित्र कुरान शरीफ ग्रन्थ का विशेष महत्व है। कुरान शरीफ सभी का जन्मदाता अल्लाह को मानता है। अल्लाह के प्रति प्रेम रखना आवश्यक माना जाता है क्योंकि सभी उस अल्लाह के बंदे माने जाते हैं। कुरान शरीफ में अल्लाह के अलावा अन्य किसी के प्रति बन्दगी करने का सख्त विरोध

माना जाता है। मुस्लिम धर्म के सूत्रधार, मोहम्मद साहब को माना जाता है। मोहम्मद साहब के अनुसार मूर्तिपूजा, बहुईश्वरवाद तथा नास्तिकों का विरोध करना चाहिए।

कुरान शरीफ के 11वें अध्याय के अनुसार अल्लाह जड़ और आत्मा से ऊँचा हैं। जो व्यक्ति नमाज पढ़ता है, जीवन में एक बार हज जाता है, दान देता है और दूसरों के साथ किये गये वादों को निभाता है, वही सच्चा मुसलमान कहलाने का हकदार है।

मुस्लिम धर्म के अनुसार अल्लाह के अतिरिक्त अन्य कोई पूज्यनीय नहीं है। मुसलमान मोहम्मद साहब को अल्लाह का रसूल या राजदूत मानते हैं। मुस्लिम धर्म के अनुसार अल्लाह की बन्दगी करने के लिए किसी पुजारी की आवश्यकता नहीं होती है।

मुस्लिम धर्म की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :-

1. सभी को समान समझना चाहिए।
2. अल्लाह एक है।
3. अल्लाह अजन्मा है।
4. इस्लाम कोई व्यक्तिगत धर्म नहीं, इसका क्षेत्र सम्पूर्ण समाज है।
5. कयामत के पश्चात् नये जीवन का प्रारंभ होता है।
6. मृत्यु के पश्चात जब शव को कब्र में रखा जाता है, तभी दूसरा जीवन आरंभ होता है जिसे "बरजारब" कहा जाता है।
7. मनुष्य केवल एक बार जन्म लेता है अर्थात् दूसरा जन्म नहीं होता है।
8. कब्र में शरीर नहीं रहता है, केवल हड्डी का ढाँचा बचता है, जिसे अलअज्ब भी कहा जाता है।

इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों का सार है :-

"ला इलाह इल्लिलह मुहम्मद दुर्रसूल्लिलाह"

कुरान शरीफ के अनुसार प्रत्येक मुसलमान को पांच कार्यो का पालन अवश्य करना चाहिए :-

1. प्रत्येक माह दान देना चाहिए।
2. प्रतिदिन पांच बार नमाज में कलमा पढ़ना चाहिए।
3. व्यक्ति को जीवन में एक बार बिना कर्ज लिए हज करनी चाहिए।
4. रमजान माह में रोजा रखना चाहिए।
5. ईश्वर की एकता और मुहम्मद को पैगम्बर मानने की घोषणा में विश्वास।

7.4 इस्लाम शिक्षा के उद्देश्य

इस्लाम धर्म व दर्शन की परम्पराओं में शिक्षा द्वारा मनुष्यों के भौतिक व आध्यात्मिक दोनों पक्षों के विकास पर बल दिया गया है। इस्लाम दर्शन में शिक्षा के महत्वपूर्ण उद्देश्य इस प्रकार हैं :-

(i) ज्ञान प्राप्ति का उद्देश्य :-

ज्ञान प्राप्ति इसलाम शिक्षा का पहला उद्देश्य है। शुरुआत में यह धार्मिक ज्ञान पर जोर देता रहा। किंतु बाद में सभी प्रकार के ज्ञान प्राप्ति पर बल दिया। कुरान के अनुसार प्रत्येक

मनुष्य चाहे वह पुरूष हो या स्त्री, बच्चा हो या बूढ़ा उसे ज्ञान प्राप्त अवश्य करना चाहिये व जरूरत के अनुसार ज्ञान प्राप्ति के लिये देश विदेश भी जाना चाहिये।

(ii) **आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास का उद्देश्य** :-

इस्लाम की शिक्षा का लक्ष्य धार्मिक, नैतिक व आध्यात्मिक विकास है और कुरान के अनुसार सही ज्ञान से ही यह संभव है। इस्लाम दर्शन की शिक्षा के अनुसार यदि मनुष्य का आचरण शुद्ध व नैतिक हो तो उस पर अल्लाह का फजल होता है और यह सच्चे व ईमान वालों की संगत से ही संभव है।

(iii) सामाजिक विकास का उद्देश्य:-

इस्लाम धर्म ने एक अलग समाज बना दिया और इस्लामी शिक्षा भी उसी विशिष्ट समाज के लिये संगठित हुई, इसका आरम्भ परिवार से हुआ, इस्लाम धर्म की शिक्षा नीतियों में कहा गया है 'एक व्यक्ति के बालक को शिक्षा देना, दान में सोना देने से बेहतर है'। परिवार की शिक्षा स्वत: सामाजिक विकास को बढ़ावा देती है।

(iv) **सांस्कृतिक विकास का उद्देश्य** :-

इस्लामी शिक्षा एक उद्देश्य इस्लामी संस्कृति का विकास भी है कुरान की अयातों में लिखे नियमों का अनुपालन संस्कृति का निर्माण करते हैं, इसमें हराम-हलाल, भक्ष्य-अभक्ष्य, नियम-संयम, तौर-तरीके, कायदे-कानून, निस्त कानून व शासन के ढंग शामिल हैं। इस तरह सुव्यवस्थित जीवन की सभी गतिविधियां कुरान शिक्षा में दी गयी हैं व इनके पालन पर भी जोर दिया गया है। स्वर्ग-नरक, कयामत के दिन फैसला, कला कौशल यह सब इस्लामी संस्कृति है और इस्लामी शिक्षा इसके विकास पर बल देती है।

(v) व्यावसायिक, आर्थिक व भौतिक विकास का उद्देश्य :-

इस्लामी शिक्षा भौतिक सुख व विकास का भी संकेत देती है, परंतु साथ ही इसमें यह हिदायत भी दी गयी है कि इन सुखों का उपभोग सब मनुष्य मिल जुल कर करेंगे। लेकिन इसकी पहली जरूरत है इन भौतिक वस्तुओं का उत्पादन और इसके मनुष्यों को शिक्षा के द्वारा ही कला-कौशल, व्यवसाय, उत्पादन क्षमता वृद्धि आदि का ज्ञान मिल सकता है साथ ही शिक्षा ही उन्हें तत्संबंधी व्यवसायों में निपुण बनाती है जिससे उत्पादित वस्तुओं के वितरण की व्यवस्था हो सके। अत: इस्लामी शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य मनुष्यों में व्यावसायिक व आर्थिक तरक्की तथा भौतिक सुखों का बुद्धिपूर्वक प्रयोग करने की क्षमता का विकास करना भी है।

(vi) इस्लाम धर्म की शिक्षा :-

इस्लामी धर्म ठोस एकेश्वरवादी धर्म है तथा साफ हिदायत देता है कि इस्लाम मानने वाले को अल्लाह के अतिरिक्त किसी अन्य देवी देवताओं को नहीं मानना है। हजरत मुहम्मद साहब को खुदा का अंतिम पैगम्बर मानना है व कुरान शरीफ को अंतिम धार्मिक पुस्तक मानने व कुरान से प्राप्त ज्ञान के अनुसार आचरण करने की शिक्षा भी इस्लामी शिक्षा का उद्देश्य है। इसे इस्लामी धर्म-दर्शन व परम्पराओं में शिक्षा का सर्वप्रमुख उद्देश्य माना गया है।

(vii) **उन्नत व संतुलित समुदाय का निर्माण**:-

इस्लामी शिक्षा आर्थिक न्याय के सिद्धान्तों के आधार पर आदर्श समुदाय के गठन का ज्ञान तो देती है लेकिन साथ ही साथ एक संतुलित समाज के गठन को साकार करने का संदेश भी देती है। समाज के कमजोर वर्गों, दीनों, अनाथों, दासों व महिलाओं के संरक्षण को भी इस्लामी शिक्षा में बल दिया गया है। इस्लाम समाज में व्याप्त कुरीतियों व बुराइयों को समाप्त करके एक तरक्की शील तथा संतुलित समुदाय के निर्माण को भी इस्लामी शिक्षा का प्रमुख प्रयोजन कहा जा सकता है।

(viii) मुस्लिम समाज का विस्तार :-

मुस्लिम शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य धर्म प्रचार रहा है, ऐसा करना प्रत्येक मुसलमान का धार्मिक कर्तव्य माना गया है, पश्चिमी देशों, अफ्रीकी देशों और भारत सहित पूर्वी देशों में शिक्षा के द्वारा धर्मप्रचार किया गया।

स्वमूल्यांकन प्रश्न - 1

1. इस्लाम धर्म से क्या अभिप्राय है?
2. इस्लाम दर्शन का अर्थ क्या है
3. इस्लाम शिक्षा के उद्देश्य क्या हैं

7.4 इस्लाम धर्म के मूलभूत आधार

1. मुहम्मद साहब की विरासत:

मुहम्मद साहब ने अपने अनुयायियों के मन में भाइचारे की भावना तथा पंथ आधारित बंधन के बीज बोयें। उनमें करीबी रिश्ते की भावना विकसित की जिससे मक्का में इस्लाम-पंथ एक उदीयमान समाज के रूप में उभरा। प्रारंभ में इस पंथ में आध्यात्मिक एवं सांसारिक पहलुओं को स्वयं एकीकृत करने तथा मनुष्य एवं खुदा के ही नहीं बल्कि एक सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत मानव सम्बन्धों को भी नियंत्रित करने की बात प्रमुख रूप से हुई है।

2. जिहाद:

जिहाद धार्मिक युद्ध या धार्मिक संघर्ष के लिये प्रयुक्त हुआ शब्द है जिसका अर्थ है वह धार्मिक युद्ध जिसके जरिये विश्व में नैतिक मूल्यों की स्थापना की जा सकती है।

मोहम्मद साहब की मृत्यु (632 ई.) के एक शताब्दी के भीतर ही इस पंथ वालों ने जिहाद द्वारा स्पेन से लेकर मध्य एशिया और भारत तक को मुस्लिम साम्राज्य के अधीन कर लिया था।

7.5 इस्लाम धर्म के स्त्रोत

इस्लामी पंथ के सिद्धान्त, कानून तथा इसकी विचारधारा निम्नांकित पर निर्भर है :-

1. कुरान-इस्लाम का पवित्र ग्रन्थ।
2. सुन्ना (प्रथायें)।
3. इज्मा (विद्वानों की सर्वसम्मति)।
4. इज्तिहार (व्यक्तिगत विचार)।

इस्लाम धर्म की आस्था के केन्द्र एवं अन्य विचार :-

खुदा (अल्लाह)- इस्लाम- पंथियों के लिए खुदा सर्वोच्च है। वह निराकार, एक एवं अद्वितीय हैं।

खुदा ब्रह्माण्ड (सृष्टि) का रचयिता एवं पालक है।

- प्रत्येक जीव उसकी एकता एवं प्रभुता का साक्षी है।
- वह न्यायप्रिय एवं दयालु है।
- उसकी दया असीम तथा सर्वव्याप्त है।
- वह निराकार है।

मानव-

मानव मूलत: खुदा की सृष्टि का अंग है। खुदा उसका रचयिता है किन्तु सांसारिक मानव चंचल एवं अहंकारी है। यह अहंकार उसका मूल पाप है। अत: सच्चा विश्वास खुदा की इच्छा के सामने नतमस्तक होने में है।

शैतान-

इस्लाम शैतान की संकल्पना भी करता है। शैतान मानव का समकालीन है। शैतान का षड्यंत्र कयामत के दिन समाप्त होगा, ऐसा इस्लाम पंथ की मान्यता है।

पैगम्बर-

पैगम्बर वह इंसान है जिन्हें अल्लाह ने अपना संदेशवाहक बनाने के लिये विशेष रूप से चुना है। मुहम्मद साहब अंतिम पैगम्बर थे। सभी पैगम्बर मानव हैं। वे ईश्वरीय संदेशों के प्राप्तकर्ता हैं।

कुरान-

कुरान खुदा अल्लाह द्वारा पैगम्बर मुहम्मद को दिया हुआ सन्देश है। जिसे अल्लाह ने अपना संदेशवाहक बनाने के लिए विशेष रूप से चुना है।

समाज सेवा -

इस्लाम पंथ में समाज-सेवा का उच्चतर स्थान है। व्यक्ति को मैं "की धारणा से बाहर निकलकर अपनी श्रेष्ठतम सम्पति को दूसरों के लिए खर्च करना चाहिए"। दूसरों की तकलीफों को कम करने तथा जरूरतमंदों की सहायता का सिद्धान्त इस्लामी शिक्षाओं का अभिन्न अंग है।

इस्लाम पंथ सूदखोरी का विरोधी है। यह एक निषिद्ध कार्य है। जिहाद समाज को इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुसार चलाने के लिए आवश्यक है। सभी मनुष्य आदम के एक बच्चे के समान हैं। अत: सभी मनुष्य एक हैं। प्रत्येक व्यक्ति को रहम एवं अच्छे कार्य करने चाहिए।

7.7 इस्लाम शिक्षा की प्रमुख विशेषताएँ

मुस्लिम शिक्षा का गतिचक्र मन्द था। इसलिए प्रारंभिक प्रयासों के आधार पर इसके गुण या विशेषताओं का विवेचन नहीं किया जा सकता। दूसरा कारण यह था कि उत्तर मुगलकाल के प्रबुद्ध बादशाहों के अतिरिक्त पूर्वगामी शासकों ने शिक्षा को निहित स्वार्थों तक ही सीमित रखा। इन परिस्थितियों में सम्यक् 550 वर्षों के शैक्षिक इतिहास को सूक्ष्म विवेचन से निम्नलिखित विशेषताओं का पता लगाया जा सकता है-

1. शिक्षा को शासकीय संरक्षण

शिक्षा के प्रचार प्रसार का सम्पूर्ण कार्य राजकीय अर्थ- व्यवस्था के आधार पर चलता था। यह शासकों से मुक्त नहीं रह सकी थी। अत: मुस्लिम शासकों ने अपनी व्यक्तिगत

रूचियों, धार्मिक मान्यताओं तथा आवश्यकता के अनुरूप शिक्षा को छोटे स्तर पर संस्कारित तथा परिवर्धित किया यद्यपि प्रारंभिक प्रयास हतोत्साहित करने वाले थे, किंतु फिरोजशाह तुगलक, अकबर, जहांगीर तथा शाहजहां आदि कुछ ऐसे नाम हैं। जिन्होंने शिक्षा को शासकीय अंकुश में उसे निहित स्वार्थ के लिए न रखकर भारतीय संस्कृति के वास्तविक दर्शन को समझने हेतु रखा।

2. संकीर्ण शिक्षा व्यवस्था

मुस्लिम शिक्षा धार्मिक उन्माद एवं कट्टरवाद से ग्रस्त थी। यह शिक्षा अपना प्रभाव वैभवयुक्त नगरों, राजधानियों आदि में रहने वाले वर्ग विशेष के लोगों तक ही सीमित बनी रही।

3. क्षेत्रीय भारतीय भाषाओं का दमन

मुस्लिम शिक्षा के प्रादुर्भाव के साथ, ही नवीन संस्कृति ही नहीं बल्कि 'अरबी' एवं 'फारसी' भाषाओं का भारत में समावेश हुआ।

4. शिक्षा में सांसारिक उन्नति का समावेश

शिक्षा को मुस्लिम शासकों ने शासन व्यवस्था में विभिन्न पदों पर नियुक्ति का आधार बना लिया था। केवल इस शिक्षा में निपुण व्यक्ति ही वजीर, काजी, मौलवी तथा न्यायविद आदि पदों पर सुशोभित किये जाते थे। अत: शासकीय सेवाओं में नियुक्ति का आधार मुस्लिम शिक्षा थी।

7.8 इस्लाम शिक्षा का संगठनात्मक स्वरूप

इस्लामिक शिक्षा का संगठनात्मक ढांचा दो स्वरूपों में दृष्टिगोचर होता है। वे दो प्रकार से थी -

1. प्राथमिक शिक्षा
2. उच्च शिक्षा

प्रारंभिक शिक्षा

प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था मस्जिदों, मौलवी के घरों तथा व्यक्तिगत स्थानों पर प्रदान की जाती थी। मकतब, खानक्वाह तथा दरगाहें इस शिक्षा को प्रदान करने के औपचारिक केन्द्र माने जाते थे। प्राय: इन शिक्षा संस्थाओं में मुस्लिम छात्रों को ही प्रदेश प्रदान किया जाता था, किंतु कुछ संख्या में हिन्दू छात्रों को भी प्राथमिकता प्रदान की गयी थी।

प्रवेश आयु शिक्षा प्रारंभ करने के पूर्व 'बिस्मिल्लाह' की रस्म अदायगी की जाती थी। यह रस्म बालक के 4 वर्ष 4 माह तथा 4 दिन की अवस्था में सम्पन्न की जाती थी। इस समय छात्र को मौलवी साहब के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था।

(ब) पाठ्यक्रम

प्राथमिक स्तर के पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषयों को समाविष्ट किया गया था -

1. अरबी एवं फारसी वर्णमाला।
2. अरबी एवं फारसी का सुलेख तथा कलात्मक लेखन कलाएं।

3. सामान्य गणित।
4. कुरान की आयतों का पाठ एवं कण्ठस्थ करना।
5. पत्र लेखन, अर्जीनवीसी आदि का ज्ञान।
6. शेख सादी द्वारा रचित पुस्तकें।
7. अनेक अरबी फारसी साहित्य से नैतिक कथाओं का संकलन एवं उनका पठन-पाठन।

(स) शिक्षण विधि

प्राथमिक स्तर पर शिक्षण विधि मौखिक थी। शिक्षक-छात्र सामूहिक रूप से भाषा, साहित्य एवं अन्य तथ्यों का उच्चारण करते थे तथा ड्रिल विधि के आधार पर सीखने का प्रयास करते थे।

(द) समय-चक्र

प्राथमिक शिक्षा का समय चक्र दैनिक रूप से सुबह से शाम तक चलता था केवल मध्य में ही कुछ समय विश्राम हेतु प्रदान किया जाता था। शिक्षा निःशुल्क थी।

2 उच्च शिक्षा

उच्च शिक्षा केन्द्रों को मदरसा कहा जाता था, ये मदरसे भी राजकीय नियन्त्रण में व्यक्तिगत स्तर पर स्थापित किये गये थे जो कि पूरे भारतवर्ष में विभिन्न स्थानों पर फैले हुऐ थे। कुछ ख्याति लब्ध मदरसों में अन्य मुस्लिम देशों के छात्र भी शिक्षा ग्रहण करने भारत आते थे।

शिक्षा पाठ्यक्रम - उच्च शिक्षा पाठ्यक्रम को दो वर्गो में विभाजित किया गया था क्योंकि यह दीर्घकालिक पाठ्यक्रम था।

(अ) लौकिक पाठ्यक्रम

इस पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषयों को सम्मिलित किया जाता था-

- अरबी साहित्य एवं व्याकरण, ग्रंथ एवं पद्य
- इतिहास भूगोल
- दर्शनशास्त्र
- नीतिशास्त्र
- तर्कशास्त्र
- यूनानी चिकित्सा पद्धति
- ज्योतिष, कानून एवं अर्थशास्त्र
- कृषि एवं पशु पालन

(ब) धार्मिक पाठ्यक्रम

यह शिक्षा लौकिक शिक्षा की पूरक मानी जाती थी। इसमे निम्नलिखित विषयों का समावेश किया जाता था।

- कुरान।
- इस्लामिक कानून एवं नियम।
- कुरान की आयतों का स्मरण एवं आलोचनात्मक व्याख्या।

- इस्लाम के इतिहास में पीर, पैगम्बरों का योगदान।
- इस्लाम धर्म का उद्भव, उत्पत्ति एवं मान्यताएं।

शिक्षण विधि

व्याख्यान विधि द्वारा अध्यापन का कार्य किया जाता था। इसके अतिरिक्त स्वाध्याय एवं मनन, चिन्तन को प्राथमिकता प्रदान की गयी थी। छात्रों में उच्च ज्ञानात्मक विकास हेतु तर्क-वितर्क, वाद-विवाद तथा अन्य विधाओं का सहारा लिया जाता था।

शिक्षा माध्यम फारसी को प्रमुख रूप से शिक्षा का माध्यम बनाया गया था।

शिक्षा उपाधियाँ - छात्रों को अनौपचारिक तथा मौखिक मूल्यांकन द्वारा अनेक उपाधियों से विभूषित करने का प्रचलन था। ये उपाधियां थी - 'काबिल' (साहित्य में निपुण छात्रों हेतु), 'आलिम' (धार्मिक शिक्षा में निष्णात छात्र), तथा 'फाजिल' (तर्क एवं दर्शन शास्त्र में प्रबुद्ध छात्र)। ये उपाधियाँ उचित अवसरों पर समारोह का आयोजन करके प्रदान करने का प्रचलन था।

शिक्षक-शिष्य सम्बन्धों की स्थिति

शिक्षक के प्रति छात्र विनीत था। शिक्षक समस्त शक्तियों का उपभोग करके छात्र को ज्ञान से प्रकाशित करते थे। मदरसों में छात्रों की उत्तम व्यवस्था थी। पारस्परिक सम्बन्धों में स्नेह एवं आत्मीयता थी। शिक्षक अपने फनो में निपुण, विद्वान चारित्रिक स्थिति बहुत प्रभावी भी। यद्यपि उनका वेतन कम था किन्तु सम्मान अत्यधिक था।

छात्र अनुशासन एवं दण्ड विधान

अपराध करने वाले विद्यार्थियों को कठोर दण्ड दिया जाता था। कठोर मानसिक एवं शारीरिक दण्ड का प्रावधान था।

बोध प्रश्न - 2

1. इस्लाम धर्म के मूलभूत आधार लिखिए?
2. इस्लाम शिक्षा की प्रमुख विशेषताएं कौन सी है?
3. इस्लाम शिक्षा के संगठनात्मक स्वरूप की विस्तृत विवेचना कीजिए?
4. इस्लाम धर्म के मूलभूत आधार लिखिए?
5. इस्लाम शिक्षा की प्रमुख विशेषताएं कौन सी है?
6. इस्लाम शिक्षा के संगठनात्मक स्वरूप की विस्तृत विवेचना कीजिए?

7.9 इस्लामी शिक्षा केन्द्र

इस्लामी शिक्षा केन्द्र को दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है।

1. प्राथमिक शिक्षा से सम्बन्धित
2. उच्च शिक्षा से सम्बन्धित

1. **मकतब -**

यह प्रारंभिक शिक्षा के केन्द्र होते थे। मकतब की उत्पत्ति अरबी भाषा के शब्द 'कुतुब' से हुई है जिसका तात्पर्य है उसने लिखा। यदि उर्दू भाषा में देखे तो इसके समकक्ष शब्द 'कुतुब' किताब के बहुवचन के रूप में प्रयोग में लाया जाता है।

वास्तव में शाब्दिक अर्थ के आधार पर मकतब का अर्थ ऐसे स्थान में सन्दर्भ में स्वीकार कर लिया जाता है, जहां पठन पाठन का कार्य किया जाता है। इस प्रकार मकतब वे संस्थाओं थी, जो कि प्राथमिक स्तर पर छात्रों को शिक्षा प्रदान करती थी। ये मकतब व्यक्तिगत स्तर पर या नजदीक किसी मस्जिद के अन्दर चलाये जाते थे। किन्तु मकतब एक सार्वजनिक संस्था का स्वरूप नहीं ग्रहण कर पाये थे। इस कारण इनकी संख्या बहुत कम थी।

डॉ. युसुफ हुसैन के अनुसार- मकतब एक शिक्षक वाली व्यक्तिगत संस्थाएं थी। जहां पर प्रातः काल से सायंकाल तक शिक्षण कार्यक्रम अनवरत गति से चलता रहता था। ये संस्थाएं निःशुल्क थी। केवल धनवान लोग ही इन संस्थाओं को उदार रूप से दान देते थे। इन मकतबों द्वारा प्रदान की गयी शिक्षा तात्कालिक शासन व्यवस्था से भी मुक्त थी।

2. खानवाहें

खानवाहें भी प्राथमिक शिक्षा प्रदान करने वाले अभिकरण थे। ये भी व्यक्तिगत प्रयासों से संचालित किये जाते थे। केवल मुस्लिम छात्र ही इन स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने के हकदार थे। इनकी वित्त व्यवस्था उदार दान से की जाती थी।

3. कुरान स्कूल

इस विद्यालय का लक्ष्य था कुरान के आदेशों का प्रचार-प्रसार करना। इन स्कूलों में छात्रों को अरबी का कठिन अभ्यास कराने के उपरान्त उन्हें कुरान की आयतों को कण्ठस्थ करा दिया जाता था ताकि वे स्वतंत्र रूप से धर्मोपदेश के रूप में कार्य कर सके।

अरबी फारसी के स्कूल

मुस्लिम शिक्षा में अरबी फारसी को उत्कृष्ट स्थान प्रदान किया गया था। इन भाषाओं की वृद्धि एवं विकास हेतु व्यक्तिगत एवं शासकीय स्तर पर अनेकों प्रयास किये जाते रहे थे। फारसी मूलरूप से राज-काज की भाषा होने के कारण शासन के लिए भी सुयोग्य भाषाविदो का तैयार करती थी। जिनकी निरन्तर आवश्यकता रहती थी।

इन विद्यालयों में दोनो भाषाओं के श्रेष्ठ साहित्य की शिक्षा प्रदान करने के साथ-साथ सुन्दर लेखन शैलियों पर अत्यधिक परिश्रम किया जाता था क्योंकि जितने भी क्रियाकलाप किये जाते थे वे सभी हस्तलिखित ही होते थे।

'मदरसा' शब्द अरबी भाषा के मुल शब्द 'दरस' से प्राप्त हुआ है, इसका अर्थ होता है 'भाषण'। इस प्रकार इसकी व्युत्पति से जो अर्थ निकलता है, वह है एक ऐसा स्थान जहां भाषणों का प्रयोग किया जाता है अथवा भाषणों द्वारा शिक्षा प्रदान करने वाला स्थान ही मदरसा कहा जाता है। एक तथ्य और भी इससे उजागर होता है कि मदरसा, शिक्षा के उच्चतम केन्द्र थे क्योंकि किशोर एवं युवकों को ही भाषण विधि द्वारा शिक्षा प्रदान की जा सकती है।

मदरसा सामान्य रूप से किसी मस्जिद से सम्बद्ध रहते थे। इनके लिए बादशाह एवं सम्पन्न लोग आवश्यक दान देते थे। मदरसे में प्रदान की जाने वाली शिक्षा दीर्घकालिक होती थी तथा शिक्षा के पाठ्यक्रम भी व्यापक होते थे। इन सभी विषयों के योग्य शिक्षकों को मदरसे में शिक्षण हेतु नियुक्त किया जाता था।

साधारणतया मदरसे आवासीय प्रकृति के होते थे। छात्रों के लिए छात्रवृत्ति तथा अन्य प्रकार की सहायता का भी प्रावधान था। यह छात्र-शिक्षकों के मध्य निरन्तर अनत:: क्रियाओं हेतु सुअवसर प्रदान करते थे।

7.10 इस्लाम शिक्षा की सीमाएं

1. सांसारिक शिक्षा को प्राथमिकता

प्राचीन भारतीय परम्पराओं के विरूद्ध मुस्लिम संस्कृति ने सर्वप्रथम सांसारिक शिक्षा को समस्त शिक्षा का केन्द्र बिन्दु बनाया। फलस्वरूप शिक्षा के आध्यात्मिक स्वरूप को तीव्र आघात पहुँचा तथा तात्कालिक समाज सरलतम सुखों की ओर अग्रसरित हो चला था।

2. शिक्षा अभिकरणो का कमजोर संगठनात्मक स्वरूप

इस्लामकाल में शिक्षा प्रदान करने वाले अभिकरण शासकीय नियंत्रण से युक्त, व्यक्तिगत तथा दान आदि के माध्यम से चलाये जाते थे। अत: इसका संगठनात्मक ढाँचा बहुत ही निर्बल तथा अस्पष्ट था। यही कारण है कि कुछ ही गिने चुने मकतब, मदरसों को सुयश मिल पाया क्योंकि वे दीर्घकाल तक शिक्षा की सेवा में संलग्न रहे।

3. क्षेत्रीय भारतीय भाषाओं का पतन

क्षेत्रीय भाषाओं के प्रति अस्वस्थ दृष्टिकोण का प्रभाव यह हुआ कि जनसामान्य औपचारिक शिक्षा से वंचित होने लगे क्योंकि अरबी व फारसी सीखने में काफी वक्त लगा था। इससे समाज में क्षेत्रीय भाषाओं का पतन हुआ।

4. शिक्षा उच्च कुलीन वर्ग का प्रतीक

शिक्षा सम्पन्न वर्ग तक ही सीमित रह गयी थी। कुलीन एवं शाही वर्ग के लोग ही शिक्षा की व्यवस्था व्यक्तिगत स्तर पर कर पाने में सक्षम थे।

5. स्त्री शिक्षा का ह्रास

केवल शाही खानदानों की स्त्रियाँ ही शिक्षा ग्रहण कर पाती थी।

इसके अतिरिक्त भी अनेक दोष इस शिक्षा प्रणाली में विद्यमान थे जैसे लचीलेपन का अभाव, शिक्षा की धार्मिक संकीर्णता आदि।

डॉ युसुफ के शब्दों में- "मुस्लिम शिक्षा सभ्यता के गुण से रहित थी, जिससे यह सृजनात्मकता एवं निर्माणकारी गुणों के अभाव से पीड़ित हो गयी। यह छात्रों में कुशल निर्णयों को विकसित करने में असमर्थ थी। यही कारण था कि यह मध्ययुगीन शिक्षा अपने क्षेत्र में नेतृत्व अभाव से ग्रस्त थी।

स्वमूल्यांकन प्रश्न -3

1. इस्लामी शिक्षा के केन्द्र की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. इस्लाम शिक्षा की सीमाएं लिखिए?

7.11 शैक्षिक निहितार्थ

1. कला

हमारे देश में कई प्रकार की कलाओं का विकास हिन्दू एवं मुसलमानों के सहयोग से हुआ है। भारतीय मन्दिरों की बनावट पर भी इन सम्प्रदायों का प्रभाव पड़ा है। उत्तर भारत के मन्दिरों की बनावट दक्षिण भारत के मन्दिरों से अलग है। इसका मुख्य कारण यह है कि दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तर भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों के अधिक सम्पर्क थे। उत्तर भारत में मन्दिर तथा मस्जिदों के भवन निर्माण कला में भी काफी समानता पायी जाती है।

2. संगीत

मुस्लिम या इस्लाम धर्म में संगीत के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण है। यह लोग संगीत को वर्जित मानते है। मुसलमानों के सूफी लोग संगीत प्रेमी होते थे। वे संगीत को धार्मिक साधना का एक अंग मानते थे। मुसलमानों ने ही सरोद, खाब, दिलरूबा आदि भारतीय संगीत के वाद्यों के नाम रखे है। लोगों का मानना है कि अमीर खुसरो ने वीणा से ही सितार का आविष्कार किया है। मृदंग से ही तबले का निर्माण हुआ है। गायकी के क्षेत्र में भी उस्ताद के रूप में इन का उल्लेखनीय योगदान है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के निर्माण में हिन्दू एवं मुसलमान दोनो संस्कृतियों का योगदान है।

3. ज्योतिष

हमारे देश में ज्योतिष के विकास में भी मुस्लिम समाज का योगदान रहा है। हिन्दुओं ने अक्षांश एवं देशान्तर गिनने की प्रणाली मुसलमानों से ही सीखी है। जन्मपत्री बनाने की ताजक-पद्धति हिन्दुओं ने मुसलमानों से सीखी प्रतीत होती है।

4. भाषा तथा साहित्य

भारत के मुस्लिम समाज ने भारतीय भाषाओं को अपनाया और उनका विकास किया। इसका उदाहरण है पं. रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में अमीर खुसरो को खड़ी बोली में हिन्दी कविता का जनक माना है। अमीर खुसरो का लिखा साहित्य खड़ी बोली का सबसे प्राचीन साहित्य है। मुस्लिम कवियों मे रसखान, कबीर, रहीम हिन्दी साहित्य के महान कवियों मे अपना स्थान रखते है। हिन्दू मुसलमानों के परस्पर सम्मेलन से हिन्दी के साथ अरबी, फारसी का मिश्रण हुआ, जिससे उर्दू भाषा का जन्म हुआ।

7.12 इस्लाम शिक्षा का आधुनिक शिक्षा पर प्रभाव

मुस्लिम शिक्षा में अनेक ऐसे तत्व विद्यमान है, जो आधुनिक शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में सर्वधा उपयुक्त प्रतीत होते है। इसे प्रभावी ढंग से क्रियान्वित करके शिक्षा मे सर्वांगीणता की लक्ष्य पूर्ति भी सम्भव है। आधुनिक शिक्षा पर जो प्रभाव दर्शनीय है, वह निम्नलिखित है -

- निःशुल्क एवं राजकीय नियन्त्रण में शिक्षा का संयोजन।
- सामान्य विषयों का पाठ्यक्रम में समावेश एवं शैक्षिक व्यावहारिकता पर बल।
- साहित्य का विकास।
- छात्रवृत्ति, शिष्यवृत्ति, आवासीय विद्यालयों की स्थापना।

स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. इस्लाम शिक्षा के शैक्षिक निहितार्थ लिखिए।
2. इस्लाम शिक्षा का आधुनिक शिक्षा पर प्रभाव को लिखिए।

7.13 सारांश

दर्शन उस निरन्तर प्रयास को कहते है जिसके द्वारा हम अपनी और संसार की प्रकृति के संबंध में क्रमबद्ध ज्ञान द्वारा एक सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मोहम्मद साहब थे। इस्लाम धर्म को मानने वाले मुस्लिम कहलाए। कुरान इस्लाम का पवित्र ग्रन्थ है। इस्लाम दर्शन एकेश्वरवाद दर्शन है। जिहाद धार्मिक युद्ध या धार्मिक संघर्ष के लिए प्रयुक्त हुआ शब्द है जिसका अर्थ है वह धार्मिक युद्ध जिसके जरिये विश्व में नैतिक मूल्यों की स्थापना की जा सकती है। इस्लाम पंथी के लिए खुदा सर्वोच्च है। वह एक ही है और अद्वितीय है। यह मूर्ति पुजा का घोर विरोधी है। मानव मूलत-खुदा की सृष्टि का अंग एवं खुदा उसका रचयिता है। इस्लाम के पांच आधारभूत सिद्धान्त हैं - (1) शहादत (2) नमाज (3) जकात (4) रोजा (5) हज

इस्लामी शिक्षा केन्द्र मकतब एवं मदरसा हैं। मकतब प्राथमिक शिक्षा के केन्द्र हैं। इसके प्रमुख प्रकार हैं- (1) कुरान स्कूल (2) फारसी स्कूल (3) फारसी कुरान स्कूल (4) अरबी स्कूल

मदरसा - मदरसा उच्च शिक्षा का केन्द्र है। शिक्षा हेतु भेजने से पूर्व बिस्मिल्लाह खानी रस्म को पूरा किया जाता है। यह रस्म बालक के 4 वर्ष 4 माह व 4 दिन की अवस्था में सम्पन्न की जाती थी।

7.14 मूल्यांकन प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मुस्लिम काल में छात्रों को उच्च शिक्षा हेतु प्रवेश दिया जाता था :-
   (अ)मकतबों में (ब) मदरसों में (स) दरगाहों में (द) खानक्वाटों में
2. शिक्षा प्रारंभ करने से पूर्व रस्म अदायगी की जाती थी -
   (अ)बिस्मिल्लाह (ब) धार्मिक कृत्य(स) अल्लाह (द) उपर्युक्त सभी
3. प्रत्येक मुसलमान को दिन में नमाज अदा करनी चाहिए -
   (अ) दो बार (ब) तीन बार (स) चार बार (द) पांच बार
   जकात का मतलब है-
   (अ) झगड़ा करना (ब) पैसे लेना (स) दान देना (द) उधार लेना
   उत्तर :-1-ब, 2-अ, 3-द, 4-स

लघुत्तरात्मक प्रश्न :

1. इस्लाम शिक्षा के उद्देश्य लिखिए?
2. इस्लाम दर्शन का अर्थ स्पष्ट कीजिए?
3. इस्लामी शिक्षा केन्द्र कौन से हैं?
4. जिहाद से क्या तात्पर्य है?

निबंधात्मक प्रश्न :

1. इस्लाम शिक्षा की प्रमुख विशेषताएँ कौन सी हैं?

2. मुस्लिम कालीन शिक्षा व्यवस्था का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए?
3. आधुनिक शिक्षा पर मुस्लिम शिक्षा के कौन-कौन से प्रभाव परिलक्षित होते है?
4. इस्लाम धर्म की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए
5. इस्लाम शिक्षा के शैक्षिक निहितार्थ लिखिए।

7.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Chaube S.P. Philosophical & sociological bases of Education, Vinod pustak Chaube Akilesh Mandir.Agra.
2. Mauddi Sayyaid Abdul the Message of Islam Markazi Marktaba Islamic Publisher, Dehli-6.
3. Pandey Ram Shakal Education in Emerging Indian Society, Vinod pustak Mandir Agra Page No.11-19 Pandey R.S. Principles of Education.
4. Pandey R.S. Education in Emerging Indian society, Vinod pustak mandir,Agra
5. Shrimali K.L. Education in Changing India Bombay, Asia Publishing House.
6. Safaya Raghunath, Development of Educational Theories & Practice.
7. Shaida B.D., Sharma RamNath, Jest book of Educational philosophy Atlantic publishers & distributors. Educational Thought & Practice.
8. शर्मा, आर.के. एवं दुबे,श्रीकृष्ण : शिक्षा के दर्शन शास्त्रीय आधार, राधा प्रकाशन मन्दिर, आगरा।
9. शर्मा, डी. एल. : शिक्षा तथा भारतीय समाज, लाल बुक डिपो, मेरठ
10. सक्सेना नवरत्न स्वरुप : शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, आर लाल बुक डिपो, मेरठ (2001)।
11. श्रीवास्तव एम. ए. : हजरत मुहम्मद और भारतीय धर्मग्रन्थ मधुर संदेश संगम, जामिया नगर, नई दिल्ली।

इकाई 8

जैन दर्शन और उसके शैक्षिक निहितार्थ

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 जैन दर्शन और शिक्षा

8.3 जैन धर्म का अर्थ

8.4 जैन धर्म का जन्म

8.5 जैन दर्शन के शैक्षिक उद्देश्य

8.6 जैन धर्म पाठ्यक्रम

8.7 अध्ययन विधियाँ

8.8 शिक्षक शिक्षार्थी सम्बन्ध

8.9 जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त

8.10 जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त

8.11 जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष की कल्पना

8.12 मोक्ष के साधन

8.13 मोक्ष संबंधित जैन दर्शन में निहित शैक्षिक विचार

8.14 सारांश

8.15 मूल्यांकन प्रश्न

8.16 संदर्भ ग्रन्थ सूची

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययनोपरान्त विद्यार्थी :-

- जैन दर्शन को जानेंगे।
- जैन दर्शन और शिक्षा के मध्य अन्तर्सम्बन्ध को जानेंगे।
- जैन दर्शन की विशेषताओं को समझेंगे।
- जैन दर्शन के सिद्धान्तों की व्याख्या कर सकेंगे।
- जैन दर्शन के प्रमुख नियमों एवं आदर्शों की विवेचना कर सकेंगे।
- जैन दर्शन के आधार पर शिक्षा के उद्देश्यों को स्पष्ट समझ सकेंगे।
- जैन दर्शन का शिक्षा पर प्रभाव को समझ सकेंगे।
- आधुनिक शिक्षा व्यवस्था में जैन दर्शन की महत्ता एवं औचित्य को जान सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

जैन शब्द जिन से बना है। 'जिन' का अर्थ है - "जयाति इति जिन:", अर्थात् जो कर्मरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह जिन है तथा कालान्तर में जिन धर्म के

अनुयायी "जैन" कहलाते है। जैन दर्शन भारतीय संस्कृति का प्राचीन दर्शन है जो चारित्रिक शुद्धि पर अत्यधिक बल देता है। जैन दर्शन के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करना है ताकि वह आध्यात्मिक विकास के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कर सके।

8.2 जैन दर्शन और शिक्षा

भारतीय चिन्तनधारा में पर्याप्त स्वतन्त्रता दिखाई देती है। यद्यपि भारतीय चिन्तन का मूल उद्गम वेदों में मिलता है और षडदर्शन में समाविष्ट दार्शनिक शाखाएँ वेदों के प्रभुत्व को चुनौती नहीं देती, तथापि चिन्तन क्षेत्र में वेदों से परे तथा वेदों के अधिकार को चुनौती देने वाले दर्शनों का अभाव नहीं है। लोकायत तथा जैन दर्शन इसी प्रकार के दर्शन है, जो वेदों की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। जैन दर्शन ने न केवल क्रमबद्ध तत्व ज्ञान ही दिया, अपितु समुन्नत धार्मिक पद्धतियाँ तथा विकसित शिक्षा प्रणालियाँ भी दी। जैन चिन्तन धाराएं इस देश की सांस्कृतिक परम्पराओं में समन्वित हो गई और आज भी उक्त चिन्तन में विश्वास रखने वाले तथा उसके अनुरूप जीवन व्यतीत करने वाले लोग इस देश में लाखों की संख्या में विद्यमान है, अत: जैन दर्शन का विवेचन करना युक्ति युक्त होगा।

जैन दर्शन के अनुसार जो ज्ञान व्यक्ति को संजीवन की और प्रेरित करता है, वही विद्या है। ज्ञान चाहे सांसारिक हो अथवा धार्मिक अथवा व्यावसायिक, यदि वह व्यक्ति तथा समाज के लिए हितकर है तो उसे शिक्षा का अंग माना जाएगा, अन्यथा नहीं। वह सब ज्ञान उपयोगी है, जो मनुष्य को सच्चरित्र की ओर प्रेरित करें।

8.3 जैन धर्म का अर्थ

जैन शब्द "जिन" से बनाया गया है। जैन साहित्य में जैन का अर्थ इन्द्रियों को जीतने वाला होता है। इन्द्रियों को जीतने वाले का अर्थ सभी प्रकार के विकारों का स्वाभाविक नियन्त्रण रखने वाला है। 'जिनो' अर्थात् सभी प्रकार के विकारों को जीतने वालो द्वारा जो उपदेश दिये गये है, उन उपदेशों को जैन धर्म कहते है। जो साधारण प्राणियों की तरह जन्म लेकर काम, मोह, क्रोध आदि विकारों को जीत कर अमरत्व की अनुभूति करते है। ऐसे महापुरुषों द्वारा दिया गया उपदेश ही जैन धर्म को पृष्ठभूमि बनाते है।

8.4 जैन धर्म का जन्म

जैन धर्म के अन्तर्गत यह मान्यता रही है कि पहले यह संसार भोग-भूमि था, अर्थात् यहाँ पर पहले लोग विभिन्न प्रकार के भोग विलास मे ही लिप्त रहा करते थे। कालान्तर में जनसंख्या के बहुत बढ़ने के साथ जब विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की अनुभूति होने लगी तो 'भोग-भूमि' के आदर्श को त्याग कर मनुष्य के 'कर्म भूमि' के आदर्श को अपनाया। आदर्श में इस प्रकार के परिवर्तन से भोग भूमि 'कर्म भूमि' के रूप में देखी जाने लगी। इसी समय मनु उत्पन्न हुए इन मनुओं ने कुल के हित हेतु आचार, सामाजिक व्यवस्था, परम्परा तथा रीति-रिवाज का विकास किया। वस्तुत: इस विकास कार्य के कारण इन मनुष्यों को पहले कुल करो की संज्ञा दी गई थी। जैन साहित्य में कुल चौदह कुलकरों में नाभिराय अन्तिम कुलकर थे।

नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव हुए। ऋषभदेव ही जैन धर्म के प्रारम्भिक प्रवर्तक माने जाते है। इन्हीं से जैन धर्म का विकास हुआ। जैन ग्रन्थों में भगवान ऋषभदेव को "जिन" या तीर्थकर माना जाता है। इन चौबीस तीर्थकरों में भगवान ऋषभदेव को प्रथम तथा भगवान महावीर को अंतिम तीर्थकर के रूप में स्वीकार किया गया है। भगवान महावीर का जन्म 600 वर्ष पूर्व कुण्ड ग्राम नामक गांव में हुआ था। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ था। इनकी माता का नाम त्रिशला था। बिहार राज्य का वैशाली क्षेत्र इनकी जन्म भूमि मानी जाती है। यज्ञ हेतु निरीह पशुओं का वध इनसे सहन नहीं हुआ। 30 वर्ष की अवस्था में सांसारिक जीवन से विमुख होकर इन्होंने 12 वर्ष तक घोर तपस्या की। इसके पश्चात् इन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। इसके बाद 30 वर्षो तक इन्होंने धर्म का प्रचार किया। 72 वर्ष की आयु में इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

8.5 जैन दर्शन के शैक्षिक उद्देश्य

जैन दर्शन के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को मुक्ति की ओर प्रवृत्त करना है। सांसारिक जन्म-मरण के बन्धन का मुख्य कारण आत्मा तथा पुद्गल के बीच में भेद न करके उन्हें एक मान लेना है। इस प्रकार जीव अपने कर्मानुसार पुद्गल संगृहीत करता है और अपने आपको पुद्गल से आवृत करता रहता है। इस तरह देखा जाये तो कह सकते है कि जीव का पुद्गल के साथ संयोग ही बन्धन का मुख्य कारण है और जीव का पुद्गल से वैराग या वियोग हो जाना ही मोक्ष है। संयोग से तात्पर्य है काम, क्रोध, मान, लोभ, मोह व माया आदि कुत्सित प्रवृतियों के पुद्गल का आकर्षण होना। इन कुत्सित प्रवृतियों को 'कषाय' भी कहा जाता है ये ही बन्धन का मूल कारण होती है। ये कषाय हमारे मन में क्यों उत्पन्न होते है? इसका कारण है - हमारा अज्ञान। अत: ज्ञानरूपी तलवार से आन की बेड़ियों को काटा जा सकता है। सात्विक या सच्चे ज्ञान को दर्शन की भाषा में 'सम्यक् ज्ञान' कहा जाता है। जैन दर्शनानुसार शिक्षा का मुख्य ध्येय इस 'सम्यक् ज्ञान' की प्राप्ति करना है। सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त नहीं है। इससे तो मात्र मोक्ष के मार्ग का पता लग पाता है। अर्थात् सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेने वाले साधक को दूध का दूध और पानी का पानी साफ दिखने लगता है। वह आत्मा व अनात्मा शरीर व जीव तथा सत् और असत् के भेद को स्पष्ट पहचानने लगता है, किन्तु सम्यक् ज्ञान व्यक्तित्व का एंकीगीत विकास है। समग्र विकास तभी संभव है, जबकि 'सम्यक् दर्शन' व सम्यक् चरित्र पर भी समान रूप से ध्यान दिया जाए। सम्यक् ज्ञान सद्ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु सम्यक् दर्शन की प्राप्ति तभी संभव है जबकि अज्ञान व अकरणीय के प्रति विरक्ति पैदा हो इस विरक्ति को ही जैनदर्शन के शब्दों में 'निर्जरा' कहा गया है।

अत: हम कह सकते है कि जैन दर्शन के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व का इस प्रकार समुचित विकास करने से है जिनमें सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हो। श्रद्धा से भावात्मक पक्ष का विकास हो और चरित्र में ज्ञान व विश्वास की परिणति हो।

दूसरे शब्दों में, आत्मानुभुति एवं आत्मस्वरूप की प्राप्ति ही जैन शिक्षा का उद्देश्य है। एक गाथा ग्रन्थ में जैनदर्शन की शिक्षा के पांच उद्देश्यों का संकेत मिलता है।

'पंचहि ढाणेहि सुतं सिक्खिज्जा तंजहा णाणट्ठयाऐं दंसणट्ठाए चरिन्तट्ठयारए बुग्गह विभ्येयनट्ठयाए अहत्थे वा म्पवे जाणिस्समिन्ति कट्ठु।।'

1. सम्यक ज्ञान प्राप्त करना - ऐसा ज्ञान प्राप्त करना जो राग-द्वेष के विजेता जैन सन्तों (जिन) या अरिहितो ने दिया है और जिन्होंने आत्म विजय कर पर पूर्णता प्राप्त कर ली है।
2. सम्यक् श्रद्धा - सही विश्वास के साथ ज्ञान प्राप्त कर लेना ही 'सम्यक् श्रद्धा' है। यह शिक्षा का दूसरा उद्देश्य कहा जा सकता है।
3. सम्यक् चरित्र का विकास - शिक्षा का तृतीय उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह विद्यार्थी में सम्यक् चरित्र का विकास करे।
4. मिथ्या विश्वासों का निवारण - शिक्षा का चौथा लक्ष्य या उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह उन असत्य विश्वासों व अहित कार्यो का निवारण कर सके जिनसे कि आध्यात्मिक गुणों की हानि होती है।
5. सम्यक्-दर्शन का विकास - शिक्षा का पंचम उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह में आत्मस्वरूप को पहचानने तथा जड़ एवं चेतन तत्वों में विवेकपूर्ण भेद करने की योग्यता का विकास कर सके। शिक्षा ऐसी हो जो कि विद्यार्थियों को सद्वृतियों की ओर प्रवृत कर सके उनके भावात्मक व्यक्तित्व का विकास कर सके और उन्हे सम्यक् ज्ञान प्राप्ति की ओर संवेदनशील बना सके।

इस प्रकार शिक्षा व्यक्ति के जीवन का सर्वांगीण विकास करने वाली होनी चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य स्वहित के साथ-साथ परहित व समष्टिहित की ओर प्रवृत करना होना चाहिए।

तम्हा सुयमहिट्ठिज्जा उत्तमट्ठगवेसाए।
जेणप्पाण पर चेव, सिद्धि संपाउणेज्जासी।।

अर्थात शिक्षार्थी इस लक्ष्य से शिक्षा ग्रहण करे कि वे उत्तर और श्रेष्ठ अर्थ या परमार्थ को प्राप्त कर सके इससे वे अपने कल्याण के साथ संसार के समस्त प्राणियों का कल्याण कर सके।

8.6 जैन दर्शन पाठ्यक्रम

जैन आगम ग्रन्थ 'व्यवहारसूत्र' (संख्या 10/3/10) में पाठ्यक्रम निर्माण के सामान्य सिद्धान्तों, छात्र की परिपक्वता और क्षमता तथा उनकी आयु-सीमा क्रमागतता-उपयोगिता आदि का वर्णन मिलता है। इसी सुत्र में श्रुति के दो भेद - द्रव्यश्रुति व भावश्रुति किये गये है। इनमें द्रव्यश्रुति का अर्थ - भौतिक विषयों का ज्ञान के दो भागों में विभक्त किया है। (अ) आगम जो बतिराग परम्पराओं द्वारा कथित ज्ञान है। (ब) नो-आगम - जो वीरराग परम्पराओं द्वारा कथित ज्ञान न होकर अन्य प्रकार का ज्ञान है। आत्मकल्याणार्थ यदि अन्य व्यक्तियों द्वारा प्ररूपित ज्ञान ग्रहित किया जाए तो वह ज्ञान उसी ग्रहा और मुक्ति का कारण हो सकता है।

पाठ्यक्रम के अन्तर्गत पढ़ाये जाने वाले विषयों का वर्गीकरण जैन दर्शन में इस प्रकार मिलता है -

पुद्गल या जड़ पदार्थो का अध्ययन - इसके अन्तर्गत भौतिक विषयों या भौतिक विज्ञानों का अध्ययन आता है। भौतिक पदार्थो के मिश्रण (संघात) व मनुष्य के प्रयासों के

परिणामस्वरूप नवीन वस्तुओं का निर्माण होता है। तकनीकी यन्त्रविद्या, हस्तशिल्प व हस्तकलाओं का अध्ययन पुद्गल के प्रमुख अध्ययन क्षेत्र है। इसके अलावा स्थिति, विज्ञान, गतिविज्ञान का अध्ययन किया जाता है। जैनदर्शन में इसे 'धर्म' व 'अधर्म' कहा गया है। शून्य विज्ञान व ब्रह्माण्ड का अध्ययन तथा दो, तीन व चार इन्द्रियों वाले कीट पतंगों आदि की शरीर रचना का अध्ययन भी किया जाता है। जैन दर्शन में वायु जल, वनस्पतियों, मिट्टी व अग्नि आदि में जीवन का होना माना गया है और इनके शरीर रचना की कल्पना भी की गई है। अत: इनका अध्ययन भी आवश्यक बताया गया है। जैन दर्शन में काल द्रत्य का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन करना भी महत्व रखता है। इसके अन्तर्गत इतिहास, सामाजिक परिवर्तन व भौतिक परिवर्तन आदि का अध्ययन किया जाता है।

जैविक विषयों का अध्ययन :- जैन दर्शन के पाठ्यक्रम का एकमात्र उद्देश्य है कि विद्यार्थियों को उन बातों के बारे में ज्ञान प्रदान करना जिन्हें जाने बिना अहिंसा व्रत का पालन करना कठिन हो। जैन विद्वानो ने बताया है कि जो ज्ञान व्यक्ति के जीवन को उन्नतिशील बनाये वस्तुत वहीं वैध ज्ञान है। वैध ज्ञान चरित्र को उत्कृष्ट बनाने वाला होता है। द्रव्यों का पूर्णरूपेण अध्ययन व द्रव्यों के सम्बन्ध का ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है।

जैन दर्शन में जैविक विषयों के अध्ययन के अन्तर्गत मनुष्य की आत्मा, मनुष्य का अन्य प्राणियों के साथ सम्बन्ध, मनुष्य का प्राकृतिक वातावरण व मानवीय वातावरण में मनुष्य का स्थान, मानवीय संस्थाएँ, आत्मा को शरीर से बाँधने वाले तत्व, मनोविज्ञान, मनुष्य का धर्म, नैतिक जीवन, मनुष्य के कर्तव्य तथा मनुष्य की नियति आदि को समाविष्ट किया जाता है।

8.7 अध्ययन विधियाँ

जैन आगम स्थानांग में स्वाध्याय विधि का उल्लेख मिलता है। जैनदर्शन स्वाध्याय का एक विशेष अर्थ है। इसका अर्थ है जो आत्मा के लिए उन्नतिकारी हो और जो शिष्य को संसार के समस्त बन्धनों से मुक्ति प्रदान कर सके। स्थानांग में 'स्वाध्याय-विधि' के पांच प्रकार बताये है।

'पंचविहे सज्याये पण्णत्तेतंजहा - वायजा पुच्छज। परिपहण अणुलेहा धम्म हा।' (11 पृ. 16) अर्थात स्वाध्याय को पांच प्रकार का कहा है -

(i) वाचना (ii) पृच्छना (iii) परियहना (iv) अनुप्रेक्षा (v) धर्मकथा। देखा जाए तो ये पाँचो प्रकार स्वाध्याय विधि के पाँच सोपान रूप में है जिनकी संक्षिप्त चर्चा इस प्रकार है:-

वाचना-वाचना का अर्थ होता है कि पाठ्य साहित्य का स्वयं द्वारा या गुरू द्वारा वाचन किया जाना और उसे श्रवण कर उसकी जानकारी प्राप्त करना। ऐसा करने से पढ़ने वाले में अध्ययन या स्वाध्याय की आदतों का विकास होता है और अध्ययन सामग्री के वाचन में उसकी रूचि का विकास होता है और अध्ययन-सामग्री के वाचन में उसकी रूचि का विकास होता है। इस विधि के माध्यम से अध्ययन योग्य विषय सामग्री का अधिकाधिक अध्ययन किया जा सकता है।

पृच्छना - इसका तात्पर्य है प्रश्न करना या प्रश्न पूछना। इसमें अध्ययन करने वाला छात्र अपने अध्यापक से पठित विषय पर महत्वपूर्ण प्रश्न पूछता है, जहां पर भी वह स्पष्टीकरण करना चाहता है, वह प्रश्नों के द्वारा कर लेता है। अत: जैनदर्शन- प्रणाली का यह बहुत ही महत्वपूर्ण सोपान है।

परियहत्ता - पठित विषयवस्तु की पुनरावृत्ति करके उसे हृदयंगम करना व उसे कण्ठस्थ करना ही परियहना कहलाता है। यह किसी भी विषय का आत्मीकरण करने की सफल प्रक्रिया है।

अनुप्रेक्षा - पठित विषयवस्तु का बार-बार चिन्तन करते हुए उनका मनन करना ही अनुप्रेक्षा कहलाता है। इस सोपान के माध्यम से पठित विषय के ज्ञान को स्थायित्व प्राप्त होता है, जिस पर आगे चलकर विचार किया जाता है। इस सोपान के अन्तर्गत छात्र (शिष्य) भौतिक व अभौतिक दोनों ही प्रकार के पदार्थो का चिन्तन -मनन करते है। परिणामत: उसमें एकाग्रता का विकास होता है।

धर्मकथा - धर्मकथा का अभिप्राय है कि पठित-विषयों के बारे में अन्य व्यक्तियों के साथ बैठकर विचार-विमर्श करना इस सोपान के माध्यम से अध्येता अपने ज्ञान का लाभ दूसरों को पहुंचाता हे ओर ज्ञान का प्रचार-प्रसार की प्रक्रिया में संलग्न होता है।

8.8 शिक्षक शिक्षार्थी सम्बन्ध

जैनदर्शन व साहित्य में शिक्षक के लिए दो शब्दों आचार्य और उपाध्याय का प्रयोग हुआ है। आचार्य सदैव सदाचार का साक्षात स्वरूप होता है। आचार्य का चरित्र उज्ज्वल और निष्कलंक होना चाहिए। वस्तुत: आचार्य वह है, जिसका आचार -चरित्र उत्कृष्ट हो। जैन आगम ग्रन्थों के अनुसार आचार्य में अग्रलिखित आवश्यक गुण होने चाहिए।

1. आचार्य का जीवन पंचमहाव्रतो - सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह से परिपूर्ण होना चाहिए।
2. यह क्रोध, लोभ, मान तथा मत्या इन चार कषायों (विकारो) पर विजय पाने वाला होना चाहिए।
3. वह ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला तथा जितेन्द्रिय होना चाहिए।
4. उसका आचरण समाज सम्मत् तथा धर्मसम्मत् तथा वह सदाचार का साक्षात् स्वरूप होना चाहिए।
5. उसका व्यावहारिक जीवन तीन गुप्तियों मन वचन व कर्म की दृष्टि से नियमित व संयमित होना चाहिए।
6. उसे पांच समितियों - चलना, घूमना, बोलना, भोजन करना व आचरण करना के सभी व्यवहारों में पालन करने वाला होना चाहिए।
7. उसे शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार करने के लिए शारीरिक व मानसिक दृष्टि से स्वस्थ होना चाहिए।

उपाध्याय वह है जो अध्ययन-अध्यापन का कार्य करता हो और जो ज्ञान की किसी विशेष शाखा का मर्मज्ञ हो। वह अपने विषय का पूर्णज्ञाता व सामान्य ज्ञान में परिपक्व होना चाहिए। वह अपने शिष्य या छात्र की शंकाओं का समाधान करने वाला होना चाहिए। उसे अपने विषयों को छात्रों (शिष्यों) तक पहुंचाने में पूर्ण दक्ष होना चाहिए। उपाध्याय का आचरण सामान्य व्यक्तियों से बहुत उंचा होना चाहिए जिससे छात्र उसका अनुकरण करते हुए अपना जीवन उन्नत कर सकें।

गुरू या शिष्य के व्यक्तित्त्व में चरित्र पर विशेष बल दिया गया है जो ज्ञान के साथ अत्यन्त ही आवश्यक है। शिक्षार्थी या शिष्य में सभी प्रकार की क्षमताएं निहित होनी चाहिये। शिक्षा प्राप्त करके वह अपनी योग्यताओं या क्षमताओं का प्रकाश में लाने वाला होना चाहिए। जैन आगम उतराध्ययन सूत्र (3-11/5) में शिक्षार्थी या शिष्य के लक्षण व गुणों के बारे में उल्लेख मिलता है। वहां पर भिख्यासीले और विज्या (विद्या) आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है जो जिज्ञासा और ज्ञान प्राप्ति का बोध कराते है। उतराध्ययन सूत्र संख्या (7/11/5) में शिष्य के आवश्यक गुणों का उल्लेख किया गया है। जो इन गाथाओं में निर्दिष्ट हे। "अह अट्ठहि ठाणेहि, सिक्खासीलेन्ति बुच्चइ। अहास्सिरे सयादंते न य मम्मुदारे। नासीले न क्सिाईले न सिया इअलोलुए। अकोहणे, सच्चरए, सिक्यासीलेति बुच्चइ।'' एक शिक्षार्थी मन, वचन व कर्म से विनम्र होना चाहिए तभी वह शिक्षा ग्रहण कर सकता है। शिक्षा ग्रहण करने के लिए शिक्षार्थी में आठ गुणों का होना आवश्यक है -

(i) अधिक हंसने वाला न हो।

(ii) चपल न हो।

(iii) इन्द्रियों पर नियंत्रण करने वाला।

(iv) किसी का रहस्य न खोलने वाला।

(v) कटु कथन न कहने वाला।

(vi) सदाचार से रहित न हो व सदाचार को भंग न करने वाला हो।

(vii) लोभ और क्रोध का त्याग करने वाला और।

(viii) सत्यान्वेषण का प्रेमी हो।

शिक्षार्थी के पांच कारण ऐसे बताये गये है जो विद्याध्ययन में बाधक होते है। ये कारण हैं - अभिमान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य। ये पांचों कारण शिक्षार्थी की अपात्रता दर्शाने वाले होते है। जैनदर्शन में शिक्षार्थी के दो स्तरों का उल्लेख मिलता है। इसमें पहले स्तर पर शिक्षार्थी 'श्रामण' कहलाता है। श्रमण की शिक्षा का मुख्योद्देश्य आत्म कल्याण चाहना होता है। इसके लिए वह कठोर संयमी होता है। वह शिक्षा प्राप्ति के समय जो कुछ सीखता है, उसका प्रतिबिम्ब उसके व्यावहारिक जीवन में होना चाहिए, इसलिए उसे 'महावती' भी कहा जाता है। दूसरे -स्तर पर शिक्षार्थी श्रावक कहलाता है। श्रावक को अणुव्रती भी कहा जाता है। श्रावक की शिक्षा सांसारिक जीवन को पवित्रता के साथ यापन करने के लिए होती है। इसकी शिक्षा सुखी गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के लिए होती है।

जैन दर्शन में शिष्य से गुरू के प्रति समर्पण भाव की अपेक्षा की गई है। विद्या प्राप्त करने वाले को चाहिए कि वह विनम्र हो, तभी अपने गुरू से शिक्षा प्राप्त करने का अधिकारी बन सकता है। यही कारण है कि सुपात्र शिष्य को गुरुजन अपने यहां रखकर शिक्षा प्रदान करते थे।

गुरू-शिष्य के संबंध इतने निकट होते थे कि विद्या अध्ययन के उपरान्त शिष्य को जब विदा किया जाता था तो गुरुजन अपनी पुत्रियों को विवाह उनके साथ सम्पन्न कर हर्ष मनाते थे। अध्ययनपूर्ण कर लेने के बाद जाने के समय शिष्यों का भव्य विदाई समारोह किया जाता था और इसी प्रकार विद्या आरंभ के समय भी शिष्यों का स्वागतोत्सव मनाया जाता था शिष्य की विद्यारंभ व विद्या समाप्ति के समय अपने गुरुजनों को उपहार व भेंट दिया करते थे अत: शिक्षक शिक्षार्थी के बहुत मधुर संबंध होते थे।

जैन दर्शन भी प्राचीन दर्शन है। जैन धर्म की उत्पत्ति वैदिक धर्म में आई विकृतियों के प्रति जनसामान्य के असन्तोष के कारण हुई। महावीर स्वामी तो चौबीसवें तीर्थकर थे इससे पूर्व 23 तीर्थकर और हुए इनमें से ऋषदेव व अरिष्टनेमि तीर्थकर का उल्लेख ऋग्वेद के मंत्रों में भी हुआ है।

हीनयाना के अनुसार जैन शब्द का प्राचीन रूप 'जिन' है जिसकी व्युत्पत्ति संस्कृत धातु 'जि' से हुई। 'जि' का अर्थ है जीतना अथवा विजेता अर्थात् वह जिसने अपनी वासनाओं पर विजय प्राप्त करके स्वयं पर नियंत्रण कर लिया हो। जैन दर्शन के अनुसार जीवन भारतीय दर्शन के अनुसार ही है। जैन दर्शन में तीर्थकर को ही ईश्वर माना है महावीर स्वामी ईश्वर को निराकार मानते है, ईश्वर सर्वज्ञ व निराकार है वे वेदों का विरोध करते है इसने कठोर अनुशासन को माना है। सम्यक ज्ञान सम्यक दर्शन व सम्यक चरित्र को जैन धर्म में त्रिरत्न माना गया है। इसके साथ ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह ये पांच महाव्रत माने है।

जैन दर्शन - 'जैन दर्शन की अवधारणा सामान्यत भारतीय चिंतन के अनुरूप है। किन्तु जैन दर्शन में जीव भोक्ता तथा कर्ता दोनो माना गया है जैन दर्शन के अनुसार जो ज्ञान व्यक्ति के सज्जीवन की ओर प्रेरित करता है वही विद्या है। ज्ञान चाहे सांसारिक हो अथवा धार्मिक अथवा व्यावसायिक यदि वह व्यक्ति तथा समाज के लिए हितकर है तो शिक्षा का अंग माना जायेगा, अन्यथा नहीं। वह सम्पूर्ण ज्ञान उपयोगी है जो मनुष्य को सच्चरित्र की ओर प्रेरित करे।

8.9 जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त

जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों के निम्न प्रकार क्रमबद्ध किया जा सकता है -

1. यह जगत द्रव्यों के मिश्रण का परिणाम है जिसके स्थायी और अस्थायी दो धर्म है। द्रव्य में निहित स्थायी गुण अपरिवर्तनीय है इसलिए जगत नित्य है। द्रव्य के आकस्मिक धर्म परिवर्तनीय है, इसलिए यह जगत, अनित्य भी है। जीव और निर्जीव से मिलकर संसार बना है।

2. मनुष्य आत्मा और शरीर के संयोग से बना है जिनका अपना अलग-अलग अस्तित्व है आत्मा एक चैतन्य तत्व है। जन्म योनि बदलने पर आत्मा का आधार भी उस योनि के अनुकूल बन जाता है।
3. ईश्वर के अस्तित्व को प्रत्यक्ष रूप से यों अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता अत: जैन धर्म में तीर्थकर ही पूजनीय है। जैन मतावलम्बी इसी कारण अर्हत् सिद्ध आचार्य एवं साधु की आराधना करते है।
4. आत्मा और शरीर को एक समझना ही बन्धन का कारण है। आत्मा अर्थात जीव का शरीर अर्थात पुद्गल से मुक्त होना ही मोक्ष है।
5. वास्तविक का कोई निश्चित स्वरूप नहीं है क्योंकि सभी निर्णय सापेक्ष होते है और संसार को विभिन्न दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। अत: जैन दर्शन की प्रमुख विशेषताओं उसका स्यादवाद एवं अनेकान्तवाद का सिद्धान्त है।
6. मनुष्य कर्म ही बन्धन का कारण है, जिनके कारण इच्छाएं व वासनाएं उत्पन्न होती है।
7. ज्ञान प्राप्ति के पांच प्रकार है जिन्हें मति ज्ञान, श्रुति ज्ञान, अवधि ज्ञान, मन: पदार्थ ज्ञान एवं कैवल्य ज्ञान की श्रेणियों में बांटा गया है।
8. जीवन में पांच व्रतों का पालन करना चाहिये यह व्रत है - अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (सांसारिक वस्तुओं का त्याग)।

8.10 जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त

भारतीय दर्शन में 'जीव के बन्धन' तथा मोक्ष' की व्याख्या विभिन्न मतों के आधार पर की गई है परन्तु जैन दर्शन के अन्तर्गत जीव और अजीव के सम्बन्ध या संयोग को बन्धन माना गया है। जैन दर्शन जीव को चेतन मानता है। जीव में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्द रहता है। अपने कर्म के फलस्वरूप अज्ञानता के कारण जीव की इन शक्तियों का लोप हो जाता है और वह बन्धन में आ जाता है। यदि व्यक्ति (जीव) को ज्ञान प्राप्त हो जाये तो उसे ये शक्तियाँ पुन: मिल जाती है और उसका स्वरूप शोभायमान हो जाता है। जैन दर्शन के अनुसार यह बन्धन कर्म के कारण होता है। जीव का जब कर्म से सम्बन्ध हो जाता है तो दोनों की वास्तविक अवस्था बदल जाती है और एक-दूसरे को प्रभावित करता रहता है। राग और द्वेष के फलस्वरूप ही हम विविध प्रकार के कर्म किया करते है। जीवन की जो कुछ मानसिक वाचिक और शारीरिक क्रिया होती है उसके साथ एक द्रव्य जीव में समाविष्ट हो जाती है। इसके फलस्वरूप जीव उससे बंध जाता है। जैन दार्शनिकों की मान्यता है कि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि हे। कर्म करने से राग द्वेष पैदा होता है और राग द्वेष से कर्म चलते रहते है। कर्म के कारण ही नया जन्म होता रहता है। नये जन्म से शरीर प्राप्त होता है, शरीर से इन्द्रियां प्राप्त होती है और इन्द्रियों से विषय वासना की जागृति होती है। इस प्रकार की जागृति से विविध प्रकार के राग और द्वेष उत्पन्न होते रहते है। इस प्रकार संसार का चक्र चलता रहता है।

8.11 जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष की कल्पना

जैन दर्शन के अनुसार, आत्मा शरीर का वियोग या दूसरे शब्दों में जीव और अजीव का सम्बन्ध-विच्छेद मोक्ष है। पुदगलो (जड़ वस्तुओं) के संयोग से कर्म होता है और पुदगलो से वियोग, जीव के कार्यो पर ही निर्भर है। यदि इस प्रकार के कर्मों से व्यक्ति का छुटकारा हो जाता है तो वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जीव और पुद्गलो का वियोग कैसे होता है? इसके लिए दो बातें होनी चाहिए, नये पुद्गलों का आश्रय देना बन्द कर दिया जाये और पुराने पुद्गलो का विनाश हो जाये। इन दोनो प्रक्रियाओं को क्रमश: संवर और निर्जरा की संज्ञा दी गई है। संवर का तात्पर्य रोकने' से है। इस रोकने' का अर्थ यह हुआ कि जिन रास्तों से कर्म का विकास होता है उन्हें अवरूद्ध कर दिया जाए। संवर का अर्थ रक्षा करना या गुप्ति से है। मन, वचन और कर्म से क्रियाओं को रोकना गुप्ति है। मानसिक और शारीरिक क्रियाओं पर नियंत्रण प्राप्त करने से गुप्ति या संवर सम्भव हो सकता है। गुप्ति में व्यक्ति सफल हो गया है तो उसमें नये पुद्गल या जड़ संबंधी सांसारिक संस्कार एकत्रित नहीं होंगे। यदि व्यक्ति ऐसा करने में सफल होता है तो उसके पुराने पुद्गलों अर्थात सांसारिक (जड़ संबंधी) सरकारी का क्रमश: विनाश होता जायेगा। निर्जरा दो तरह की होती है - अविपाक और सविपाक। यदि व्यक्ति अपनी तपस्या के आधार पर अपने कर्मों का फल समाप्त करता है तो उसे 'अविपाक' कहते है और स्वाभाविक ढंग से कर्मों के फलों का नष्ट हो जाना सविपाक निर्जरा कहा जाता है। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार संवर और निर्जरा के फलस्वरूप सभी कमी अर्थात कर्मफलों को समाप्त कर देना मोक्ष है। मोक्ष प्राप्त हो जाने पर जीव और अजीव का संबंध एकदम टूट जाता है। इस संबंध के छने पर जीवन अपने में अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्य का अनुभव करने लगता है और वह सिद्ध लोक में अवस्थित हो जाता है। सिद्ध लोक में इस प्रकार अवस्थित होने को 'सिद्धशिला' की प्राप्ति कहा गया है।

जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष की अवस्था में परमानन्द की प्राप्ति होती है और व्यक्ति सभी प्रकार के दुखों से छुटकारा पा लेता है। इस छुटकारा प्राप्ति के बाद मुक्त आत्मा को पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है। पूर्ण ज्ञान की यह अवस्था अनन्त ज्ञान से परिपूर्ण होती है।

8.12 मोक्ष के साधन

जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति के लिए पांच प्रमुख साधनों को अनिवार्य बताया गया है। ये पांच साधन इस प्रकार है :-

(i) अहिंसा - मन, वचन और कर्म से किसी दूसरे पर आघात न करना

(ii) अमृत त्याग अथवा असत्य का त्याग-झूठ न बोलना।

(iii) अस्तेय - चोरी न करना।

(iv) ब्रह्मचर्य पालन - काम वासनाओं का त्याग।

(v) अपरिग्रह - सांसारिक वस्तुओं का संग्रह न करना।

8.13 मोक्ष संबंधित जैन दर्शन में निहित शैक्षिक विचार

मोक्ष संबंधी उपयुक्त विचारों में निहित शैक्षिक विचारों को समझना कठिन नहीं है। वस्तुत: एक प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि शिक्षा प्राप्त करने का परम लक्ष्य ही मोक्ष प्राप्त करना है। इस अर्थ में 'मोक्ष' और 'शिक्षा' दोनों पर्याय हो जाते है। सांसारिक वस्तुओं से मोह न करके अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्ति और वीर्य को प्राप्त करना ही मोक्ष है1 यदि हमें सांसारिक वस्तुओं से मोह नहीं रहेगा तो हमारी व्यर्थ की अनेक लिप्साओं का स्वत: लोप हो जायेगा। तब हम सिद्धि की अवस्था की प्राप्ति की ओर उन्मुख होंगे। इस उन्मुखता के फलस्वरूप हमारा सारा कार्य ही दूसरों के हित के लिए ही नियोजित होगा। यदि ऐसा हुआ तो यह पृथ्वी सभी प्राणियों के लिए स्वर्ग समान सुखदायी हो जायेगी। मोक्ष की प्राप्ति हेतु जिन उपयुक्त पांच साधनों अहिंसा, असत्य का त्याग, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का प्रतिपादन किया गया है वे शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भी प्रमुख साधन माने जा सकते

8.14 सारांश

जैन दर्शन अपने कठोर पथ एवं कड़े आदर्शो के कारण भारतीय संस्कृति में विशिष्ट दर्जा प्राप्त किए हुए है। इस दर्शन के सिद्धान्त, नियम एवं आदर्श शिक्षार्थी को संयमी एवं नियन्त्रित जीव के रूप निर्मित कर विश्व कल्याण हेतु मार्ग प्रशस्त कर रहे है। आधुनिक समस्याग्रस्त मानव समाज हेतु जैन दर्शन एक क्रान्तिकारी एवं विशिष्ट दर्शन है जो उसके सर्वांगीण विकास एवं सुखी जीवन का आदर्श बनकर उभरा है। वर्तमान शैक्षिक परिदृश्य में जैन दर्शन की महता अतुलनीय है।

8.15 मूल्यांकन प्रश्न

1. जैन दर्शन के अनुसार शिक्षा के स्वरूप एवं उद्देश्यों की विवेचना कीजिए?
2. जैन दर्शन की आत्मा एवं मोक्ष संबंधी विचारों पर टिप्पणी लिखिए?

8.16 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. चौपड़ा, रवि कांता (1991) उभरते भारतीय समाज में शिक्षक और शिक्षा, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली।
2. अग्रवाल, जे. सी. (1986) नई शिक्षा नीति, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

इकाई - 9

अद्वैत वेदान्त दर्शन और शैक्षिक निहितार्थ

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 अद्वैत वेदान्त दर्शन के भाष्यकार या सम्प्रदाय

9.3 अद्वैत शंकराचार्य का परिचय

9.4 शंकराचार्य के दार्शनिक विचार

9.5 अद्वैत वेदान्त दर्शन की विशेषताएँ

9.6 अद्वैत वेदान्त दर्शन तत्व मीमांसा

9.7 अद्वैत वेदान्त दर्शन के शैक्षिक निहितार्थ

9.8 वेदांत के अनुसार शिक्षा का अर्थ

9.9 अद्वैत वेदान्त दर्शन के उद्देश्य

9.10 छात्र संकल्पना

9.11 शिक्षक संकल्पना

9.12 पाठ्यक्रम

9.13 शिक्षण की विधियाँ

9.14 अनुशासन

9.15 सारांश

9.16 मूल्यांकन प्रश्न

9.17 संदर्भ गन्ध सूची

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- भारतीय दर्शन का मूल आधार वेदान्त दर्शन से अवगत हो सकेंगे।
- वेदान्त दर्शन के सम्प्रदाय या भाष्यकार को समझ सकेंगे।
- शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त सम्प्रदाय का अर्थ एवं उद्देश्य जान सकेंगे।
- शंकराचार्य के विचारों को समझ सकेंगे।
- शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त विचारों का अपने जीवन में प्रयोग कर सकेंगे।
- वेदान्त दर्शन एवं अन्य दर्शनों की तत्व मीमांसा कर सकेंगे।
- वेदान्त दर्शन को शैक्षिक प्रयोग में समझ सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

वेदान्त दर्शन का अर्थ

वेदान्त दर्शन भारतीय अध्यात्म शास्त्र का मुकुटमणी माना जाता है, जिसका मूल वेद या उपनिषद है। श्रुति के चरम सिद्धान्त के अर्थ में वेदान्त शब्द का प्रयोग उपनिषदों में ही सबसे पहले होता है। उपनिषदों के वैदिक रहस्यमय सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने के कारण उनके लिए वेदान्त शब्द का प्रयोग न्यायिक है। उपनिषदों में प्रतिपादित दर्शन - वेदान्त का प्रथम स्पष्ट विकास उपलब्ध बह सूत्रों के रूप में हुआ। इन्होंने, प्रमुख एवं प्राचीनतम उपनिषदों की समन्वयात्मक मीमांसा कर उनमें प्रतिपादित सिद्धान्तों को एक सुव्यवस्थित दर्शन "वेदान्त दर्शन" के रूप में प्रतिष्ठित किया।

आचार्य जैमिनी ने अपने मीमांसा सूत्रों के द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों की मीमांसा करते हुए उनमें प्रतिपादित कर्मों के स्वरूप आदि विचार किया आचार्य बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्रों या वेदान्त सूत्रों के द्वारा उपनिषदों की मीमांसा करते हुए उनमें प्रतिपादित ब्रह्मत्व एवं विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के स्वरूप आदि पर विचार किया। इन समस्त वेदान्तिक तथ्यों का केन्द्र ब्रह्म ज्ञान रहा अर्थात् वेदान्त का अर्थ हैं :- जिस ज्ञान से इस देह का सदैव के लिए अन्त हो जाता है। भारत देश में ज्ञान की चरम सीमा 'मोक्ष' रही है। इन्हीं तत्वों की मीमांसा वेदान्त सूत्र, शारीरिक सूत्र या उत्तर मीमांसा भी है। इन सूत्रों को स्पष्ट करने के लिए अनेक भाष्यकारों ने अपने-अपने भाष्य लिखे है। जिनमें उनका अपना-अपना दृष्टिकोण रहा। इसलिये विचारों में एकता नहीं रह पाई, प्रत्येक भाष्यकार ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि उसका भाष्य ही ब्रह्मसूत्रों के वास्तविक अर्थ का स्पष्टीकरण करता है। फलत: सभी भाष्यकार एक-एक वेदान्त सम्प्रदाय के प्रवर्तक बन गये, यथा कलान्तर निम्न भाष्यकार एवं उनके नाम इस प्रकार हैं -

9.2 अद्वैत वेदान्त दर्शन के भाष्यकार या सम्प्रदाय

1.	शंकराचार्य	अद्वैतवाद
2.	रामानुजाचार्य	विशिष्टा द्वैतवाद
3.	मधबाचार्य	द्वैतवाद
4.	निम्बाकाचार्य	द्वैवताद्वैतवाद
5.	बल्लाभाचार्य	शुद्धाद्वैतवाद

शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त इन सभी दर्शनों में सर्वाधिक प्रसिद्ध है। शंकराचार्य का अद्वैतवाद जानने के लिए जरूरी है कि हम उनके जीवन से परिचय प्राप्त करें।

9.3 अद्वैत शंकराचार्य का परिचय

आदि शंकराचार्य के समय हिन्दू धर्म का प्रभाव भारत में तीव्र गति से प्रसारित हो रहा था कुछ अन्य धर्म जैसे बौद्ध धर्म, जैन धर्म, चार्वाक का सिद्धान्त आदि विभाजित हो गये थे। चार्वाक ने तो वेदों की मान्यता को ही खारिज कर दिया था। ऐसे समय आदि शंकराचार्य ने अ+द्वैत = नहीं है अर्थात् जीव और ब्रह्म दो नहीं है एक ही है। अंतिम सत्ता केवल ब्रह्म की ही है। इस विचारों से ओत प्रोत इस सम्प्रदाय के ज्योतिर्मय सूर्य के रूप में प्रकाश स्तम्भ बनकर शंकराचार्य का इस पावन भूमि पर आगमन हुआ, मात्र 32 वर्ष के जीवनकाल में उन्होंने सनातन धर्म को ऐसी ओजस्वी शक्ति प्रदान की और वेदान्त के अद्वैत प्रणेता बन गये। आदि

शंकरा ने वैशाख शुक्ल पंचमी विशिष्टा देवी ने परम प्रकाशरूप अतिसुन्दर दिव्य, कांतियुक्त बालक को जन्म दिया। देवज्ञ ब्रह्मणों ने उस बालक के मस्तिष्क पर चक्र, ललाट पर नेत्र, तथा स्कंध पर शूल परिलक्षित कर उसे शिवावतार के रूप निरूपित किया, और उसका नाम शंकर रख दिया इन्हीं शंकराचार्य को प्रतिवर्ष वैशाख शुक्ल. पंचमी को श्रद्धांजलि अर्जित करने के लिए श्री शंकराचार्य जयंती बनाई जाती है। ऐसी मान्यता हैं कि शंकराचार्य के माता-पिता (विशिष्टा देवी व नामपुद्वि) ने चंद्रमोली शंकर की कठोर आराधना की और साक्षात शंकर ने उनके पुत्र के रूप में अपने को अवर्तीण किया। मात्र 2 वर्ष की आयु में आपने वेद पुराण, उपनिषद, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थ कंठस्थ कर लिए और सात वर्ष की आयु में सन्यास ग्रहण कर अपने जीवन को उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए घर से निकल पड़े। शंकराचार्य ने अपने गुरू गोविन्दपाद से योग शिक्षा एवं अद्वैत ब्रह्य ज्ञान प्राप्त किया। शंकराचार्य ने अद्वैत ज्ञान की गहराई में जाकर चिंतन की ऊंचाइयों को छुआ यहाँ तक उन्होंने अपने ज्ञान की पराकाष्ठा प्रदर्शित करते हुए आचार्य मंडन मिश्र को शास्त्रार्थ में हरा दिया एवं गुरू पद पर आसीन हुए। अद्वैत ब्रह्मवादी आचार्य शंकर केवल निर्विशेष ब्रह्म को सत्य मानते थे और ब्रह्म ज्ञान में ही मग्न रहते थे उनकी दृष्टि में निरपेक्ष ब्रह्म ही जगत का कर्ता है इस गम्भीर, ज्ञानमय, रहस्यपूर्ण सत्य ने उन्हें समाधिस्थ कर दिया और अंत चक्षु में उन्होंने देखा-सर्वत्र अद्य शक्ति महामाया लीला विलाप कर रही है। उनका हृदय अनिर्वचनीय, आनन्द से भर गया और मुख से वंदना की शब्दमयी धारा स्त्रोत बनकर फूट पड़ी।

9.4 शंकराचार्य के दार्शनिक विचार

शंकराचार्य ने अपने विचारों को अद्वैतवाद, शुद्धा द्वैतवाद विशिष्टा द्वैतवाद, निर्गुण ब्रह्म शान के साथ सगुण साकार की भक्ति प्रस्तुत की। उनका मानना हैं कि अद्वैत ज्ञान ही सभी साधनाओं की परम उपलब्धि है। जीव अज्ञान व्यष्टि की उपाधि से युक्त है। 'तत्वमसि-तुम ही ब्रह्म हो, अहं ब्रह्मस्मि- मैं ही ब्रह्म हूँ अयात्मा-ब्रह्म यह आत्मक ही ब्रह्म है। " ब्रह्म को जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का निमित्त कारण बताया है। ब्रह्म सत्य (त्रिकालाबाधित) नित्य,चैतन्यस्वरूप, तथा आनंद स्वरूप है। ऐसा उन्होंने स्वीकार किया। शंकर के दर्शन ने हमें तीन प्रकार के अस्तित्व मिलते है। 1. यथार्थ सत्ता, 2. व्यावहारिक सत्ता, 3. भ्रमात्मक सत्ता

स्वमूल्यांकन प्रश्न :-

1. शंकराचार्य के विचार किस नाम से जाने जाते है?
2. शंकराचार्य ने शास्त्रार्थ में किसे पराजित किया?
3. शंकराचार्य के गुरू का क्या नाम था?
4. वेदान्त सूत्रों को कितने भागों में विभाजित किया जाता है?

9.5 अद्वैत वेदान्त दर्शन की विशेषताएं

1. सत्ता एक है "बह्य सत्यम, जगत मिथ्या 'और यही उद्घोषणा उनके अद्वैत दर्शन की मुख्य पहचान है। यह ब्रह्म तत्व नित्य शुद्ध, बुद्व मुक्त स्वभाव, चिन्मता एवं परम् तत्व है।
2. अद्वैत वेदान्त का परम् लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है, और यह ज्ञान से प्राप्त हो सकती है कर्म से नहीं।
3. जीव का स्वरूप ब्रह्म से अतिरिक्त में से नहीं है। उनके अनुसार अविद्या, जीव का अधिकारण है। अज्ञान और अविद्या से जीव सांसारिक बन जाता है।
4. अद्वैत की सिद्धि के लिए शंकराचार्य ने मायावाद को जन्म दिया। माया को उन्होंने सरल शब्दों में अज्ञान का नाम दिया।
5. ब्रह्म पूर्णत: स्वतंत्र हैं और माया ब्रह्म पर आश्रित है माया की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।
6. सृष्टि प्रक्रिया को भी शंकरा ने अपने विचार में स्थान दिया। आकाश, जल, वायु प्रत्येक को स्थूलभूत तत्व माना।
7. वेदान्त दर्शन या ब्रह्म का साक्षात्कार विशेष प्रकार की आचरण पद्धति से होता है।
8. सम्पूर्ण जगत ब्रह्म अमूर्त रूप में सत् प्रतीत होता है।
9. जीवन क्षणभंगुर है और परिवर्तनशील है कोई वस्तुत स्थाई नहीं है।

9.6 अद्वैत वेदान्त दर्शन तत्व मीमांसा

इस ब्राह्मण का संचालन एक ही सत्ता से होता है, इस उद्घोष को शंकरा ने अपने विचारों में तत्व की संज्ञा दी। वेद और उपनिषद पढ़ने के बाद यह भ्रम होता है कि सत्ता अनेम है। ऋग्वेद में मुख्यत: अग्नि, इन्द्र, वरूण, मरूत आदि देवताओं की स्तुति इस प्रकार की गई है। यह भ्रम होना स्वाभाविक है। वस्तुत: यह प्रकृति की अधिष्ठात्री शक्तियां है। अत: वेदों में उनकी उपासना अलग-अलग समय, अलग-अलग उद्देश्यों से ही जाती है। किन्तु वेदों में यह भी वर्णित हैं "एक सद विप्रा बहुधा वदन्ति" अर्थात विद्वानगणों ने एक सत्य को अनेक रूपों में कहा है। किन्तु शंकर ने एकेश्वरवाद की ही पुष्टि की है। शंकर ने जगत को भ्रम व मिथ्या माना है और कहा हैं ब्रह्म सत्यम जगत मिथ्या अत: शंकर के ज्ञान का चरम रूप ब्रह्म सत्य है।

ब्रह्म आत्मा :

तत्व मीमांसा को आगे बढ़ाते हुए शंकराचार्य ने अपने भाष्य में लिखा हैं कि भ्रम की कोई जाति नहीं है उसमें कोई गुण नहीं है। कोई कर्म नहीं करता और किसी वस्तु के साथ सम्बद्ध नहीं है। आत्मा तथा ब्रह्म दोनों में सत् के सभी लक्षण, चैतन्य, सर्वव्यापकता, और आनन्द एक समान माने जाते है।

शंकराचार्य ने स्पष्ट किया कि जीव अज्ञान की उपाधि से युक्त है। उन्होंने सगुण और निर्गुण दोनों ब्रह्म को स्वीकार किया। सगुण में साकार ईश्वर के दर्शन होते है तो निर्गुण में

निराकार अर्थात् बिना किसी आकार के। सम्पूर्ण जगत के जीवों को ब्रह्म के रूप में स्वीकार करना तथा तर्क आदि के द्वारा इसे सिद्ध कर देना, शंकरा के अर्द्धतवाद की विशेषता रही है। अन्त में ब्रह्म के -सम्बन्ध में उनके विचार इन वाक्यों से सारगर्भित किये जाते है। समस्त उत्पन्न का आधार आत्मा, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा चारों दिशायें, वेद वाणी तथा समस्त विश्व जिसका हृदय है और जिसके चरणों से पृथ्वी का प्रादुर्भाव हुआ है।

माया डंलं -

शंकराचार्य ने तत्व मीमांसा करते हुए माया को ईश्वरीय शक्ति का स्त्रोत माना, उन्होंने बताया कि माया और अविद्या एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। माया को शंकराचार्य ने ब्रह्म की शक्ति माना, पर इसे नित्य रूप नहीं माना। तत्व मीमांसा की एक और कड़ी है, जिसे हम अन्तिम एवं वास्तविक शक्ति के रूप में जानते है। ये शक्ति तीन तत्वों में दिखाई देती है -

1. पारमार्थिक या यथार्थ सत्ता
2. व्यावहारिक सत्ता
3. प्रतिभासित या भ्रमात्मक सत्ता

शंकराचार्य के अर्द्ध वेदान्त में तीनों सभ्यताओं को स्वीकार किया हैं, इसका विस्तार से वर्णन अग्रिम पृष्ठों पर किया गया है।

स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. शंकराचार्य ने तत्व की संज्ञा किसे दी है?
2. माया का दूसरा नाम क्या है?

9.7 अद्वैत वेदान्त दर्शन के शैक्षिक निहितार्थ

डॉ दास गुप्ता के शब्दों में - वेदान्त की केन्द्रीय दार्शनिक समस्या, ब्रह्म की धारणा हैं - उसके कार्यक्रम का स्वरूप और माया, दृश्य जगत के इन्दि-गोचर, संसार एवं विभिन्न व्यक्तियों से उसका सम्बन्ध। "

उक्त उद्धरण इस बात का स्पष्ट संकेत देता है कि वेदान्त-दर्शन में सम्पूर्ण शिक्षा का सम्बन्ध, 'ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति से है। अत: वेदान्त में शिक्षा की रूपरेखा निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त की जा सकती हैं।

9.8 वेदांत के अनुसार शिक्षा का अर्थ

वेदान्त दर्शन के अनुसार शिक्षा का अभिप्राय है - ब्रह्म जिज्ञासा। ब्रह्म जिज्ञासा स्वाध्याय से पूरी होती है। परन्तु इसकी पूर्णता उस समय होती है जब हम कार्य में ज्ञान का उपयोग करते हैं। अत: शिक्षा का व्यावहारिक अर्थ हैं - ज्ञान द्वारा कर्म में उपयोग। कर्म में ज्ञान का उपयोग न होने से उसका कोई मूल्य नहीं रहता है। वेदान्त के अनुसार शिक्षा का अभिप्राय अविद्या या अज्ञान रूप अन्धकार से मुक्ति भी है। इस प्रकार शिक्षा अज्ञानता के नाश की प्रक्रिया भी है। वेदान्त-दर्शन कर्म, भक्ति तथा ज्ञान के समन्वय की प्रक्रिया को शिक्षा की संज्ञा प्रदान करता है।

9.9 अद्वैत वेदान्त दर्शन के उद्देश्य

वेदान्त-दर्शन ब्रह्म, जीव, जगत, माया आदि के विषय में विचार-विमर्श करता है और तत्सम्बन्धी ज्ञान का उपदेश देता है। वेदान्त दर्शन के अनुसार शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य-बालक को अज्ञान से मुक्त करके सत्य ज्ञान की प्रतीत कराना है। इसकी प्रतित से वह विद्या तथा अविद्या में भेद करने में समर्थ हो सकता है। साथ ही वह सत्य एवं असत्य के भेद को समझ सकता है और अपने में निहित अनन्त शक्ति को पहचान सकता है। वह अज्ञान को दूर करके पूर्ण अवस्था या मुक्ति या ब्रह्म और आत्मा की अभिन्नता को प्राप्त कर सकता है।

शंकराचार्य के विचार से आत्मा और ब्रह्म अभिन्न है। आत्मा सर्वत्र, सर्वव्यापी तथा सर्वशक्तिमान हैं। इस दृष्टि से हममें से प्रत्येक पूर्ण, अखण्ड, निर्विकार तथा शक्तिमान है। परन्तु हम अविद्या के कारण स्वयं को पहचान नहीं पाते हैं और अपने को अज्ञानी और निर्बल पाते है। इसलिए, हम विभिन्न दुःखों एवं कष्टों को भोगते है। शंकर के अनुसार परा विद्या द्वारा अपने को पहचानने में समर्थ हो सकते है और ब्रह्म ज्ञानी हो सकते है, साथ ही मुक्ति प्राप्त कर सकते है।

इस प्रकार वेदान्त के अनुसार शिक्षा का लक्ष्य वास्तविक सत्ता को पहचानने की योग्यता प्रदान करता है जिससे मोक्ष प्राप्त होता है।

वेदान्त के अनुसार शिक्षा का दूसरा उद्देश्य सद्जीवन का विकास है। इसके लिये वेदान्तचार्य साधन चतुष्टय बताते हैं - 1 नित्यानित्य वस्तु विवेक, 2. ऐहिक तथा पारलौकिक भोगों से विरल, 3. मन तथा इन्द्रियों का संयम, श्रद्धा, चित्त को ज्ञान-प्राप्ति में लगाना, विक्षेपकारी कार्यो के विरति आदि तथा, 4. दृढ़ संकल्प या मुमुक्षत्वा रामानुजाचार्य जैसे वेदान्ती ने भगवद भक्ति एवं भागवदकृपा को भी सद्जीवन के विकास के लिये एक प्रमुख साधन बतलाया है। इसके अलावा कुछ अन्य उद्देश्यों की चर्चा करना भी विषय की दृष्टि से सम्पर्क रहेगा, ये निम्न प्रकार है।

1. आत्मानुभूति, वेदान्त दर्शन के अनुसार शिक्षा का लक्ष्य है।
2. आनन्द की प्राप्ति भी शिक्षा से ही प्राप्त होती हैं। क्योंकि ज्ञान से आनन्द मिलता है और यह आनन्द आत्मा का ही लक्षण है पत्नी, पुत्र, धन, पुण्य, भक्ति, अध्ययन सभी से व्यक्ति को आनन्द प्राप्त होता है।
3. जीवन के लिए भौतिक दृष्टि से अन्य की आवश्यकता होती है, अतः शिक्षा व्यक्ति इसलिए प्राप्त करता है ताकि वह अच्छी तरह अपनी जीविका चला सकें।
4. अपनी स्वं की रक्षा एवं भौतिक स्वं के साथ प्राणमय स्वं की रक्षा करना भी शिक्षा के उद्देश्यों को लक्षित करता
5. विद्यार्थी, शिक्षक एवं, शिक्षार्थी ज्ञान को व्यावहारिक बजाय विज्ञान एवं तकनीकी से युक्त होकर ज्ञानार्जन करें ताकि शिक्षा वर्तमान संदर्भ में सार्थक हो। इन उद्देश्यों को अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष, आनन्दमय कोष के रूप में भी परिभाषित का दार्शनिक छवि को समायोजित किया जा सकता है।

9.10 छात्र संकल्पना

शंकराचार्य के वेदान्त-दर्शन में सत्ता को तीन प्रकार का माना गया हैं - उसे ही पाठ्यक्रम की संज्ञा दी जाती है।

(अ) प्रतिभाषिकी सत्ता, (ब) व्यावहारिकी सत्ता, (स) परमार्थिक सत्ता

(अ) प्रतिभाषिकी सत्ता -

इसका अभिप्राय उस सत्ता से हैं, जो प्रतीतिकाल में सत्य मालूम पड़ती है, परन्तु बाद में उसका विरोध हो जाता है। उदाहरणार्थ-अन्धकार में पड़ी रस्सी को लोग सर्प समझ लेते हैं और भय के कारण दूर हट जाते हैं। परन्तु दीपक के प्रकाश के आने से पूर्व का ज्ञान बाधित हो जाता है। इस प्रकार, इसके अन्तर्गत कल्पना, भ्रम तथा स्वप्न में प्रकट होने वाले अनुभव आते है।

(ब) व्यावहारिक सत्ता-

इसका अभिप्राय उस सत्ता से है, जो पदार्थ या वस्तु संसार की व्यवहार-दशा में सत्य प्रतीत होती है। यह व्यवहार रूप से दिखाई देने वाले पदार्थो में निहित रहती है। परन्तु इन पदार्थो की सत्यता ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति पर नष्ट हो जाती है, उससे पूर्व नहीं।

(स)परमार्थिक सत्ता -

यह सत्ता वास्तविक सत्ता है। ऐसी सत्ता विकास में भी बोधित नहीं होती है। परमार्थ की सत्ता एकमात्र ब्रह्म की है।

शंकराचार्य के अनुसार, शिक्षा का पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जिसमें इन तीनों प्रकार की सत्ताओं से सम्बन्धित विषयों का समावेश है। यद्यपि शंकराचार्य ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त और किसी ज्ञान को ग्राह्य नहीं समझते हैं, तथापित वे जगत-सम्बन्धी ज्ञान को व्यावहारिक दृष्टि से सत्य मानते है। शंकराचार्य के अनुसार - "वह सांसारिक ज्ञान, जिसमें जगत को समस्त विषयों का मूल माना जाता है, निश्चित की सत्य है। जिस प्रकार कारण रूपी ब्रह्म की सत्ता त्रिकाल में रहती है, उसी प्रकार सत्तारूपेण जगत् भी त्रिकाल में सत्य रहता है, क्योंकि कारण-कार्य अभिन्न हैं।"

अत: अद्वैत-वेदान्त की दृष्टि से पाठ्यक्रम में आत्मिक तथा व्यावहारिक विषयों का समावेश होना चाहिए। यदि पाठ्यक्रम की विवेचना रूचि एवं संस्कारों के अनुसार की जाये तो भी पाठ्यक्रम में परमार्थिक तथा व्यावहारिक विषयों का समावेश आवश्यक हैं, क्योंकि यदि कुछ बालक बाह्य रूचि वाले होते हैं, तो कुछ आन्तरिक रूचि वाले। ग्राह्य रूचि के लिए पारमार्थिक विषयों की आवश्यकता है।

9.11 शिक्षक संकल्पना

शंकराचार्य ने ज्ञान की क्रिया कास 'विवेक चूड़ामणि' तथा "उपदेशसहस्री" में वर्णन किया है। उन्होंने ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए शिष्य को चार गुणों से सम्पन्न होना आवश्यक माना है, जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। जब शिष्य समस्त गुणों से युक्त हो जाता है, वह

वेदान्त-श्रवण का अधिकारी बन जाता है। इसके उपरान्त शिष्य ब्रह्मवेत्ता गुरू की शरण में जाकर आत्मा से संबंधित प्रश्न करता है। गुरू-ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करने के लिए अध्यारोप तथा अपवाद विधियों का प्रयोग करता है।

(अ) अध्यारोप विधि-

इस विधि द्वारा जगत् के भीतर से ब्रह्म के तत्व का अभ्यास कराया जाता है। इसके द्वारा शिष्य के समक्ष यह प्रस्तुत किया जाता हैं कि आत्मा ही शरीर है, आत्मा ही मन है, आत्मा ही बुद्धि है, आत्मा ही समस्त पदार्थ है।

(ब) अपवाद विधि -

इसके अन्तर्गत युक्ति के आधार पर यह सिद्ध किया जाता है कि आत्मा न तो शरीर है, न मन है, न बुद्धि है। वह इन सबसे भिन्न है। इस प्रकार, अपवाद विधि में आरोपित धर्म या गुणों या विशेषणों को धीरे-धीरे हटाया जाता है। इस प्रकार, हटाते-हटाते जो शेष रह जाता है, वही आत्मा का सच्चा या वास्तविक स्वरूप रह जाता है।

वस्तुत: ये दोनों विधियाँ एक ही विधि के दो अंग है। गुरू इससे शिष्य को ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान कराता है। आज भी विधि का प्रयोग बीजगणित में अज्ञात राशि के मूल्य एवं रूप को जानने के लिए किया जाता है।

कुछ वेदान्ताचार्यों ने उपदेश विधि, स्वाध्याय विधि, स्मरण विधि, सूत्र विधि, कथा प्रणाली पहेली तथा इन्द्रियों के प्रयोग द्वारा शिक्षा की विधि पर भी बल दिया है।

9.12 पाठ्यक्रम

अद्वैत-वेदान्त के अनुसार प्रत्येक बालक अनन्त-शक्ति तथा अनन्त-ज्ञान से युक्त है। परन्तु बालकों में जो शारीरिक, मानसिक, काशुक आदि विभिन्नताएँ दिखाई पड़ती है, वे कर्म-जनित फलों का परिणाम है। वस्तुत: ये विभिन्नताएँ उसके तटस्थ लक्षण हैं, न कि उनके स्वरूप लक्षण। स्वरूप लक्षण की दृष्टि से वे सब समान हैं, एक हैं और उनकी सभी प्रकार की विभिन्नताएँ मिथ्या है। परन्तु जब तक वे इस व्यावहारिक जगत् में निवास करते है, तब तक जगत् और उनका शरीर, सत्य माना जायेगा। यदि इनको सत्य स्वीकार किया जाता है, तो बालक के व्यक्ति के निम्नांकित पक्षों पर ध्यान देना आवश्यक है:-

(अ) बाल का नाम-रूप शरीर।

(ब) बालक आत्मिक अंग।

(स) जगत या भौतिक एवं सामाजिक वातावरण, उसके द्वारा बालक का शरीर एवं मन प्रभावित होता है।

9.13 शिक्षण की विधियाँ

अद्वैत-वेदान्त के अनुसार, शिक्षक ब्रह्मज्ञानी होना चाहिए। तभी वह बालक को ब्रह्मज्ञान प्रदान कर सकता है। इस संसार में ऐसे बहुत ही कम शिक्षक मिलेंगे, जिन्होंने ब्रह्मसत्ता की अनुभूति कर ली हो। अत: व्यवहारिक दृष्टि से ऐसे शिक्षक की आवश्यकता है,

जो अपने धर्म को जानता हो और उसके निर्वाह के लिए सदैव तत्पर रहता हो। साथ ही, वह बालक के व्यक्तितत्व का आदर करे और अध्ययन तथा अध्यापन में रत रहे।

9.14 अनुशासन

अद्वैत वेदान्त में बाल-प्रकृति की चार अवस्थाओं- (1) क्षिप्त, (2) विक्षिप्त, (3) मुधा, तथा (4) एकाग्रता का वर्णन किया जाता है। प्रथम अवस्था में बालक पूर्णत: इन्द्रियों का दास रहता है। दूसरी अवस्था में वह सीमित रूप में इन्द्रियों को नियन्त्रित करने में सफल हो जाता है। तीसरी अवस्था में उसकी एकाग्रता और बढ़ जाती है। चौथी अवस्था में वह स्वयं को नियामक एवं नियत्ता मानने लगता है। इस अवस्था में वह अपनी इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि पर आत्मा का नियंत्रण कायम करने में समर्थ होता है।

शंकराचार्य, योगाभ्यास द्वारा इन्द्रियों का नियन्त्रित करने पर बल देते है। बालक का शिष्य इसके माध्यम से एकाग्रचित्त होकर ज्ञान प्राप्ति करने में समर्थ होगा। साथ ही, वह नैतिक जीवन के लिए सामाजिक कर्तव्यों-संयम दान, त्याग तपस्या आदि के निर्वाह पर बल देते है।

9.15 सारांश

हमने उक्त पंक्तियों में शंकराचार्य तथा अन्य वेदान्तियों के वेदान्त-दर्शन और तत्सम्बन्धी शिक्षा-विषयक विचारों का विवेचन प्रस्तुत किया है। शंकर के दर्शन के दो मूल सिद्धान्त है। पहला सिद्धान्त है- "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, अर्थात् ब्रह्म ही सत्य है और जगत् मिथ्या है। सत्य का आशय तीनों कालों में रहने वाली वस्तु से है। दूसरा सिद्धान्त यह है- ब्रह्म के दो स्वरूप है, सगुण और निर्गुण। माया विशिष्ट ब्रह्म सगुण है और यही ईश्वर है। निर्गुण ब्रह्म, माया के सम्बन्ध से रहित, व्यापक सर्वश्रेष्ठ, अखण्ड और सच्चिदानन्द स्वरूप है। अपने इन सिद्धान्तों द्वारा शंकराचार्य ने ब्रह्म को परम और अन्तिम सत्य बताया है, जो विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न प्रतीत होता है। यही उसके दर्शन का आधारभूत विचार है। अपने इस दर्शन के प्रतिपादन में उनको अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है और इसलिए हिन्दू-विचार एवं धर्म पर उनका बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।

अन्त: में, हम आचार्य बलदेव उपाध्याय के शब्दों में कह सकते है कि आज स्वार्थ की भावना से त्रस्त तथा परास्त मानव-समाज के कल्याण के लिये वेदान्त की महनीय शिक्षा अमृतमयी है। वेदान्त विषय-सुख को तुच्छ सिद्ध करके जीवों को आगे बढ़ने के लिये प्रोत्साहित करता है। विषय का सुख क्षणिक होता है परन्तु आध्यात्मिक सुख सच्चा तथा चिरस्थायी होता है। वेदान्त उसी की ओर बढ़ने के लिए जीवों में स्फूर्ति भरता है। उन्होंने तत्कालीन भाव में व्याप्त धार्मिक कुरीतियों को दूर कर अद्वैत वेदान्त की ज्योति से देश को आलोकित किया। सनातन धर्म की रक्षा हेतु उन्होंने भारत में चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना की तथा शंकराचार्य पद की स्थापना करके उस पर अपने चार प्रमुख शिक्षकों को आसीन किया। उत्तर में

ज्योतिमांठ, दक्षिण में श्रंगेरी, पूर्व में गोवर्धन तथा पश्चिम में शारदा मठ नाम से आज ये भी यह भारतीय सभ्यता संस्कृति की धरोहर बने हुए है।

शंकराचार्य ने अपने अद्‌भुद दर्शन को सरल शब्दों में आम लोगों तक पहुँचाने का कार्य किया। साथ ही अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से राष्ट्र को एक सूत्र में बांधने का सर्वतो भावेन कर्म किया। कुछ विद्‌वान जनों का मानना है कि भारतीय संस्कृति के विस्तार में भी इनका अमूल्य योगदान है। क्योंकि जिस समय जगतगुरू का प्रादुर्भाव हुआ, उस समय भारत में वैदिक धर्म मलिन हो रहा था तथा मानवता विसर रही थी। प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री प्रो0 एल.के.ओउ के अनुसार जगतगुरू ने बौद्धिक ज्ञान को परिमार्जिन करके आम लोगों तक पहुंचाने का कार्य सरलतम भाषा में किया है।

सेंट थॉमस ने भी आदिगुरू को भारतीय सोच के इतिहास में सबसे शानदार व्यक्तित्व माना है। महान भारतीय मुस्लिम दार्शनिक मुहम्मद इकबाल शंकरा को मध्ययुगीन भारत के महान विचारकों में से एक मानते है और उनके प्रमाद को स्वीकार करते है। शंकराचार्य के उपरोक्त दर्शनिक विचार, पाठ्यक्रम शिक्षक, शिक्षार्थी सम्बंध एवं अनुशासन का विवेचन करने पश्चात् सार रूप में उनके विचारों को वर्तमान शिक्षा जगत में निम्न बिन्दुओं के माध्यम से उपयोग बनाया जा सकता है।

1. ज्ञान अखण्ड एवं ब्रह्म की प्राप्ति है।
2. सम्पूर्ण ज्ञान के जीवों को ब्रह्म के रूप में स्वीकार करना।
3. सम्पूर्ण जगत में जीवन यापन के लिए शिक्षा या ज्ञान महत्वपूर्ण आधार है इसे प्राप्त करके व्यक्ति अपने जीवन की उच्चतम लक्ष्यों को प्राप्त कर सकता है।
4. ज्ञान प्राप्ति के लिए निश्चित उद्देश्यों पर आधारित पाठ्यक्रम एवं शिक्षक की महता को स्वीकार करना किया जाना चाहिये।
5. अद्वैत वेदान्त दर्शन ने भारतीय सभ्यता संस्कृति की उद्भव एकता अखण्डता को अपने शैक्षिक विचारों से प्रयोग में लाने का प्रयास किया।
6. शिक्षा केवल ज्ञान प्राप्ति तक ही सीमित नहीं है अपितु शिक्षा का ध्येय जीविकोपार्जन करना भी है जो आज के युग की मुख्य आवश्यकता बन गई है।
7. अद्वैत वेदान्त दर्शन ने शिक्षण की व्यावहारिक विधियां प्रतिपादित की है जिनका आज की शिक्षण प्रक्रिया में प्रयोग होता है।
8. वेदान्त दर्शन के अनुसार आत्मानुशासन को महत्व दिया है। आज की शिक्षा में भी यही कहा जाता है कि अनुशासन बाहर से नहीं वरन् अन्दर की आत्मा की आवाज से दिखाई देना चाहिए।
9. अद्वैत वेदान्त दर्शन की शिक्षा आज के युग में एकता को बनाने में, भौतिकवादी विपदाओं से मुक्ति, पाने में सहायक बन सकती है। भौतिक दौड़ में भ्रमित (माया) मानव आध्यात्मिक ज्ञान से आनन्दमयी जीवन प्राप्त कर सकता है।
10. अंत में वेदान्त दर्शन का सार इन पंक्तियों में वर्तमान युग असतो मां सद्‌गमय, तमसोमां ज्योतिगर्मय मृत्योमा अमतं गमय" परिलक्षित होता है।

9.16 मूल्यांकन प्रश्न

1. वेदान्त दर्शन की संक्षिप्त में विशेषताएँ बताइए?
2. वेदान्त दर्शन तथा अनुशासन का क्या संबंध है?
3. वेदांत दर्शन की अनुसार छात्र संकल्पना एवं शिक्षक संकल्पना का उल्लेख कीजिए।
4. अद्वैत वेदांत के अनुसार शिक्षा के क्या-2 उद्देश्य है?
5. निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये:-
   1 ब्रह्म 2 माया
   आत्मा 4 तत्व मीमांसा
6. वर्तमान भारतीय शिक्षा में वेदान्त दर्शन के शैक्षिक निहितार्थ की विस्तार से विवेचना कीजिए?

9.17 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. चौबे,एस.पी. - शिक्षा और दर्शन
2. कबीर हूमायूँ - भारतीय शिक्षा दर्शन
3. शर्मा डी.एल. - उदीयमान भारतीय समाज एवं शिक्षा
4. Radhakrishan - Indian Philosophy
5. Panday.R.S. - An Introduction to major Philosophies of Education

इकाई - 10

गुरुदेव रविन्द्रनाथ टैगोर के शैक्षिक विचार

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 जीवन परिचय

10.3 रविन्द्रनाथ टैगोर का जीवन दर्शन

10.4 रविन्द्रनाथ टैगोर का शिक्षा दर्शन

10.5 रविन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य

10.6 रविन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार पाठ्यक्रम

10.7 अध्यापक और शिष्य

10.8 रविन्द्रनाथ टैगोर और अनुशासन

10.9 रविन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार धार्मिक शिक्षा

10.10 रविन्द्रनाथ टैगोर और शिक्षण विधि

10.11 रविन्द्रनाथ टैगोर के शैक्षिक विचारधाराओं की विशेषताएँ

10.12 रविन्द्रनाथ टैगोर के शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन

10.13 सारांश

10.14 मूल्यांकन प्रश्न

10.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

10.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययनोपरान्त विद्यार्थी :-

- रविन्द्रनाथ टैगोर का जीवन परिचय के बारे में जान सकेंगे।
- रविन्द्रनाथ टैगोर के जीवन दर्शन को जानेंगे।
- रविन्द्रनाथ टैगोर के शिक्षा दर्शन को जानेंगे।
- रविन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार शिक्षा के उद्देश्यों को समझ सकेंगे।
- रविन्द्रनाथ टैगोर की शैक्षिक विचारधाराओं की विशेषताओं की व्याख्या कर सकेंगे।
- रविन्द्रनाथ टैगोर के शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन कर सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

भारत की महान कवि परम्परा में कालीदास व तुलसीदास के बाद गुरुदेव रविन्द्रनाथ ठाकुर एक मात्र ऐसे कवि जिन्होंने विश्व जनीन भावो को अपने काव्य के माध्यम से व्यक्त करके विश्वकवि का स्थान प्राप्त किया। वह भारतीय संस्कृति के महान गायक, जिनके गीतों के स्वरों ने देश-काल की सीमाओं को तोड़कर अपनी व्यापकता, उदारता का परिचय संसार को दिया। टैगोर ने 'विश्वभारती' की स्थापना करके शिक्षा के क्षेत्र में एक नयी विचारधारा का

सूत्रपात किया। प्रसिद्ध धार्मिक सुधारक महर्षि देवेन्द्रनाथ के सुपुत्र कविवर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर न केवल उच्च कोटि के कवि एवं विचारक थे वरन् एक महान शिक्षा-शास्त्री भी थे।

10.2 जीवन परिचय

टैगोर का जन्म कलकत्ता में 6 मई, 1971 को हुआ था। टैगोर को अपने पिता से देशभक्ति, धर्मप्रियता, साधुता आदि गुण उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुए वह अपने सभी भाई-बहिनों में सबसे छोटे थे। परन्तु उन्होंने अपने यश से न केवल टैगोर परिवार वरन् सम्पूर्ण देश को गौरव प्रदान किया। इनको सर्वप्रथम ओरिएण्टल सेमेनरी स्कूल में दाखिला करवाया। परन्तु वहाँ उनका मन नहीं लगा। इस कारण उनको कुछ महीनों के बाद नार्मल स्कूल में भर्ती किया गया। इस काल में उन्हें कुछ कटु अनुभव प्राप्त हुए जिनके परिणामस्वरूप आगे चलकर उन्होंने आजीवन सुधार के लिये प्रयास किया और एक आदर्श शिक्षा-संस्था के रूप में सन् 1901 ई. में 'शान्ति-निकेतन' की स्थापना की। वर्तमान में 'शान्ति-निकेतन' को 'विश्व-भारती' विश्वविद्यालय के नाम से जाना जाता है।

उनकी प्रारम्भिक शिक्षा वास्तविक रूप में विद्यालय से अधिक घर पर हुई थी। विद्यालय में तो वे नाममात्र को गये। उन्हें घर पर ही संस्कृत, कला, अंग्रेजी, चित्रकला, संगीत आदि की शिक्षा प्राप्त हुई और इन विषयों को पढ़ाने के लिए अलग-अलग शिक्षकों की व्यवस्था की गई थी। सन् 1878 में टैगोर उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए अपने भाई के साथ इंग्लैण्ड गए। वहां पर वे ब्राइटन विद्यालय में भरती हुई परन्तु इस विद्यालय में वे अधिक दिन न रह सके। इंग्लैण्ड से वे लन्दन गये किन्तु लन्दन में किसी विद्यालय में प्रवेश नहीं प्राप्त किया। इस प्रकार इंग्लैण्ड में उनकी विद्यालयी शिक्षा नहीं हो सकी अत: वे सन् 1880 ई. में भारत लौट आए।

शान्ति-निकेतन की स्थापना करने के बाद उन्होंने शिक्षा-साहित्य व समाज की सेवा में अपने को अर्पित कर दिया। उन्होंने राजनीति में भी सफलतापूर्वक प्रवेश किया और सन् 1919 ई. तक वे राजनीति कार्यों में रूचि लेते रहे।

राजनीतिक, सामाजिक एवं शैक्षिक कार्यों को करते हुए भी उनकी साहित्य साधना, अनवरत रूप से चलती रही और महाकवि एवं साहित्यकार के रूप में उनका व्यक्तित्व निखरता गया। टैगोर विश्वकवि थे और गीतान्जलि उनका विश्वविख्यात ग्रंथ है। 'गीतान्जलि टैगोर की वह अमर कृति है जिसने उन्हें देश-विदेश में महाकवि के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। इस कृति का अनुवाद विश्व की लगभग सभी भाषाओं में हो चुका है। इसमें जिन गीतों का संग्रह है वे दिव्य भावनाओं से पूर्ण है। नवम्बर 1913 में उन्हें प्रसिद्ध 'नोबेल पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। इसके एक मास बाद कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उन्हें डी. लिट. की सम्मानार्थ उपाधि से विभूषित किया और सन् 1915 में भारत सरकार ने उन्हें 'नाइट' बनाकर सम्मानित किया। सन् 1920 से 1930 तक उन्होंने यूरोप, अमेरिका तथा एशिया के विभिन्न स्थानों का भ्रमण किया। इन देशों में उनके अनेक स्थानों पर भाषण हुए बर्ट्रेण्ड रसेल जैसे महान विचारक भी उनसे प्रभावित थे। सन् 1941 ई. में इस महान साहित्यकार एवं शिक्षाशास्त्री का देहान्त हो गया।

10.3 रविन्द्रनाथ टैगोर का जीवन दर्शन

रवीन्द्रनाथ ठाकुर मूलत: कवि थे। उन्होंने कला के कुटीर में आत्म-प्रकाश का दर्शन किया और इस प्रकाश को अपनी वाणी के माध्यम से सारे विश्व में फैलाया। उन्होंने पाश्चात्य जगत् को भारत की आत्मा का संदेश दिया। इस दृष्टि से वह एशिया की आत्मा के सबसे बड़े संदेशवाहक थे। इसीलिये वह 'विश्व कवि' और 'गुरुदेव' के नाम से संसार में पूज्य हुए

टैगोर के जीवन-दर्शन पर उनके धार्मिक, दर्शनयुक्त व सुसंस्कृत परिवार का गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने आदर्शवादी दर्शन को स्वीकार किया और सत्य, शिव तथा सुन्दर जैसे आध्यात्मिक मूल्यों में अटल विश्वास करते हुए आध्यात्मिकता को प्राप्त करना मानव जीवन का प्रमुख लक्ष्य माना। उपनिषद ब्रह्मा के स्वरूप को तीन भागों में विभाजित करते हैं - 'सत्य', 'ज्ञान' और 'अनन्त'। इसी आधार पर टैगोर ने मानव आत्मा के भी तीन रूप निश्चित करते हैं - 'मैं हूँ' 'मैं जानता हूँ' और 'मैं व्यक्त करता हूँ'। मनुष्य की यही तीन दिशाएँ हैं और इन तीनों को लेकर एक अखण्ड सत्य है। टैगोर के विचार में सत्य के यही तीनों भाव मनुष्य को विविध प्रकार के क्रिया-कलापों की प्रेरणा प्रदान करते है। इन तीनों की प्रेरणाओं पर विचार करने से ज्ञात होता है कि 'मैं हूँ' अर्थात् मुझे अपने अस्तित्व की रक्षा करनी है। इस भावना से प्रेरित होकर ही मनुष्य अपने जीवन-यापन के साधनों को जुटाता है, व्यवसाय या अन्य कार्य करता है। मनुष्य की आत्मा का दूसरा रूप है - 'मैं जानता हूँ'। यही भाव मनुष्य को जिज्ञासु बनाता है, जिससे मनुष्य ज्ञान-विज्ञान की ओर उन्मुख होता है। इस जिज्ञासा का उपयोग केवल अपने अस्तित्व की रक्षा के साधनों के जानने के लिए ही नहीं होना चाहिए वरन् उस परम सत्य को जानने के लिये भी करना चाहिये। तीसरा भाव है - मैं व्यक्त करता हूँ। इसे टैगोर ने ब्रह्मा के अनन्त स्वरूप के अन्तर्गत माना है। इस प्रकार टैगोर ने ब्रह्मा के तीनों रूपों के साथ मानवता के भावों को संयुक्त करके देखा है और इसलिये इन्हें इतना महत्वपूर्ण माना है।

टैगोर मानवतावादी भी थे। उन्होंने मानव को ईश्वर का रूप माना है और उसकी विभिन्न शक्तियों के सामंजस्य पूर्ण विकास का समर्थन किया है तथा मानव मानव के बीच पाये जाने वाले विभाजन की निन्दा करते हुए आपसी एकता पर बल दिया। 'टैगोर मनुष्य जीवन को इतनी प्रधानता देते है कि उनके विचार से मानवीय पद प्राप्त करने की इच्छा ईश्वर तक में रहती है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह इतनी शक्ति प्राप्त कर ले मानव रूप में ईश्वर पद प्राप्त कर ले और दिव्य मानव के स्तर तक पहुँच जाये। इस प्रकार ईश्वर की सृष्टि में टैगोर मनुष्य को सबसे ऊँचा पद प्रदान करते हैं। इस सम्बन्ध में उनका कथन है "ईश्वर के सितार में अनेक तार है - कुछ लोहे के बने हैं, कुछ ताँबे के और कुछ सोने के। मानवता ईश्वर की वीणा का स्वर्णिम तार है। "

टैगोर ने उपनिषदों का गहन अध्ययन किया था, उसी प्रकार उन्होंने बौद्ध दर्शन का गहरा अध्ययन किया। बुद्ध के मानवतावाद को उन्होंने पूर्ण रूप से अपनाया था। उन्होंने बुद्ध के जीवन से संबंधित नटीर पूजा, अभिसार, पुजारिन, चांडालिका तथा श्यामा आदि कृतियों की रचना की और बुद्ध के मानवतावाद को स्पष्ट किया। टैगोर प्रत्येक मनुष्य को समाज और राष्ट्र

के लिए उपयोगी मानते थे। अपनी एक कविता में उन्होंने लिखा है "वह पुष्प जो न खिला हो, वह नदी जो मरूस्थल में भटक गई हो, उनका भी कुछ अर्थ होता है।" इसलिए टैगोर मानव की पूर्णता एवं सर्वांगीण विकास पर विशेष बल देते है। टैगोर के अनुसार "मनुष्य. की आँखों के माध्यम से झाँककर ही ईश्वर अपना दर्शन करता है और मनुष्य के हाथों का स्पर्श पाकर ही अपनी अनुभूति प्राप्त करता है।" इस प्रकार टैगोर का मानवतावाद विश्व बन्धुत्व का पोषक है और मनुष्य की सेवा मे ही ईश्वर के दर्शन करता है।

10.4 रविन्द्रनाथ टैगोर का शिक्षा दर्शन

शिक्षा का अर्थ - टैगोर ने अपनी पुस्तक में शिक्षा शब्द को परिभाषित करते हुए लिखा है -" 'सर्वोच्च शिक्षा वही है जो सम्पूर्ण सृष्टि से हमारे जीवन का सामंजस्य स्थापित करती है। "

टैगोर का विश्वास था कि शिक्षा प्राप्त करते समय बालक को स्वतन्त्र वातावरण मिलना परम आवश्यक है। इसके लिए बालक को हर प्रकार के बन्धनों से मुक्ता रखना चाहिये। वरना वह कक्षा में डर के कारण चुपचाप बैठा रहेगा। अत: रूसो की भांति टैगोर भी प्रकृति को बालक की शिक्षा का सर्वश्रेष्ठ साधन मानते थे। उनके अनुसार बालक की शिक्षा प्राकृतिक होनी चाहिये। उसकी मात्रा तथा पाठन विधियों का प्राकृतिक होना बालक के लिए अत्यन्त लाभप्रद होता है। इस प्रकार के शैक्षिक वातावरण से बालक और प्रकृति के मध्य वास्तविक सम्पर्क स्थापित होता है जिससे बालक को प्रसन्नता तथा आनन्द का अनुभव होते हुए प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। इस सृष्टि से टैगोर ने अपनी शैक्षिक संस्था "शांति निकेतन" को नगर के कोलाहल से बहुत दूर प्रकृति की गोद मे खोला।

10.5 रविन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य

टैगोर के अनुसार शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य है :-

1. व्यक्ति का सर्वांगीण विकास

टैगोर व्यक्तित्त्व के पूर्ण विकास को शिक्षा का उद्देश्य मानते थे। वे हृदय, मस्तिष्क तथा हाथ में समन्वय लाने के पक्ष में थे। हृदय का सम्बन्ध भावनाओं और नैतिकता से है। मस्तिष्क का सम्बन्ध मानसिक और बौद्धिक विकास से है। हाथ शारीरिक विकास और हस्तकलाओं में कुशलता का द्योतक है। टैगोर के अनुसार व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास भी आवश्यक है।

2. बन्धनों से मुक्ति

रवीन्द्रनाथ टैगोर सब प्रकार के बन्धनों से मुक्ति को ही शिक्षा का उद्देश्य मानते थे। इन सब संबंधों में अज्ञान सबसे बड़ा बन्धन है। विभिन्न प्रकार की अज्ञानताओं से मनुष्य जकड़ा हुआ है। यदि उसे सच्चा ज्ञान प्राप्त हो जाए, विश्व तथा मानवता के सत्य स्वरूप का ज्ञान हो जाये तो उसके मन का द्वैत भाव नष्ट हो जाएगा और वह सच्चे आनन्द तथा सौन्दर्य की प्राप्ति कर सकता है। इसलिए "का विद्या या विमुक्तये" शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य है। इस ज्ञान से मनुष्य को कृत्रिमता, असत्य तथा अशाश्वत बन्धनों से मुक्ति मिलती है।

3. शारीरिक विकास

टैगोर के अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालक का शारीरिक विकास है। बालक का शारीरिक विकास उन स्थिति में हो सकता है जब बालक को प्रकृति के स्वतंत्र वातावरण में खेलने-कूदने, उठने-बैठने तथा अध्ययन करने की स्वतंत्रता हो। टैगोर पुस्तकीय शिक्षा की अपेक्षा शारीरिक विकास को अधिक महत्व देते हैं। इस सम्बन्ध में टैगोर ने कहा है 'पेड़ों पर चढ़ने, तालाबों में डुबकियाँ लगाने, फूलों को तोड़ने और बिखेरने तथा प्रकृति के साथ नाना प्रकार के ऊधम करने से बालकों के शरीर का विकास, मस्तिष्क को आनन्द और बचपन के स्वाभाविक आवेगों से सन्तुष्टि प्राप्त होती है। '' इससे यह स्पष्ट होता है कि टैगोर के अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य शारीरिक विकास है क्योंकि शारीरिक विकास के बिना मानसिक और बौद्धिक विकास सम्भव नहीं है।

4. वातावरण से समन्वय

टैगोर की दृष्टि में सच्ची शिक्षा वह है जो व्यक्ति के जीवन को उसके समूचे अस्तित्व और वातावरण के साथ समायोजित होने की क्षमता प्रदान करे। इसी विचारधारा से प्रभावित होकर टैगोर ने अपनी बाल्यावस्था में स्कूल जाना छोड़ दिया था। उनका विचार था कि स्कूलों में दी जाने वाली शिक्षा व्यक्ति को इस योग्य नहीं बनाती कि वह अपने अस्तित्व के साथ समन्वय कर सके। शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य यह है कि वह व्यक्ति के जीवन और चतुर्दिक संसार से सहसम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता प्रदान करें। जिससे वह वातावरण के अनुकूल अपने को समायोजित कर सके। टैगोर ने बोलपुर में स्थापित अपने स्कूल में इसी उद्देश्य से शिक्षा की व्यवस्था की। कालान्तर में यही स्कूल शान्ति निकेतन और विश्वभारती विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ।

5. बच्चे को आत्म प्रकाशन का अवसर

क्रियाओं के माध्यम से बच्चे को आत्म प्रकाशन का अवसर दिया जाना आवश्यक है। आत्म प्रकाशन की दृष्टि से हस्तकला, संगीत, चित्रकला, नृत्य कला तथा काव्य आदि विषय उपयुक्त हैं क्योंकि ये विषय बालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को अभिव्यक्त और सन्तुष्ट करने की अद्भुत क्षमता रखते हैं। बालक का विकास एक वृक्ष के समान होता है। इसलिए बचपन और प्रकृति में गहरा सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध में टैगोर ने कहा है "बच्चों में एक क्रियाशील अवचेतन मन होता है जो एक पेड़ की भाँति अपने चारों ओर के वातावरण से अपना भोजन इकट्ठा करता है। बच्चों के लिए नियमों और विधियों की तुलना में उनका वातावरण अधिक महत्वपूर्ण हुआ करता है। भवन, उपकरण, कक्षा शिक्षण तथा पाठ्यपुस्तकों की अपेक्षा वातावरण अधिक महत्वपूर्ण होता है।"

6. मानसिक विकास

शिक्षा का उद्देश्य केवल शरीर का विकास करना ही नहीं है अपितु शरीर के साथ-साथ मानसिक या बौद्धिक विकास करना भी है। पुस्तकों के माध्यम से पूर्ण मानसिक विकास नहीं होता। वास्तव में वास्तविक मानसिक विकास तो प्रकृति एवं जीवन की वास्तविक परिस्थितियों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने से होता है। इस सम्बन्ध में टैगोर ने कहा है ''पुस्तकों के बजाय

प्रत्यक्ष रूप से जीवित व्यक्तियों को जानने का प्रयास करना ही शिक्षा है। इससे जो ज्ञान प्राप्त होता है, उतना ज्ञान कक्षा में व्याख्यान सुनने से नहीं प्राप्त होता। यदि हमारे मस्तिष्क को संवेगों और कल्पना की वास्तविकता से पृथक कर दिया जाये तो वे निर्बल तथा विकृत हो जाते हैं।" बौद्धिक विकास के अन्तर्गत टैगोर चिन्तन और सृजनशीलता को भी समाविष्ट करते हैं।

7. संवेगात्मक विकास

टैगोर शरीर और मन के विकास के साथ ही संवेगों का विकास भी शिक्षा का उद्देश्य मानते हैं। उनके अनुसार संगीत, चित्रकला और काव्य आदि के द्वारा बालक को संवेगात्मक शक्ति प्रदान करनी चाहिए जिससे उनमें प्रेम, दया, सहानुभूति आदि की भावना का पोषण हो। टैगोर नैतिकता और आध्यात्मिकता को मनुष्य की उन्नति की सच्ची कसौटी मानते थे। शरीर और मन के साथ आत्मा का विकास करना, विश्व में ' सत्यम शिवम्, सुंदरम्" जैसे शाश्वत और चिरन्तन मूल्यों की साधना करना ही शिक्षा का सच्चा उद्देश्य है। अंग्रेजों द्वारा प्रारम्भ की गई शिक्षा से हम उनकी संस्कृति का अन्धानुकरण कर रहे हैं, अपनी संस्कृति, अपना दर्शन तथा अपने जीवन मूल्यों को आत्मसात करने का प्रयास किया जाना चाहिए। पाश्चात्य देशों ने विज्ञान में अभूतपूर्व तरक्की की है, उस ज्ञान को हमें भी आत्मसात् करना चाहिए परन्तु उन्हें ग्रहण करते समय अपनी भारतीयता को कभी नहीं भूलना चाहिए। हमारे पास हमारी संस्कृति और शाश्वत मूल्यों का एक अमूल्य धरोहर है, इस धरोहर के द्वारा हम विश्व का मार्गदर्शन कर सकते हैं। शिक्षा के द्वारा इस प्रकार का आत्मविश्वास पैदा किया जाना चाहिए।

8. सामाजिक विकास

टैगोर शिक्षा के माध्यम से बालक का वैयक्तिक विकास करने के साथ-साथ उसका सामाजिक विकास भी करना चाहते थे। सामाजिक विकास शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है। समाज से अलग व्यक्ति का काई अस्तित्व नहीं है। अत: शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति और समाज के बीच सामंजस्य स्थापित करे। एक ओर टैगोर प्रकृति के स्वतंत्र वातावरण में बालक को शिक्षा प्रदान करना चाहते थे, दूसरी ओर वे सामाजिक गुणों का विकास भी शिक्षा का उद्देश्य मानते थे। उनके अनुसार जो शिक्षा बालकों का सामाजिक विकास करने में असमर्थ है वह वास्तविक शिक्षा नहीं है।

9. नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास

टैगोर आध्यात्मवादी तथा नैतिकतावादी थे। अध्यात्म में उनकी गहरी आस्था थी। इसीलिये टैगोर ने शिक्षा का उद्देश्य नैतिक और आध्यात्मिक विकास माना है। नैतिकता और आध्यात्मिकता के बल पर ही व्यक्ति सच्ची प्रगति कर सकता है। उनके अनुसार "शिक्षा वह है जो बालकों में नैतिक गुणों का विकास करे। सच्ची नैतिक शिक्षा वह है जिसमें आध्यात्मिकता का पुट हो।" टैगोर का मत है कि अनौपचारिक शिक्षा द्वारा आन्तरिक शक्ति, स्वतंत्रता तथा आत्मानुशासन का विकास किया जा सकता है, मनुष्य में अनुशासन, शान्ति तथा धैर्य का होना अत्यन्त आवश्यक है। हम किसी मनुष्य को मानव इसलिए कहते हैं कि उसमें नैतिकता और आध्यात्मिकता के गुण हैं। नैतिकता के सम्बन्ध में टैगोर ने कहा है "यह सच है कि हमें

पश्चिम में विज्ञान को आत्मसात करना है परन्तु हमारे लिए यह अपमानजनक बात है कि हम अपनी नैतिक तथा बौद्धिक सम्पत्ति को भूल जाए। यह हमारी मूल्यवान धरोहर है।"

10. संयम एवं आत्मानुशासन का विकास

टैगोर भारतीय परम्पराओं, मान्यताओं एवं मूल्यों के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने शिक्षा में आत्म-संयम को विशेष महत्व दिया है और आत्मानुशासन को आवश्यक माना है। मानव के व्यक्तित्व के विकास के लिए वे ब्रह्मचर्य को अत्यन्त आवश्यक मानते थे। उनका मानना था कि इसके द्वारा मनुष्य अपने जीवन के महान लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। टैगोर के अनुसार शिक्षा शान्ति तथा स्थिरता की स्थिति में ही सम्भव है और वह सहजता से प्राप्त की जा सकती ह। हमारी प्राचीन शिक्षा-पद्धति में संयम और आत्मानुशासन पर बहुत बल दिया जाता था। टैगोर प्राचीन भारत की गुरुकुल तथा आश्रम की शिक्षा को आदर्श मानते थे। उन्होंने लिखा है "ब्रह्मचर्य का प्रयोजन विद्यार्थी को शान्ति एवं स्थिरता प्रदान करना है जिससे वह अपनी मूल प्रवृत्तियों के असामयिक तथा भावना से अपने को बचा सकें और जीवन तथा शिक्षा में निष्ठा पूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर सके। '

11. विश्व-बन्धुत्व का विकास

टैगोर संसार के सभी प्राणियों को एक ही परम पिता की सन्तान मानते थे। अत: देश, काल और परिस्थिति के कारण उनमें संघर्ष नहीं होना चाहिए। इसीलिए उन्होंने संकीर्ण राष्ट्रीयता के स्थान पर विश्व-बन्धुत्व की भावना का पोषण किया और शिक्षा के द्वारा उसका विकास करना शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य माना है। उनके विश्व-बन्धुत्व का आधार आध्यात्मिकता तथा मानवता है। मनुष्य में एक दूसरे से आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित करने की आन्तरिक प्रेरणा होती है जिससे संस्कृतियों का आदान-प्रदान होता है और अन्तर्जातीय सम्बन्ध स्थापित होते हैं। इस प्रक्रिया से सम्पूर्ण विश्व को एक सूत्र में बांधा जा सकता है। शिक्षा का कार्य है कि वह बालकों में इस प्रकार के विचारों को संस्कारित करे और उन्हें प्रेरित करे। टैगोर एक तपस्वी थे। अपने तपस्वी जीवन में उन्होंने पूर्व और पश्चिम के बीच एकता बनाए रखने का अभूतपूर्व प्रयास किया। वे चाहते थे कि पूर्व के पास जो सबसे अच्छा है, वह पश्चिम को दे और पश्चिम की अच्छी बातों को पूर्व ग्रहण करे। वे मानते थे कि जब तक पूर्व और पश्चिम की सभ्यताओं में सन्तुलित और विवेकपूर्ण समन्वय नहीं होगा तब तक विश्व-बन्धुत्व का स्वप्न साकार नहीं होगा। विश्वभारती की स्थापना इसी दृष्टिकोण से की गई। विश्वभारती के माध्यम से टैगोर ने पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों में समन्वय स्थापित करने का सफल प्रयास किया।

10.6 रविन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार पाठ्यक्रम

टैगोर के शिक्षा दर्शन के सांकेतिक शब्द - सम्पूर्णता, सम्बद्धता व समन्वय है। वह मनुष्य को पूर्ण मानव के रूप में विकसित करना चाहते हैं। वह मानव जीवन के दो पक्षों को स्वीकार करते हैं - आन्तरिक (आध्यात्मिक) तथा बाहरी (सामाजिक)। पाठ्यक्रम में इन दोनों पक्षों का समावेश होना चाहिये। मनुष्य के आन्तरिक विकास में धर्म की साधना सहायक है और सामाजिक विकास में समाज सम्बन्धी विषय - कला व विज्ञान। अत: वह पाठ्यक्रम में दोनों

प्रकार से संबंधित विषयों का समावेश चाहते है। टैगोर का मानना है कि जीवन एक समन्वय है इसलिये इन सभी में सामंजस्य होना आवश्यक है।

टैगोर के जीवन दर्शन को उपनिषद में ब्रह्म के स्वरूप की तरह तीन भागों में विभक्त किया गया है - सत्य, ज्ञान और अनन्त। ब्रह्म के इन्हीं तीनों रूपों के अनुरूप मानव-आत्मा की भी तीन दशाएँ है - 'मैं हूँ', 'मैं जानता हूँ और 'मैं व्यक्त करता हूँ'। यह तीनों रूप मिलकर मानव के पूरे रूप का परिचय देते हैं। यदि हम मानव-आत्मा की इन दिशाओं को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम को निर्धारित करें तब हम किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। अत: पाठ्यक्रम का स्वरूप निम्नलिखित है -

1. सत्य - मैं हूँ - यह ब्रह्म के सत्य स्वरूप के अन्तर्गत है, अत: ब्रह्म के इस रूप को जानने के लिये शारीरिक विज्ञान, मनोविज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, समाजशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है।
2. ज्ञान - मैं जानता हूँ - यह ब्रह्म के ज्ञान स्वरूप के अन्तर्गत है, अत: ब्रह्म के इस रूप को जानने के लिये नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, भाषा, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान आदि का अध्ययन करना अनिवार्य है।
3. अनन्त - मैं व्यक्त करता हूँ - यह ब्रह्म के अनन्त स्वरूप में अन्तर्गत है। अत: इसके लिये कला, साहित्य संगीत इत्यादि का अध्ययन अनिवार्य है।

अत: बालक के सम्पूर्ण विकास के लिये उसकी शिक्षा में इन तीनों पक्षों में से किसी की भी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये। पाठ्यक्रम को इतना व्यापक होना चाहिये कि बालक रूचि के अनुकूल विषयों का अध्ययन कर सकें। इन विषयों की सार्थकता बालक के सामाजिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के विकास में निहित है। यही कारण है कि टैगोर ने शान्ति निकेतन में 'सम्पूर्णता' के सिद्धान्त का प्रयोग किया।

10.7 अध्यापक और शिष्य

टैगोर का यह मानना है कि शिक्षा में अध्यापक का उत्तरदायित्व सबसे अधिक है। टैगोर ने लिखा कि - "शिक्षा केवल शिक्षक के द्वारा और शिक्षण विधि के द्वारा कदापि नहीं दी जा सकती है। मनुष्य केवल मनुष्य से ही सीख सकता है। " इसीलिए उसने अध्यापक में निम्नलिखित गुणों की अपेक्षाऐं की हैं :-

1. अध्यापक आत्म संयमी व त्यागी होना चाहिए क्योंकि इन्हीं गुणों के द्वारा वह छात्रों को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है।
2. अध्यापक को पूर्वग्रही, असहिष्णु, निम्न विचार वाला, अहंकारी व संकीर्ण स्वभाव का नहीं होना चाहिए।
3. उसे आलस्य और प्रमाद से दूर रहना चाहिए। उसे अपना आचरण शुद्ध रखना चाहिए। क्योंकि सात्विक आचरण द्वारा ही वह छात्रों पर शुभ प्रभाव डाल सकता है।
4. शिक्षक को बालकों पर अपने विचार लादना नहीं चाहिए। अत: बालक के स्वभाव और उसकी प्रवृत्तियों के अनुकूल शिक्षित करें।

5. वह अध्यापक सही रूप से शिक्षा नहीं दे सकता जो स्वयं भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील नहीं रहता है।
6. शिक्षक का छात्र के साथ सजीव सम्पर्क होना चाहिए। जब एक मन से दूसरे मन का सम्पर्क होता है, तभी आनन्द की उत्पत्ति होती है।

टैगोर ने न केवल शिक्षक गुणों की व्याख्या की है अपितु विद्यार्थी कैसा हो ' इस सन्दर्भ में उनका मानना है कि ब्रह्मचर्य का पालन विद्यार्थी के लिए अनिवार्य होना चाहिए। उसके अनुसार विद्यार्थी को संयमी, विलास से अलग तथा पवित्र हृदय वाला होना चाहिए। उसमें अपने लक्ष्य के प्रति निष्ठा तथा गुरू के प्रति भक्ति होनी चाहिए। इन आदर्शो को अपने सम्मुख रखकर ही विद्यार्थी मानवता के साक्षात्कार की दिशा में अग्रसर हो सकते है।

अत: टैगोर ने लिखा है कि "एक अध्यापक तब तक अपने विद्यार्थी को नहीं पढ़ा सकता जब तक कि स्वयं अध्ययनशील न हो। जैसे एक दीपक दूसरे दीपक की लौ को जब तक प्रज्जवलित नहीं कर सकता जब तक कि वह स्वयं की लौ को प्रज्जवलित नहीं रखता। "

10.8 रविन्द्रनाथ टैगोर और अनुशासन

टैगोर के अनुशासन सम्बन्धी विचार भी महत्वपूर्ण है क्योंकि वे आन्तरिक अनुशासन, स्वानुशासन या प्रभावोत्पादक अनुशासन की स्थापना करना चाहते थे। इसलिए गुरुदेव दण्ड व पुरस्कार दोनों के विरोधी है। उनका मत है कि ऐसा वातावरण बनाया जाए कि इन दोनों की आवश्यकता ही न रहे। अत: शिक्षा में बालकों को दण्ड देने की जो परिपाटी चली आ रही है, उन्होंने उसका सदैव विरोध किया। उन्होंने स्वयं अपने अनुभवों से सीखा था कि विद्यार्थी को दंड देना किसी भी दशा में उचित नहीं है। बच्चों के स्वतन्त्र विकास के पक्षपाती होने के कारण वह अपराध के लिए बालकों को दण्ड देने के पक्ष में नहीं है। उनका कथन है कि - "अपराध करना बालकों का काम है और क्षमा करना शिक्षकों का धर्म है। ' इसलिए बालक को नियन्त्रण में नहीं रखा जाए तथा अधिकारी द्वारा बालक को दबाया नहीं जाए।

उनका स्पष्टीकरण था कि मनुष्य स्वतन्त्र रहना चाहता है और अपने मार्ग में किसी भी बाधा को वह सहन नहीं करता है। उनका कहना है कि दण्ड व्यवस्था का दुष्परिणाम छात्रों के विराम व विद्रोह के रूप में देखने को मिलता है। उन्होंने जापानी समाज में प्रचलित अनुशासन की प्रशंसा की। अत: भारत में भी वह आत्मानुशासन के पक्ष में थे। इसके लिए अच्छे अध्यापक, सामाजिक वातावरण, प्रेम, सहयोग व सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार, साहित्यिक व सांस्कृतिक क्रियाओं के आयोजन तथा कार्य करने की स्वतन्त्रता पर बल देते है। उनका कहना है कि उच्च सामाजिक वातावरण में ही मनुष्य को साधना करने का अवसर मिलता है तथा वह अनुशासन में रहना सीखता है। आत्मानुशासन से बालक में स्वावलम्बन, सहयोग, उत्तरदायित्व आदि नैतिक गुणों का विकास होगा।

10.9 रविन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार धार्मिक शिक्षा

भारत के प्राचीन दार्शनिकों की भाँति टैगोर का विश्वास है कि अन्य विषयों की तरह धर्म की शिक्षा नहीं दी जा सकती है। धर्म को नपे-तुले रूप में विद्यार्थियों को ग्रहण नहीं

कराया जा सकता है। इसकी शिक्षा हेतु उपयुक्त वातावरण व धार्मिक जीवन के प्रकाश की अपेक्षा होती है। इसलिए इनका मत है कि धार्मिक शिक्षा पढ़ाए नहीं जा सकती। जो धर्म की शिक्षा दे रहे हैं वे दुनिया को गुमराह बना रहे हैं। टैगोर ने धर्म को 'परिपूर्णता व सरलता का आदर्श' माना है। लेकिन वर्तमान संसार में धर्म का प्रचलित रूप अत्यन्त जटिल हो गया है जिसके कारण संसार में शान्ति के स्थान पर अशांति धर्म के द्वारा फैल रही है। धर्म ने वर्तमान में जो विकृत रूप धारण कर रखा है उसका कारण है कि हमने धर्म को अपने अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया है। जबकि धर्म किसी स्थान विशेष, काल विशेष के अनुसार नहीं होता है। उसका रूप नहीं बदलता वरन् अमर व सनातन है और अपने इसी रूप में वह सदैव धारण करने योग्य है। अत: टैगोर का मानना है कि ब्रह्म की प्राप्ति के लिए किसी भी बाहरी आडम्बरों की जरूरत नहीं है, कोई विशेष समय छाँटने की आवश्यकता नहीं।

10.10 रविन्द्रनाथ टैगोर और शिक्षण विधि

टैगोर बालक की असीम शक्ति एवं जिज्ञासा के प्रति आस्था प्रकट करते है। वे बालक की अनन्यता में विश्वास करते हैं और कहते हैं कि प्रत्येक बालक की व्यक्तिगत भिन्नता को ध्यान में रखकर उसकी शिक्षा का प्रबन्ध किया जाये। वे बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता देने का समर्थन करते है। उनका विचार है कि बालकों में विशेष प्रकार की आदतें डालकर उन आदतों का उन्हें दास न बनाया जाये। उनका कथन है कि शिक्षण सजीव होना चाहिए। शिक्षण में सजीवता लाने के लिए बालक की रूचियों एवं संवेगों पर ही विधि आधारित हो। यही पर संवेगों पर ध्यान देना चाहिए।

शिक्षण जीवन की यथार्थ परिस्थितियों के द्वारा दिया जाना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो, इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि का शिक्षण प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा ही प्रदान किया जाये। भ्रमण, दृश्य-दर्शन आदि प्रविधियों के द्वारा शिक्षा में यथार्थ दृष्टिकोण का विकास किया जा सकता है। शिक्षण-विधि का अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्त क्रिया-सिद्धान्त है। टैगोर शरीर और मस्तिष्क की शिक्षा के लिए क्रिया को आवश्यक मानते थे। उनके अनुसार बालक को किसी हस्तकला में अवश्य प्रशिक्षित किया जाए। वे पेड़ पर चढ़ने, कूदने, बिल्ली या कुत्ते के पीछे दौड़ने, फल तोड़ने, हँसने, चिल्लाने, ताली बजाने, अभिनय करने को शिक्षण की आवश्यक प्रविधि या युक्ति के रूप में स्वीकार करते हुए दृष्टिगोचर होते है।

10.11 रविन्द्रनाथ टैगोर के शैक्षिक विचार धाराओं की विशेषताएँ

टैगोर ने अपने लेखों में तत्कालीन शिक्षण-प्रणाली की कटु आलोचना की और इसको काल्पनिक, विदेशी, पुस्तकीय एवं अनुपयुक्त कहा। वे शिक्षा को भारतीय संस्कृति पर आधारित करना चाहते थे और शिक्षा के माध्यम के रूप में उन्होंने मातृभाषा का समर्थन किया है। संगीत, अभिनय, कला आदि पर विशेष बल दिया। शिक्षा के क्षेत्र में वे भारतीय विचारधारा का समर्थन करते हुए भी मानवतावादी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास करना चाहते थे। उन्होंने प्रेम एवं सार्वभौमिकता का पाठ पढ़ाया और इन्हें उच्च शैक्षिक मूल्यों के रूप में स्वीकार किया।

टैगोर का सम्मान एक महाकवि के रूप में है। वे गीतांजलि-रचयिता एवं नोबेल पुरस्कार विजेता के रूप में भुलाए नहीं जा सकते। वे एक दार्शनिक थे। सत्यम्, शिवम् एवं अद्वैतम् के व्याख्याकार के रूप में भी वे हमारे सामने आते है। किन्तु इस महान योगदानों के अतिरिक्त भारत के लिए इनका एक और योगदान है जिसे भूलना भारतीय इतिहास के सत्य को भुला देना होगा। टैगोर एक शिक्षक के रूप में भी हमारे समक्ष आते हैं। वे 'गुरुदेव थे। गुरुदेव के रूप में उनका महान योगदान शान्ति-निकेतन प्रणाली के रूप में है। भारतीय शिक्षा में यह एक महत्वपूर्ण योगदान है - गुरुदेव के रूप में टैगोर तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली से अत्यन्त असन्तुष्ट थे। उन्होंने शिक्षा के कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया और बाद में उन्हें अपने शान्ति-निकेतन प्रयोग में शामिल किया। विश्वभारती उनकी शैक्षिक विचारधारा का व्यावहारिक रूप है। यह टैगोर के गुरूदेवत्व का प्रतीक है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि टैगोर शिक्षा के क्षेत्र में भी कोरे सिद्धान्तवादी न होकर व्यावहारिक शिक्षाशास्त्री थे। मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा की बात करके, अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध की शिक्षा पर बल देकर, वैदिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए शिक्षा की बात करके तथा अनुभव केन्द्रित पाठ्यक्रम पर बल देकर वे अपने समय की शिक्षा-प्रणाली में आमूल परिवर्तन करना चाहते थे।

10.12 रविन्द्रनाथ टैगोर के शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन

टैगोर पर रोबिन्सन क्रूसो नामक पुस्तक का गहरा प्रभाव पड़ा। वे यह भी विश्वास करते थे कि मानव तथा प्रकृति में मौलिक एकता है। वे बालक के प्राकृतिक भावो को नगरों की गन्दगी तथा अनैतिकता से दूर प्राकृतिक वातावरण मे विकसित करना चाहते थे। वे यह भी चाहते थे कि बालक की शिक्षा मानवीय आवश्यकताओं के अनुसार हो परन्तु इन सब बातों का यह अर्थ नहीं है कि महान दार्शनिक एवं शिक्षाशास्त्री टैगोर को प्रकृतिवादी की संज्ञा से अलंकृत किया जाये। टैगोर बीसवीं शताब्दी के एक महान दार्शनिक थे उनकी महानता इस बात में थी कि उन्होंने विदेशी राज्य द्वारा निर्धारित की हुई नीरस तथा निष्क्रिय शिक्षा के विरोध में अलग शिक्षा-दर्शन का विकास किया है। इस दृष्टि से हम एच.बी. मुखर्जी के शब्दों में कह सकते हैं - "टैगोर वर्तमान भारत के शैक्षिक पुनरुत्थान के सबसे बड़े पैगम्बर थे। उन्होंने देश के सम्मुख शिक्षा के सर्वोच्च आदर्शो को स्थापित करने के लिए आजीवन संघर्ष किया। उन्होंने अपनी शैक्षिक संस्थाओं मे ऐसे शैक्षिक प्रयोग किये जिन्होंने उन्हें आदर्श का सजीव प्रतीक बना दिया।"

10.13 सारांश

भ्रमण के समय पढ़ाना शिक्षण की सर्वोच्च विधि है, शिक्षा की प्रक्रिया जीवन से पूर्ण होनी चाहिए। उसे जीवन के यथार्थ पर आधारित होना चाहिए। टैगोर के अनुसार बालक का विकास उनकी रूचियों व आवेगों के अनुसार होना चाहिए। इसके लिए उसे प्रत्यक्ष स्त्रोतों से स्वतन्त्र प्रयासों द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान को अर्जित करने के अवसर मिलने परम आवश्यक है। शिक्षक को बालकों की रचनात्मक शक्तियों को उत्तेजित करना चाहिए।

10.14 मूल्यांकन प्रश्न

1. रविन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार शिक्षा के उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।
2. रविन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार शिक्षक और शिष्य के अन्तर संबंधों को स्पष्ट कीजिए।
3. रविन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार धार्मिक शिक्षा की विवेचना कीजिए।
4. रविन्द्रनाथ टैगोर के शैक्षिक विचारधाराओं की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
5. टैगोर के शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन कीजिए।

10.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. चौबे, सरयू प्रसाद व अखिलेश चौबे (2005), शिक्षा के दार्शनिक समाजशास्त्रीय आधार, इन्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ
2. सक्सेना, एन. आर. स्वरूप व के. पी. पाण्डे (2009), शिक्षा के दार्शनिक व समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, आर लाल. बुक डिपो, मेरठ

इकाई - 11

स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक विचार

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 जीवन परिचय

11.3 स्वामी विवेकानन्द का जीवन दर्शन

11.4 स्वामी विवेकानन्द का शिक्षा दर्शन

11.5 स्वामी विवेकानन्द और शिक्षा के उद्देश्य

11.6 स्वामी विवेकानन्द और पाठ्यक्रम

11.7 स्वामी' विवेकानन्द और शिक्षण विधि

11.8 स्वामी विवेकानन्द का शिक्षा के क्षेत्र में योगदान

11.9 स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व और विचारों पर प्रभाव

11.10 स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन के आध्यात्मिक और दार्शनिक आधार

11.11 स्वामी विवेकानन्द के धर्म के संदर्भ में विचार

11.12 सारांश

11.13 मूल्यांकन प्रश्न

11.14 सन्दर्भ गन्ध सूची

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययनोपरान्त विद्यार्थी :-

- स्वामी विवेकानन्द के जीवन दर्शन को जानेंगे।
- स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा दर्शन को समझेंगे।
- स्वामी विवेकानन्द के अनुसार पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि आदि को जानेंगे।
- स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन के आध्यात्मिक और दार्शनिक आधार की विवेचना कर सकेंगे।
- स्वामी विवेकानन्द के धर्म संबंधी विचारों को जान सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

स्वामी विवेकानन्द का जीवन दर्शन उनके समन्वयवादी दृष्टिकोण का द्योतक है। वे वर्तमान शिक्षा प्रणाली के कटुतम आलोचक और व्यावहारिक शिक्षा के प्रबल समर्थक हैं। उनके अनुसार स्त्री शिक्षा के केन्द्र में धार्मिक शिक्षा, चरित्र निर्माण, ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। उन्होंने भारत के जन-समुदाय की सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को निकट से देखा और समझा।

11.2 जीवन परिचय

स्वामी विवेकानन्द सन् 1863 में कलकत्ता के एक क्षत्रिय परिवार में पैदा हुए थे। सन्यासी बनने से पहले इनका नाम नरेन्द्र नाथ दत्ता था। 17 वर्ष की अवस्था में श्री रामकृष्ण परमहंस से प्रभावित हुए श्री नरेन्द्र नाथ दर्शन और कविता के अच्छे विद्यार्थी थे।

स्वामी विवेकानन्द श्री रामकृष्ण के सिद्धान्तों के लिए वही किया जो सेंटपाल ने क्राईस्ट के सिद्धान्तों के लिए किया था। उन्होंने पश्चिम को सैद्धान्तिक वेदान्त की शिक्षा दी और भारत को व्यवहारिक वेदान्त की शिक्षा दी। उन्होंने साधारण लोगों को ऊँचा, लिंग तथा उन्हें सशक्त एवं आत्मनिर्भर बनाने पर बल दिया। उन्होंने जाति, रंग, धर्म, लिंग आदि के भेदभाव के बिना सब का अनुसरण करने की शिक्षा दी। 1902 में अपनी मृत्यु तक वह बार-बार इस बात पर जोर दे रहे थे कि भारतवासी इसलिए कमजोर और गरीब हुए है क्योंकि उन्होंने जीवन में वेदान्त को व्यवहारिक रूप नहीं दिया।

11.3 स्वामी विवेकानन्द का जीवन दर्शन

1. स्वामी विवेकानन्द एक वेदान्ती के रूप में

स्वामी विवेकानन्द सच्चे वेदान्ती थे। वह वेदान्त को पूर्णरूप से अवैयक्तिक मानते थे।

2. ईश्वर सम्बन्धी धारणा

1. वह असीम अस्तित्व
2. वह असीम ज्ञान
3. वह असीम आनन्द

ईश्वर सर्वव्यापक और अरूप है। वह संसार की सभी वस्तुओं में विद्यमान है। मनुष्य भी ईश्वर का रूप है। मनुष्य की उपासना ही ईश्वर की सच्ची उपासना है।

3. मानव में विश्वास

स्वामी विवेकानन्द को मानव में गहरा विश्वास है। उन्होंने मानव की विविधता को पहचाना है। उसके कथानुसार मानव शरीर में मानव आत्मा की उपासना ही ईश्वर उपासना है।

4. धर्म की धारणा

स्वामी विवेकानन्द के विचारानुसार कोई भी धर्म दूसरे से छोटा नहीं। सभी धर्म एक ही लक्ष्य की ओर ले जाते है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही धर्म में रहना चाहिए। इनकी धर्म सम्बन्धी धारणा अत्यन्त उदार थी। उन्होंने विश्वात्मक एकता एवं सार्वजनिक धर्म की धारणा को प्रस्तुत किया।

5. पूर्णता मनुष्य की विरासत है

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार पूर्णता प्राप्त नहीं की जाती। वह तो पहले ही हम सब में विद्यमान है। अमरता और आनन्द को प्राप्त नहीं किया जाता। वे पहले से ही हमारे पास है। वे हमेशा से ही हमारे है।

6. विश्ववाद और आध्यात्मिक भ्रातृत्व में विश्वास

स्वामी विवेकानन्द ने विश्ववाद और आध्यात्मिक भ्रातृत्व पर बहुत जोर दिया। सन्यासी अपनी, आत्मा का अनुभव करने के पश्चात् समस्त प्राणियों में अपनी आत्मा से दर्शन करता है।

11.4 स्वामी विवेकानन्द का शिक्षा दर्शन

आधुनिक भारत में धार्मिक तथा सामाजिक पुनर्जागरण के मनीषियो में स्वामी विवेकानन्द का प्रमुख स्थान है। अपनी साधना अपने विचार तथा व्यक्तित्व से उन्होंने भारत ही नहीं, समस्त विश्व में प्रभावित किया। वेदान्त के आदर्शवाद से उनका जीवन और कार्य पूर्णत: प्रभावित था। शिक्षा सम्बन्धी विचारों पर वेदान्त दर्शन की छाप है।

वे वर्तमान शिक्षा प्रणाली के कटुतम आलोचक और व्यावहारिक शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। उनका कहना है कि वर्तमान शिक्षा मनुष्य को जीवन-संग्रह के लिए कटिबद्ध नहीं करती है, वरन् उसे शक्तिहीन बनाती है। इसलिए उन्होंने कहा "हमें उस शिक्षा की आवश्यकता है जिसके द्वारा चरित्र का निर्माण होता है। मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है, बुद्धि का विकास होता है और मनुष्य अपने पैरो पर खड़ा हो सकता है क्योंकि शिक्षा मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति है।"

शिक्षा की यही अभिव्यक्ति है कि प्रत्येक व्यक्ति पूर्णता का अधिकारी है। वस्तुत: प्रत्येक व्यक्ति पूर्णता की प्रक्रिया से गुजर रहा है तथा शिक्षा इस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है। स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा व्यक्ति में पहले से विद्यमान, अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति का साधन है, माध्यम है।

11.5 स्वामी विवेकानन्द और शिक्षा के उद्देश्य

विवेकानन्द ने शिक्षा का अर्थ स्पष्ट करने के लिए कहा है, "मैं किसी बात को कभी परिभाषा नहीं करता, फिर भी शिक्षा की व्याख्या शक्ति के विकास के रूप में की जा सकती है। शिक्षा मनुष्य मे निहित पूर्णता का विकास है।"

शिक्षा द्वारा मनुष्य का निर्माण किया जाता है। समस्त अध्ययनों का अन्तिम लक्ष्य मनुष्य का विकास करना है। जिस अध्ययन द्वारा मनुष्य की संकल्प-शक्ति का प्रवाह संयमित होकर प्रभावोत्पादक बन सके, उसी का नाम शिक्षा है।

उन्होंने स्वयं कहा है - मनुष्य का निर्माण केवल जानकारियों से नहीं होता है। हमें तो भावों और विचारों को ऐसा आत्मसात कर लेना चाहिए। जिसमें जीवन-निर्माण हमें मनुष्य का निर्माण और चरित्र गठन हो।

1. शारीरिक विकास

व्यक्ति का शारीरिक विकास महत्वपूर्ण उद्देश्य है। स्वामी विवेकानन्द ने अनुभव किया है कि आत्मानुभूति और चरित्र निर्माण शारीरिक विकास एवं शिक्षा के बिना असम्भव है।

2. नैतिक, आध्यात्मिक और चारित्रिक विकास

स्वामी विवेकानन्द ने इस बात पर बल दिया है कि शिक्षा का उद्देश्य नैतिक, आध्यात्मिक और चारित्रिक विकास होना चाहिए। हमारी शिक्षा जीव निर्माण, मानव निर्माण और चरित्र निर्माण होनी चाहिए। उसके विचारानुसार सच्चे मानव उत्पत्ति ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है और चरित्र ही मानव का सच्चा स्वरूप है।

3. पूर्णता प्राप्ति का उद्देश्य

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार पूर्णता की स्थिरता भी शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है। प्रत्येक बच्चे में कुछ छिपी हुई शक्तियाँ होती है। शिक्षा उन शक्तियों को विकसित करने तथा स्थिर करने में सहायता प्रदान करती है।

4. अपनी आत्मा में विश्वास और श्रद्धा को विकसित करना

स्वामी विवेकानन्द ने इस बात पर जोर दिया कि शिक्षा के द्वारा मनुष्य में अपनी आत्मा पर विश्वास उत्पन्न होना चाहिए।

5. त्याग भावना का विकास

शिक्षा को मनुष्य में त्याग भावना उत्पन्न करनी चाहिए। त्याग भावना के बिना व्यक्ति दूसरों के लिए काम नहीं कर सकता।

6. विविधता में एकता की खोज

स्वामी विवेकानन्द का विश्वास है कि विविधता में एकता की खोज करना शिक्षा का एक उद्देश्य है। उनके विचारानुसार भौतिक और आध्यात्मिक विश्व में एकता है। ब्रह्म भी एक है।

7. स्त्री शिक्षा

विवेकानन्द स्त्री शिक्षा के बड़े समर्थक थे। स्त्रियों की दुखस्था का मूल कारण उनके विचार में अशिक्षा थी। अत: नारी-उत्थान के लिए नारियों के बीच शिक्षा का प्रचार आवश्यक है। शिक्षित होने पर उनमें, आत्मोत्थान की प्रेरणा अवश्य होगी। उन्होंने जोर देकर कहा कि "पहले अपनी स्त्रियों को शिक्षित करो। तब वे तुम्हें बतायेगी कि उनके लिए कौन-कौन से सुधार आवश्यक है। उनके मामले में हस्तक्षेप का तुम्हें क्या अधिकार है ?"

11.6 स्वामी विवेकानन्द और पाठयक्रम

भारतीय संस्कृति का आधार अध्यात्म है और इससे रहित कोई पाठ्यक्रम सार्थक नहीं हो सकता, ऐसा विवेकानन्द का मानना है।

स्वामीजी के अनुसार पाठ्यक्रम में समस्त व्यावसायिक विषयों को स्थान मिलना चाहिए। शिक्षा का आधार आध्यात्मिक होना चाहिए। हमारी शिक्षा, बुद्धि और हमारे विचार पूर्णत: आध्यात्मिक है और वे सभी धर्मो में अपनी पूर्णता पाते है।

उनके अनुसार धर्म शिक्षा की आत्मा है परन्तु धर्म की उनकी परिभाषा अधिक व्यापक मानी है। स्वामीजी के अनुसार आध्यात्मिकता के साथ विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा का समन्वय करना आवश्यक है। वे पाठ्यक्रम में आध्यात्मिक विषयों के साथ-साथ लौकिक विषयों को भी स्थान देने के पक्ष में थे।

विवेकानन्द के शब्दों में "यह अधिक अच्छा रहेगा, यदि लोगों को थोड़ी तकनीकी शिक्षा मिल जाये, जिससे वे नौकरी की खोज में इधर-उधर भटकने के स्थान पर किसी कार्य में लग सके और जीविकोपार्जन कर सके इसके साथ-साथ शिक्षा को भी पाठ्यक्रम में उचित स्थान मिलना चाहिए।"

एक शिक्षा-शास्त्री की दृष्टि से स्वामी विवेकानन्द ने पाठ्यक्रम पर क्रमबद्ध विचार नहीं किया है। सम्पूर्ण जीवन करते समय उन्होंने शिक्षा पर भी यत्र-तत्र अपने मत व्यक्त किए है और शिक्षा को सम्पूर्ण जीव का एक अंग मानकर उस पर आध्यात्मिक दृष्टि से अद्भुत प्रेरणाप्रद सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। स्वामीजी के भाषणों को यदि पाठ्यक्रम की दृष्टि तो कुछ बाते स्फुट विचार के रूप में मिल जाती है :-

1. देश को सफल बनाने के लिए जिन-जिन विषयों को पढ़ाने की आवश्यकता हो, विषय अवश्य पढ़ाये जाएं।
2. पाठ्यक्रम में सत्य का समावेश होना चाहिए, सत्य आत्मा का स्वभाव है, शरीर, बुद्धि या आत्मा बनाने वाला तल सत्य नहीं होता। सत्य में जीवन शक्ति होता है, वह बलप्रद, पवित्र और ज्ञान स्वरूप होता है वह शक्ति देता है, हृदय के अन्धकार को दूर करता है। स्फूर्ति देता है, प्रकाश देता है।
3. उपनिषदों का अध्ययन भी महत्वपूर्ण है इनमें सत्य की स्थापना हुई है, भारत का दिव्य दर्शन शास्त्र फिर से पढ़ाना आवश्यक है। यह दर्शन बलप्रद आलोकप्रद एवं सत्य को प्रकाशित करने वाला है। उपनिषदों के सत्य महान है।
4. संगीत भी सीखना है, किन्तु वंशीनाद खेल और करताल से देश का कल्याण नहीं होगा। अतः नगाड़े, बिगुल आदि ओजस्वी बाजो को बजाना है। कोमल संगीत को कुछ दिनों के लिए बन्द करके ध्रुपद राग की शिक्षा देनी है।
5. विद्यालयों में किसी मत या सम्प्रदाय की शिक्षा न देकर सभी धर्मो के समस्त तत्वों की जानकारी दी जानी चाहिए। प्राचीन धर्म में नास्तिक उसे कहा गया था जो ईश्वर में विश्वास करता नहीं था।
6. हमारा पाठ्यक्रम ऐसा हो जिसमें निषेधात्मक न हो, हमें छात्रों के समक्ष विद्यालय या भावात्मक विचार रखने चाहिए, न कि निषेधात्मक।
7. नये धर्म में नास्तिक वह है जो स्वयं विश्वास नहीं करता। इसी नये धर्म को पाठ्यक्रम में स्थान मिलना चाहिए।

11.7 स्वामी विवेकानन्द और शिक्षण विधि

स्वामी विवेकानन्द के मत में ज्ञान करने की एक मात्र विधि है 'एकाग्रता'। जितनी अधिक एकाग्रता की शक्ति होगी उतना ही अधिक ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। उनके अनुसार -

1. ज्ञान को समन्वित करके प्रस्तुत करना।
2. तर्क, व्याख्यान, विचार-विमर्श तथा उपदेश-विधि द्वारा ज्ञान का अर्जन करना।
3. केन्द्रीयकरण विधि द्वारा मन को एकाग्र करना।
4. अनुकरण विधि के द्वारा छात्रों के चरित्र का विकास करना।

5. छात्रों को उचित मार्ग पर ले जाने के लिए व्यक्तिगत निर्देशन और परामर्श विधि का प्रयोग करना।

इसके अतिरिक्त स्वामीजी वेदान्त के अनुसार सीखने की प्रक्रिया को मानते है।

सुनना-मनन-निदिध्याशन विधियाँ

1. शिक्षक द्वारा व्याख्यान।
2. छात्र द्वारा स्वाध्याय।
3. अध्यापक एवं छात्र समूह में विचार विमर्श।
4. उद्योग प्रशिक्षण चित-वृत्तियों का निरोध-समाज सेवा द्वारा आत्मसात की भावना का विकास क्रिया करके सीखना एवं आचरण में लाना।
5. शिक्षक एवं माता-पिता आदि के आचरण का अनुकरण और अनुकरण द्वारा सीखना।
6. शिक्षक द्वारा-निर्देशन एवं परामर्श विधि द्वारा मार्ग-दर्शन।

11.8 स्वामी विवेकानन्द का शिक्षा के क्षेत्र में योगदान

1. भारतीय जनता तथा भारतीय शिक्षा स्वामी विवेकानन्द का ऋणी है। उन्होंने धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का शंखनाद किया। इसलिए उन्होंने शिक्षा को माध्यम बनाया।
2. उन्होंने अपने शिक्षा-दर्शन को वेदान्त के अद्वैत दर्शन से समन्वय कर शिक्षा को ठोस रूप प्रदान किया तथा भौतिकवादी प्रकृति की जगह आध्यात्मिक उन्नयन पर जोर दिया।
3. उन्होंने शिक्षा में शारीरिक विकास, मानसिक चिन्तन तथा आध्यात्मिक साधन के समन्वय पर शिक्षा को आदर्श रूप प्रदान किया।
4. उन्होंने शिक्षा के द्वारा आध्यात्मिकता के प्रसार के साथ-साथ देश प्रेम तथा अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना की आवश्यकता को बताया।
5. उन्होंने स्त्री-शिक्षा पर विशेष जोर दिया।
6. वैज्ञानिक शिक्षा के प्रति भी उनका झुकाव काफी था। उनके शिक्षा-सन्देश में दलितों शोषितों तथा उपेक्षित नारियों के प्रति शंखनाद के स्वर भी दिखाई देते है।
7. आधुनिक भारत में शिक्षा किस प्रकार की होनी चाहिए।
8. उन्होंने शिक्षा के द्वारा चरित्र-निर्माण की आवश्यकता प्रतिपादित की।

11.9 स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्त्व और विचारों पर प्रभाव

1. संस्कारों व परिवार का प्रभाव - धार्मिक अभिरूचि और आध्यात्मिक प्रश्नों के प्रति जिज्ञासा विवेकानन्द को संस्कार से ही मिली थी। विवेकानन्द की माँ धार्मिक विचारों की महिला थी। दान-पुण्य में उनकी गम्भीर रूचि थी। उनके पिता विद्वान थे तथा सामाजिक और धार्मिक विषयों में तर्कवादी और प्रगतिशील दृष्टिकोण रखते थे। धार्मिक सामाजिक आदि सभी प्रश्नों मैं तर्कसम्मत दृष्टिकोण, साहस, दीन-दुःखी लोगों के प्रति हृदय-वत्सलता आदि गुण विवेकानन्द को संस्कारों से ही प्राप्त हुए परिवार के धार्मिक, आध्यात्मिक रूचियुक्त तथा तर्कशील वातावरण ने उनके व्यक्तित्व के गुणों और विलक्षण प्रतिभा को उभारने का पूरा अवसर प्रदान किया।

2. स्वामी रामकृष्ण परमहंस - विवेकानन्द के व्यक्तित्त्व व विचारों पर सबसे महत्वपूर्ण और निर्णायक प्रभाव स्वामी रामकृष्ण परमहंस का पड़ा। श्री परमहंस के सम्पर्क में उनका पुरी तरह रूपान्तरण हो गया। आध्यात्मिक प्रश्नों के प्रति उनके मन में बचपन से ही जिज्ञासा को एक दिशा मिली। साथ ही उन्हें यह सीख भी मिली की धार्मिक प्रश्नों को जनता और देश की वास्तविक समस्याओं से अलग करके नहीं देखा जा सकता। स्वामी रामकृष्ण परमहंस के प्रभाव से ही उन्होंने देश की जनता के दुःख को दूर करने और एक निर्भीक राष्ट्र का निर्माण करने की अपनी धार्मिक साधना का ही हिस्सा मानने की सीख भी ग्रहण की।
3. अध्ययन जन्य प्रभाव - विवेकानन्द ने भारतीय शास्त्रों और पश्चिमी साहित्यों का भी व्यापक अध्ययन किया। उन्होंने विभिन्न धर्म ग्रन्थों का भी गहरा अध्ययन किया था। उनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने 'एनसाइक्लोपिडिया ब्रिटेनिका' के खण्डों को कंठस्थ कर रखा था। उन्होंने पश्चिमी आदर्शवादी दार्शनिकों हीगल और कांट के विचारो का तथा जे.एस. मिल आदि उपयोगितावादी विचारकों के ग्रन्थों का भी अध्ययन किया था। भारतीय और पश्चिमी चिन्तन के मुख्य स्त्रोतों तथा विभिन्न धर्मग्रन्थों के गहन अध्ययन के आधार पर विवेकानन्द धर्मो के तुलनात्मक अध्ययन में तो समर्थ हुए ही, सामाजिक राजनीतिक व धार्मिक प्रश्नों पर उनका दृष्टिकोण भी व्यापक हुआ।

11.10 स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन के आध्यात्मिक और दार्शनिक आधार

विवेकानन्द मूलत: राजनीतिक विचारक नहीं थे। अपने गुरू स्वामी रामकृष्ण परमहंस के निर्देशन में गूढ़ आध्यात्मिक प्रश्नों और लौकिक तथा विशुद्ध सांसारिक प्रश्नों के मध्य समन्वय करने की शिक्षा ग्रहण की थी। विवेकानन्द ने समझ लिया था कि मानव के सम्मुख उपस्थित व्यावहारिक समस्याओं की उपेक्षा करके आध्यात्मिक साधना के मार्ग पर नहीं चला जा सकता। उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि आध्यात्मिक प्रश्नों से समाधान के सूत्र मानव मात्र के प्रति करूणा और मानव के कष्टों का अन्त करने के लिए समर्पित प्रयासों के माध्यम से ही खोजे जा सकते है। इस प्रकार विवेकानन्द के सामाजिक व राजनीतिक चिन्तन की प्रेरणाएँ मुख्यत: उनके विचारो की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि और उनके धार्मिक विचारो के माध्यम से ही निर्धारित होती थी। उपनिषदों में प्रतिपादित वेदान्त दर्शन विवेकानन्द के चिन्तन का दार्शनिक आधार था। उन्होंने वेदान्त दर्शन के इस मूल वाक्य कि केवल ब्रह्म की ही सत्ता है तथा सभी प्राणियों को अन्ततः ब्रह्म में ही लीन हो जाना है को अपने चिन्तन का आधार बनाया। इसके आधार पर उन्होंने भारतीय चिन्तन परम्परा की इस विशेषता को स्पष्ट किया कि वह प्रत्येक मनुष्य में ईश्वर का वास देखती है। इस आध्यात्मिक आस्था के आधार पर वे यह व्याख्या कर सके कि वास्तव में मनुष्य की सेवा के प्रति समर्पण तथा इसके कष्टों के निराकरण के लिए सक्रिय प्रयास करके ही ईश्वर की वास्तविक आराधना की जा सकती है। प्रत्येक मनुष्य में ईश्वर के अंश को स्वीकार कर लेने के परिणामस्वरूप उनके चिन्तन में मनुष्य मात्र की समानता और मानव की गरिमा का प्रखर उद्घोष हुआ।

भारतीय दार्शनिक परम्परा की इस विशेषता का भी विवेकानन्द के राजनीतिक व सामाजिक विचारों पर व्यापक प्रभाव पड़ा कि उसमें अपने मत को ही अन्तिम सत्य मानने पर बल नहीं दिया जाता था, किन्तु उसके कारण अन्य दृष्टिकोण में सत्यांश होने की सम्भावना समाप्त नहीं होती। इस प्रकार ईश्वर के आराधक या सत्य के अनुसंधान में लगे व्यक्ति को खुले मस्तिष्क से दूसरों के दृष्टिकोण को जानने और समझने का प्रयास करना चाहिए तथा दूसरों के दृष्टिकोण को समझकर यथा-आवश्यक अपने दृष्टिकोण के दोषों का निराकरण करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। मनुष्य के अनिवार्य ईश्वरीय में विश्वास करते हुए उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला मनुष्य को परम सता के अतिरिक्त अन्य किसी भी सांसारिक सता का भय नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार अपनी आध्यात्मिक आस्था के माध्यम से उन्होंने मनुष्य की आत्मा और व्यक्तितत्व पर लगने वाले किसी भी प्रकार के प्रतिबन्धों को समाप्त किया जाना मनुष्य की नैतिक उन्नति के लिए आवश्यक बताया। इस प्रकार निर्भयता और स्वतंत्रता की उनकी आध्यात्मिक धारणाओं में राजनीतिक और सामाजिक प्रश्न सहज रूप से संबंधित हो गये।

उनके विचारों की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का ही प्रभाव है कि उन्होंने धर्म को भारत के राष्ट्रीय जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व घोषित किया। विवेकानन्द की मान्यता थी कि प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में किसी एक तत्व की प्रमुखता है। विवेकानन्द ने कहा जिस प्रकार संगीत में सहायक होते है उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में एक प्रधान तत्व होता है। अन्य सभी तत्व उसमें जुड़कर ही सार्थकता प्राप्त करते है। भारत का वह तत्व धर्म है। समाज सुधार तथा अन्य सभी पक्ष धर्म के सन्दर्भ में ही सार्थकता प्राप्त करते है। धर्म को भारत के वातावरण में सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व घोषित करके विवेकानन्द ने धार्मिक राष्ट्रवाद की धारणा का सूत्रपात किया।

11.11 स्वामी विवेकानन्द के धर्म के संदर्भ में विचार

धर्म विवेकानन्द के विचारों का केन्द्रीय तत्व है। विवेकानन्द ने धर्म और राजनीति के मध्य अनिवार्य समन्वय का समर्थन किया। विवेकानन्द का मत था कि भारत मे प्राचीनकाल से ही धर्म का राजनीतिक और सामाजिक प्रणाली से अनिवार्य सम्बन्ध रहा है उन्होंने प्रतिपादित किया कि धर्म ही वह मूल तत्व है जिस पर चलकर भारत अपनी उन्नति कर सकता है। उन्होंने कहा प्रत्येक देश के कार्य करने की अपनी शैली होती है। कुछ राजनीति के माध्यम से कार्य करते है कुछ समाज सुधारों के माध्यम से तथा कुछ अन्य तरीकों से। हमारे पास तो केवल धर्म ही वह भूमि है। जिस पर हम चल सकते है इंग्लैण्ड के निवासी धर्म को राजनीति के माध्यम से संबंध शायद अमेरिकी सामाजिक सुधारों के माध्यम से धर्म को समझते है लेकिन भारतीय लोग राजनीति को तभी समझ सकते है जबकि वह धर्म के माध्यम से की जाये। यहाँ समाजशास्त्र भी धर्म से ही उदित हुआ है। विवेकानन्द की धर्म संबंधी धारणा और राजनीति के समन्वय की आवश्यकता के संबंध में उनके विचारो के प्रमुख पक्षों को निम्नांकित रूप में सूत्रबद्ध किया जा सकता है।

1. धर्म का उद्देश्य मानव कल्याण :- स्वामी विवेकानन्द दीन-दुखियों के कष्टों के निराकरण के लिए समर्पण को धर्म की साधना का एक अनिवार्य अंग मानते थे। इस प्रकार उनके

लिए धर्म और राजनीति पृथक-पृथक नहीं थे, अपितु ईश्वर के प्रति समर्पण के ही दो अनिवार्य पक्ष थे। उन्होंने कहा धर्म का मूल उद्देश्य है - मनुष्य को सुखी करना, किन्तु दूसरे जन्म में सुखी होने के लिए इस जन्म में दुःख भोगना बुद्धिमानों का काम नहीं होगा वही मनुष्य के लिए उपयुक्त नहीं है। वे ऐसे धर्म को ही उपयोगी मानते थे, जो मानव के लिए कल्याणप्रद हो। इसी प्रकार वे राजनीति को भी तभी सार्थक मानते थे। जबकि वह धर्म के अनुरूप हो और आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करती हो।

2. धर्म की उदार व्याख्या - विवेकानन्द की धर्म की धारणा व्यापक थी। उनके मत में साम्प्रदायिकता के लिए कोई स्थान नहीं था। इसलिए वे धर्म और राजनीति के मध्य समन्वय को आवश्यक मानते हुए भी, राजनीतिक उद्देश्यों के लिए धर्म के प्रयोग को अनुचित मानते थे। वे इस आशंका के प्रति सतर्क थे कि धर्म और राजनीतिक उपकरण के रूप में प्रयोग न किया जाने लगे। उन्होंने कहा कि धर्म राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने का साधन नहीं है। अपितु स्वयं ही साध्य है। उनका स्पष्ट मत था कि धर्म राजनीतिक मन्तव्यों के अनुसार व्याख्या नहीं की जानी चाहिए। अपितु राजनैतिक क्रियाकलाप का मूल्यांकन धर्म के आधार पर किया जाना चाहिए। उन्होंने चेतावनी दी आजकल लोगों ने प्राय धर्म को सामाजिक अथवा राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के साधन के रूप में ग्रहण कर लिया है। इस सम्बन्ध में यह सावधानी रखनी चाहिए कि धर्म का उद्देश्य ही धर्म है।
3. धार्मिक सहिष्णुता और धर्म के समन्वयवादी स्वरूप पर बलः- विवेकानन्द के लिए धर्म नैतिकता का समानार्थक है तथा धर्म का मूल उद्देश्य मनुष्य को सुखी बनाना है।

विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म की सर्वोपरिता का सन्देश दिया किन्तु उन्होंने यह स्पष्ट किया कि हिन्दू धर्म के प्रति उनकी प्रशंसा के भाव में अन्य धर्मो के प्रति निन्दा या तिरस्कार का कोई भाव नहीं है। शिकागो में विश्व धर्म संसद में दिए हुए अपने पहले भाषण में उन्होंने हिन्दू धर्म को विश्व के सभी धर्मो की जननी का संज्ञा दी, किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट किया की हिन्दू धर्म की महानता उसकी सहिष्णुता, उदारता और सामंजस्य की असीम क्षमताओं में निहित है। उन्होंने धर्म के प्रति कट्टर दृष्टिकोण और मतान्धता का घोर विरोध किया। उन्होंने स्पष्ट किया कि विभिन्न सम्प्रदाय ईश्वर की प्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग है, इसलिए मूल उद्देश्य की एकता को भुलाकर विभिन्न मतमतांतरो को लेकर संघर्ष की स्थिति उचित और विवेकसम्मत नहीं है। वे अपने धर्म या सम्प्रदाय की श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए दूसरे धर्म या मत के प्रति अवहेलना का भाव रखने को उचित नहीं मानते थे। उनके अनुसार सच्चा धार्मिक दृष्टिकोण वह है जिसमें अपने धर्म की मूल मान्यताओं के प्रति निष्ठा रखकर भी दूसरे धर्मो के प्रति समान सम्मान का भाव रखा जाये तथा उनके अच्छे पक्षों को ग्रहण करने का प्रयास किया जाये। उन्होंने धार्मिक विषयों में मत-विभिन्नताओं को स्वाभाविक माना तथा यह स्पष्ट किया कि विभिन्न धर्मो के अनुयायियों को श्रेष्ठ मानकर अन्य धर्मावलम्बियों को व्यर्थ विवाद में नहीं पड़ना चाहिए। उन्होंने कहा कि यदि हर मनुष्य का एक ही धार्मिक मत हो जाये और सभी लोग एक ही मार्ग का अवलम्बन करने लग जायें तो संसार के लिए वह बुरा दिन होगा। तब तो समस्त धर्म और सारे विचार नष्ट हो जायेंगे। विभिन्नता ही जीवन का मूल सूत्र है अत: इस कारण हमें आपस में लड़ना नहीं चाहिए। हमारा झगड़ा संसार के किसी भी धर्म से

नहीं चाहे कोई काबा की और मुख करके घुटने टेक कर उपासना करे या चर्च या बौद्ध केन्द्र में। वह जाने अनजाने में एक ही परमात्मा की उपासना कर रहा है। जिस किसी मन्दिर में जाने से तुम्हें ईश्वर की उपासना करने में सहायता मिले वहीं जाकर उपासना करो परन्तु उन मार्गों पर विवाद मत करो। विवेकानन्द ने इस बात पर बल दिया कि विभिन्न धर्मो के अनेक सिद्धान्तों में भिन्नता होते हुए भी उनके कुछ सार्वभौम पक्षों को खोजा जा सकता है। उन्होंने स्पष्ट किया कि विभिन्न धर्मो में विद्यमान सार्वभौम तत्व ही मानव कल्याण का मार्ग खोल सकते है।

उन्होंने भारत जैसे देश में धर्म को राष्ट्रीय एकता के एक आधार के रूप में स्वीकार किया तथा यह स्पष्ट किया कि विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्त तथा बड़े भले ही अनेक अर्थों में भिन्न है, किन्तु धर्म के कुछ सिद्धान्त ऐसे भी है जो सभी सम्प्रदायों में मान्य है। उन्होंने धर्म के ऐसे सिद्धान्तों को खोजने और उन्हें सबके मध्यम प्रचारित करने की आवश्यकता प्रतिपादित की ताकि देश की जनता इन्हें समझे तथा जीवन में उतारे। उन्होंने यह घोषणा की कि उनका धर्म संकीर्ण मतमतांतरों की सीमा से परे मानव धर्म के आदर्श को प्रकट करता है। उन्होंने भारत में दो मुख्य धार्मिक मतों हिन्दुत्व व इस्लाम के मध्य टकराव को समाप्त करना विशेषत: आवश्यक बताया। उन्होंने कहा हम मनुष्य जाति को उस स्थान तक पहुंचाना चाहते हैं जहाँ न वेद है, न बाइबिल, न कुरान। परन्तु वेद, बाइबिल और कुरान के समन्वय से ही ऐसा हो सकता है। हिन्दुत्व और इस्लाम इन दो विशाल मतों का सामंजस्य ही हमारी मातृभूमि के लिए एकमात्र आशा है। मैं अपने मनचक्षुओं से भावी भारत की उस पूर्णावस्था को देखता हूँ जिसका इस विप्लव और संघर्ष के बाद वेदान्ति बुद्धि और इस्लामी शरीर के साथ तेजस्वी एवं अजेय रूप में उत्थान होगा।

11.12 सारांश

भारत के अतीत में अटल आस्था रखते हुए और भारत की विरासत पर गर्व करते हुए भी विवेकानन्द का जीवन की समस्याओं के प्रति आधुनिक दृष्टिकोण था और वे भारत के अतीत तथा वर्तमान के बीच एक प्रकार के संयोजक थे। उनके अनुसार बालक को इस प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे उसका चरित्र बने, बुद्धि का विकास हो, मानसिक शक्ति बढ़े और वह अपने पैरों पर खड़ा हो सके। मन के समस्त झुकावों और सभी प्रकार की प्रकृतियों का समन्वय चरित्र है।

11.13 मूल्यांकन प्रश्न

1. स्वामी विवेकानन्द के जीवन दर्शन को समझाइये?
2. स्वामी विवेकानन्द के अनुसार पाठ्यक्रम व शिक्षण विधि की विवेचना कीजिये?
3. स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा दर्शन का वर्णन करो?
4. स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन के आध्यात्मिक व दार्शनिक आधारों का वर्णन कीजिए?

11.14 सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

1. Swami Vivekanand, Education, Sri Ram Krishan Ashram, Nagpur
2. Swami Vivekanand, Complete Works, Vol.III

इकाई - 12

डॉ. राधाकृष्णन् के शैक्षिक विचार

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का जीवन परिचय

12.3 डॉ. राधाकृष्णन् की रचनाएँ

12.4 डॉ. राधाकृष्णन् के दार्शनिक विचार

12.5 डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार शिक्षा दर्शन

12.6 डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार शिक्षा व्यवस्था में शिक्षक का स्थान

12.7 डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार शिक्षा का पाठ्यक्रम

12.8 डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार शिक्षा का माध्यम

12.9 नैतिक शिक्षा

12.10 धार्मिक शिक्षा

12.11 डॉ. राधाकृष्णन् के शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन

12.12 सारांश

12.13 मूल्यांकन प्रश्न

12.14 संदर्भ ग्रंथ सूची व

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययनोपरान्त विद्यार्थी -

- डॉ. राधाकृष्णन का जीवन परिचय जान सकेंगे!
- डॉ. राधाकृष्णन की रचनाओं के बारे में जान सकेंगे।
- डॉ. राधाकृष्णन के दार्शनिक विचार को समझ सकेंगे।
- डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा दर्शन की विवेचना कर सकेंगे।
- डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा व्यवस्था में शिक्षक का स्थान को समझ सकेंगे।
- डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा का माध्यम, पाठ्यक्रम को जान सकेंगे।
- डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार नैतिक व धार्मिक शिक्षा को समझ सकेंगे।
- डॉ. राधाकृष्णन के शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन कर सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

शिक्षा एक स्वाभाविक और सहज प्रक्रिया है जो जन्म से मृत्यु तक (पर्यन्त) चलती रहती है। आयु बढ़ने के साथ-साथ बालक की आवश्यकताएं बढ़ती है और उसे पहले की अपेक्षा अधिक व्यवस्थापन क्षमता की आवश्यकता होती है। वातावरण के अनुकूल स्वयं को ढालने का प्रयास करना ही शिक्षा है। इससे बालक के स्वाभाविक विकास में सहायता मिलती है यह विकास

व्यवस्थापन की सफलता के अनुसार होता है। राधाकृष्णन के अनुसार चेतना के विकास में आत्मचेतना सर्वोच्च श्रेणी है जो एक नये स्तर की उत्पत्ति है। आत्मचेतना व्यक्ति विवेक युक्त होता है। शिक्षा से मनुष्य आत्माभिव्यक्ति की कला सीखता है।

12.2 डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन का जीवन परिचय

डॉ.राधाकृष्णन का जन्म मद्रास से लगभग 200 किमी दूर उत्तर-पश्चिम में स्थित एक छोटे से कस्बे तिरन्ताणी में हुआ था। उनके पिता का नाम सर्वपल्ली वीर रामास्वामी उप्पा तथा माता का नाम श्रीमती सीता झा था। उनके पिता स्थानीय जमींदार के कोर्ट में एक अधीनस्थ राजस्व अधिकारी थे। डी. राधाकृष्णन के पूर्वज सर्वपल्ली ग्राम में रहने से ये सर्वपल्ली कहलाने लगे।

1. प्रारम्भिक शिक्षा

डॉ. राधाकृष्णन की बचपन की शिक्षा निरूपित शहर के संवर्ग इंवेजेलिकन यूथरन मिशनरी स्कूल में हुई। मिशनरी स्कूल के शिक्षक राधाकृष्णन की प्रतिभा देखकर दंग रह गये। उन्होंने बचपन में ही बाइबिल के कई पाठ पूरी तरह से मौखिक रूप में स्मरण कर लिये उनकी इस प्रतिभा को देखकर उन्हें छात्रवृत्ति देनी शुरू हो गई थी। वेल्लोर के बोरी कॉलेज से प्रथम श्रेणी में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की।

2. उच्च शिक्षा

1906 में राधाकृष्णन ने चेन्नई के क्रिश्चियन कॉलेज से प्रथम श्रेणी से बी.ए.पास की। इसके बाद उन्होंने अपने प्रिय विषय दर्शनशास्त्र को लेकर एम.ए.पास की। एम.ए.में उन्होंने भारतीय दर्शन पर एक शोध प्रबन्ध तैयार किया जिसका नाम था - "द एथिक्स ऑफ वेदान्त एंड इट्स मेटाफिजिकल प्रीपोजिशन"

इसके बाद वह मद्रास व मैसूर विश्वविद्यालय में दर्शन के अध्यापक बने। ऑक्सफोर्ड के मैनचैस्टर कॉलेज में वे तुलनात्मक धर्म पर प्राध्यापक रहे।

सन् 1939 से 1948 तक - बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के उपकुलपति बने।

सन् 1921 से 1936 तक - कलकत्ता विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के पंचम प्रोफेसर बने।

सन् 1931 से 1939 तक - बौद्धिक सहयोग पर अन्तर्राष्ट्रीय समिति के सदस्य बने।

सन् 1946,1947,1948.1949,1950 में - यूनेस्को समिति में भारतीय प्रतिनिधि नेता बने।

सन् 1952 में - अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के सभापति, सोवियत रूस के राजदूत व भारत के उपराष्ट्रपति बने।

सन् 1948 में - भारत सरकार के विश्वविद्यालय आयोग के प्रधान बने।

सन् 1953 में - दिल्ली विश्वविद्यालय के चांसलर बने।

सन् 1956 में - बेल्जियम, पौलेण्ड, चेकोस्लोवाकिया, सोवियत संघ, बल्गरिया आदि मध्य अफ्रीका की यात्रा की। जून 18,1956 - मास्को विश्वविद्यालय का सम्मानित प्रोफेसर रहे।

अगस्त 1961 - राष्ट्रपति चुने गये।

26 जनवरी, 1956 - भारत रत्न के लिए चुने गये।

इसके अलावा भारतीय विश्वविद्यालय में इन्हें दी लिट् की उपाधियाँ दी। इसके अलावा पाश्चात्य विश्वविद्यालयों से F.R.A.S.,L.L.D.,D.C.L.,F.B.B.आदि डिग्रीयाँ प्राप्त की।

12.3 डॉ. राधाकृष्णन की रचनाएँ

डॉ. राधाकृष्णन द्वारा रचित प्रमुख ग्रंथ निम्न प्रकार है : -

1. Eastern religion and western thought
2. Religions and society
3. Education, politics and war
4. The bhagwadgita
5. Dhammapada Philosophy of Rabindranath Tagore
6. Reign of Religion in Contemporary philosophy
7. Indian Philosophy
8. The Hindu view of life
9. Idealist view of life
10. East and west in religion
11. The religion we need
12. Gautama the Buddha
13. Eastern religion and western thought
14. India and china
15. Religions and society
16. The principal Upanishads
17. Recovery of faith
18. East and west - some refractions
19. Brahma sutra

12.4 डॉ. राधाकृष्णन के दार्शनिक विचार

प्राचीन वेदान्त दर्शन का नया रूप है। वे भारत में समकालीन दर्शन में नव्य वेदान्त दार्शनिकों के वर्ग में आते हैं। डॉ. राधाकृष्णन के विचार भारतीय दर्शन पर आधारित होते हुए भी उनके विचारों में स्वतन्त्रता व नवीन दृष्टिकोण दिखलाई पड़ता है।

1. दर्शन का अर्थ

राधाकृष्णन के अनुसार भारतीय दर्शन में आत्म साक्षात्कार को ही दर्शन का उद्देश्य माना है। उनके अनुसार "बोध, चिन्तन तथा अन्तर्दृष्टि है और इसलिए दार्शनिक को तब तक शान्ति नहीं मिल सकती, जब तक वह वस्तुओं व व्यक्तियों के संसार की झांकी नहीं पा लेता जिसके द्वारा वह विविध अनुभवों को किसी न किसी उद्देश्य के अभिव्यंजक के रूप में व्याख्या कर सके।"

2. ज्ञानशास्त्रीय विचार

ज्ञानशास्त्रीय क्षेत्र में डॉ. राधाकृष्णन ने विभिन्न प्रकार के ज्ञानों का महत्व बतलाने के साथ-साथ उनकी सीमायें भी दिखलाई है। वे बुद्धि और तर्क को दार्शनिक विवेचन में आवश्यक मानते हैं। बुद्धि के द्वारा ईश्वरीय रहस्य नहीं समझा जा सकता, क्योंकि ईश्वर अपरोक्ष ज्ञान का विषय है।

राधाकृष्णन के अनुसार, ज्ञान कई प्रकार का होता है। जैसे - प्रत्यक्ष ज्ञान, प्रत्ययात्मक ज्ञान, अन्तःप्रज्ञात्मक ज्ञान इत्यादि। प्रत्यक्ष शान सबसे प्रारम्भिक स्थिति है। इसके बाद प्रत्ययात्मक ज्ञान होता है। राधाकृष्णन के शब्दों में, "अन्त: प्रज्ञात्मक ज्ञान अबौद्धिक ज्ञान नहीं है, वह असंकल्पनात्मक अवश्य है। वह न तो अमूर्त विचार और विश्लेषण है और न आकारहीन अन्धकार व आदिम इन्द्रियजन्य अनुभव है। "

3. स्प्रिट की धारणा

राधाकृष्णन के शब्दों में मूल विचार समस्त मानव प्राणियों में स्प्रिट तत्व है। इस स्प्रिट तत्व को पूरी तरह धार्मिक अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा ही जाना जा सकता है। राधाकृष्णन के अनुसार " स्प्रिट जीवन है, वस्तु नहीं, शक्ति है गतिहीनता नहीं, स्वयं अपने में और स्वयं में यथार्थ है, और आत्मगत या वस्तुगत किसी भी द्रव्य से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। "

पूर्ण ब्रह्म और ईश्वर के भेद को बताते हुए राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक में लिखा है, 'सर्वोच्च सत्ता को जब हम ब्रह्माण्ड से पृथक करके देखते है तो उसे हम पूर्ण ब्रह्म कहते है और उसे ब्रह्माण्ड से सम्बद्ध रूप में देखते हैं तो उसे ईश्वर कहते हैं।'

4. अनियतिवाद

राधाकृष्णन विज्ञान के समर्थक होते हुए भी नियतिवाद को नहीं मानते। जहाँ विज्ञान यह सिद्ध करता है कि प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है, वह उससे निश्चित रूप से यह पता नहीं चलता कि किस कारण से क्या कार्य उत्पन्न होगा। इस कारण राधाकृष्णन का मानना है कि जो जैसा करेगा वह वैसा ही भरेगा अर्थात् यह जीत-हार यथार्थ घटनाओं की नहीं बल्कि मन की हार जीत है।

5. कर्म का सिद्धान्त और स्वतंत्रता

प्राचीन भारतीय दार्शनिकों के साथ राधाकृष्णन ने मानव जीवन में कर्म के सिद्धान्त का महत्व माना है। राधाकृष्णन के अनुसार कर्म के सिद्धान्त में कहा गया है कि, "जो व्यक्ति जितनी शक्ति का प्रयोग करेगा वह उतना ही फल पायेगा। विश्व व्यक्तिगत जीवात्मा की मांग के प्रति अनुक्रिया करेगा और साथ ही उसे पूरा करेगा। प्रकृति मनुष्य की आग्रहपूर्ण पुकार का उत्तर देगी।""

6. जीव तत्व

विकास के क्रम में जड़त्व से ऊँचा तत्व जीव-तत्व है उसमें रचनात्मक शक्ति जड़त्व से अधिक स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती है। सृष्टि में चारों ओर, फैली हुई व्यवस्था, प्रगति और निरन्तर जड़त्व की तुलना में जीव-तत्व में अधिक स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। आत्मीकरण, श्वास, प्रश्वास, प्रजनन, बुद्धि और विकास जीव तत्व के लक्षण है।

7. चेतना की धारणा

विकास की परम्परा में जड़ के बाद जीव और जीव के मानस तत्व या चेतना का स्तर आता है। इस स्तर पर आत्मचेतना का नवीन गुण दिखलाई पड़ता है जो कि जड़ या जीव में नहीं दिखलाई पड़ता। इसलिए मानसिक क्रियाओं की व्याख्या भौतिक क्रियाओं के शब्दों में नहीं की जा सकती।

राधाकृष्णन के अनुसार चेतना के विकास में आत्म चेतना सर्वोच्च श्रेणी है एक नये स्तर की उत्पत्ति है। आत्म चेतन व्यक्ति विवेकयुक्त है। यह विवेक की योग्यता मानव की विशेष योग्यता है। राधाकृष्णन ने जड़त्व, जीव तत्व, चेतना व आत्म चेतना के विकास में निरन्तरता मानी है, वही प्रत्येक नये स्तर पर रचनात्मक स्वतन्त्रता भी मानी है।

8. विकासवाद

राधाकृष्णन की विकासवाद की व्याख्या बुद्धि के साथ-साथ भावनाओं को भी सन्तोष प्रदान करती है। ईश्वर जगत् की सृष्टि और पालन करने वाला ब्रह्म है। इस जगत् में मूल्यों की प्राप्ति में भाग लेते हुए मानव प्राणी ईश्वर के कार्य में भाग लेते है। मनुष्य में शरीर, मन, बुद्धि आदि विविध तत्त्वों में एकता प्राप्त करना मानव जीवन का लक्ष्य व विकासवाद का सिद्धान्त है।

12.5 डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा दर्शन

राधाकृष्णन ने शिक्षा के विभिन्न पहलुओं का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया। भारत में अनेक विश्वविद्यालयों में प्राध्यापक व कुलपति के रूप में रहते हुए उन्होंने वर्तमान भारतीय शिक्षा प्रणाली के दोषों को देखा और कहा :-

1. यह मानव आत्मा का खण्डन करती है और में सृजनशीलता को कुण्ठित करती है।
2. वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के द्वारा विद्यार्थी को यह पता नहीं चलता कि सबसे उत्तम चिन्तन क्या है ?
3. वर्तमान शिक्षा-प्रणाली स्वतंत्र चिन्तन का विकास नहीं करती है।

राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा की समुचित पद्धति को मनुष्य के सन्तुलित विकास पर जोर देना चाहिए और प्रज्ञान व ज्ञान की महता को समझना चाहिए, उसे केवल बुद्धि को शिक्षित नहीं करना चाहिए, बल्कि ज्ञान साहित्य, दर्शन व धर्म के अध्ययन से अर्जित किया जा सकता है। वह ब्रह्माण्ड के उच्चतर नियमों की व्याख्या करता है। राधाकृष्णन ने आधुनिक विद्यालयों को यन्त्रालय माना जिसमें मानव-यन्त्रों का निर्माण होता है।

राधाकृष्णन के अनुसार वास्तविक शिक्षा सम्पूर्ण मानव का निर्माण करती है। राधाकृष्णन के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्त्व साधन और अभिरूचियों मे अन्तर होता है परन्तु जो शिक्षालय केवल यन्त्रालय के समान है, वह मनुष्य की भिन्नता पर विचार नहीं करता। उसमें आत्मा के विकास या स्वतंत्र विचारो की प्रगति की कोई स्वतन्त्रता नहीं होती। इस प्रकार के अध्ययन का परिणाम अच्छा नहीं होता है। इस प्रकार आधुनिक शिक्षा मस्तिष्क को यन्त्र बना देती है और मौलिकता का विनाश कर देती है।

राधाकृष्णन के अनुसार "प्रचलित शिक्षा-पद्धति, छापाखाना, चलचित्र और बेतार के तार में साधारण व्यक्ति के मस्तिष्क को उच्छिष्टता से भर दिया है, यद्यपि युद्ध, धोखाधड़ी और व्यवहारवाद आदि बहुत-सी बातों ने उसे प्रभावित किया है। जिनका ज्ञान अधिक है वह उसे व्यक्त करने में डरते है तथा सामान्य लोगों के साथ कदम मिलाकर चलते है।"

अ. शिक्षा का अर्थ

राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा वह होनी चाहिए जो मस्तिष्क को उन्मुक्त करे, चरित्र का विकास करे, चरित्र का विकास करे, मुक्ति दें तथा विश्व बन्धुत्व की ओर ले जाए। अत: राधाकृष्णन आधुनिक शिक्षा में आमूलचूल परिवर्तन चाहते थे।

ब. शिक्षा का लक्ष्य

राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा का लक्ष्य ही जीवन का लक्ष्य है। उनके अनुसार सांसारिक आनन्द उठाना ही जीवन का लक्ष्य ना होकर आत्मा को शिक्षित करना है। राधाकृष्णन के शब्दों में "शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य यह है कि मनुष्य का चरित्र तालबद्ध होना चाहिए और उसकी आत्मा में सृजनात्मक होनी चाहिए।"

राधाकृष्णन ने शिक्षा का कोई एक लक्ष्य नहीं माना है बल्कि लक्ष्य के विषय में भी सर्वांगीण दृष्टिकोण रखा है। उनके अनुसार शिक्षा के लक्ष्य निम्न है -

(i) ज्ञान प्राप्त करना :- शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य ज्ञान देना है। मनुष्य का आध्यात्मिक विकास करके उसे विद्वान बनाना है तथा कला, साहित्य, दर्शन व विज्ञान की शिक्षा देना है।

(ii) रूपान्तरण :- राधाकृष्णन के अनुसार केवल ज्ञान कुछ नहीं है जब तक कि उसे आत्मसात् नहीं कर लिया जाये। उनके अनुसार पुस्तकों से शिक्षा ग्रहण की जा सकती है परन्तु उसे आत्मा का गहराई में नहीं उतारा जा सकता है। शिक्षा को आत्मसात् करने के लिए पूर्णतया शान्त बैठकर ज्ञान को आत्मसात् करो तथा उसका रूपान्तरण करो।

(iii) स्वतन्त्रता :- शिक्षा का लक्ष्य मानव-आत्मा की स्वतन्त्रता है। राधाकृष्णन एक मानववादी दार्शनिक थे। उनके अनुसार संसार में सबसे मूल्यवान मानव आत्मा की स्वतन्त्रता है और यह आवश्यक है कि हम मानव-आत्मा की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखे ताकि हमारी संस्कृति की वृद्धि होती रहे।

(iv) चरित्र निर्माण :- राधाकृष्णन के अनुसार किसी भी राष्ट्र का भविष्य वहां-रहने वाले नर-नारियों के चरित्र पर निर्भर है। चरित्र निर्माण शिक्षा द्वारा ही हो सकता है। उनके अनुसार यदि हम महान राष्ट्र का निर्माण करना चाहते है तो वहाँ की शिक्षा इस प्रकार की हो जिससे वहाँ के निवासियों का चरित्र बल उच्च हो।

(v) आत्माभिव्यक्ति की कला का विकास :- शिक्षा से मनुष्य आत्माभिव्यक्ति की कला सीखता है। भाषा आत्माभिव्यक्ति का एक साधन है। विभिन्न विषयों की शिक्षा देने पर आत्म प्रकाशन की कला के विकास का ध्यान रखना चाहिए। आत्म प्रकाशन के लिए अन्तर्दृष्टि अतिआवश्यक है।

(vi) अन्तर्दृष्टि का विकास :- राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा का लक्ष्य ऐसा होना चाहिए जिससे की विद्यार्थियों में अन्तर्दृष्टि का विकास हो सके। सत् व असत् तथा उचित व अनुचित का भेद कर सके।

12.6 डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा व्यवस्था में शिक्षक का स्थान

"विश्वविद्यालय ही देश के महापुरुषों का निर्माण करने वाला कारखाना है और अध्यापक उन्हें बनाने वाले कारीगर है ' - डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार विद्यालयों में योग्य शिक्षकों की नियुक्ति करना आवश्यक है क्योंकि किसी भी विद्यालय का महत्व उसके विशाल भवनों, प्रयोगशालाओं व साधनो से नहीं होता, उसका महत्व उसके योग्य शिक्षकों से होता है। राधाकृष्णन के शब्दों में "हम किस प्रकार की शिक्षा अपने युवकों को दे सकते है, यह इस बात पर निर्भर है कि हम किस प्रकार के शिक्षक प्राप्त कर -सकते हैं।" उनके अनुसार हमारे युवकों के मस्तिष्क और हृदय के निर्माण में शिक्षकों का विशिष्ट स्थान है। अत: विश्वविद्यालय के शिक्षकों को चाहिए कि वह अनुसंधान व नवयुवकों के चरित्र निर्माण दोनो का कार्य करे। अत: शिक्षकों का चुनाव करते समय बौद्धिक योग्यता के साथ-साथ अपने विषय से प्रेम को भी देखा जाना चाहिए।

12.7 डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा का पाठ्यक्रम

राधाकृष्णन ने देश की आवश्यकताओं के अनुरूप सर्वांगीण शिक्षा का समर्थन किया है वह साहित्यिक शिक्षा पर अधिक जोर न देते हुए शिक्षा के पाठ्यक्रम में दर्शनशास्त्र, अंकगणित, समाजविज्ञान, कृषि विज्ञान, अर्थशास्त्र. राजनीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, साहित्य आदि को सम्मिलित किया जाना चाहिए।

उनके अनुसार अंकगणित की सभी प्रकार के अनुसंधान में आवश्यकता पड़ती है तथा कृषि विज्ञान आदि व्यावसायिक सफलता व भौतिक समृद्धि में सहायक है तथा सामाजिक विज्ञान, मानव विकास के लक्ष्य की ओर ले जाती है तथा अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र व धर्मशास्त्र व्यक्तिगत व सामाजिक नियम बनाने में सहायता करती है।

राधाकृष्णन ने बुनियादी शिक्षा पर भी जोर दिया। विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम के निर्माण में उनका मत था कि पाठ्यक्रम में इस प्रकार की शिक्षा का समावेश होना चाहिए कि वहाँ से निकल कर स्त्री-पुरूष ईमानदारी और साहस से देश के निर्माण में भाग ले सकें।

राधाकृष्णन के अनुसार विश्वविद्यालय में विद्यार्थी केवल शिक्षा ग्रहण नहीं करता बल्कि अपने जीवन के सबसे लचीले समय में से गुजरता है तथा बहुत से परिवर्तनकारी प्रभाव जैसे मस्तिष्क का मस्तिष्क से विरोध, विचारो का आदान-प्रदान आदि डालते है इस कारण निरन्तर ऐसे युवकों की धारा प्रवाहित होनी चाहिए, जिनमें प्रेम की भावना हो तथा शिक्षा केवल बौद्धिक ही नहीं बल्कि नैतिक व आध्यात्मिक भी हो।

12.8 डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा का माध्यम

राधाकृष्णन ने भी अन्य दार्शनिकों की तरह अंग्रेजी भाषा के विरूद्ध आवाज उठायी। जबकि वह स्वयं इसमें पारंगत थे। राधाकृष्णन के अनुसार बालक के लिए मातृभाषा के द्वारा शिक्षक सबसे अधिक स्वाभाविक शिक्षण है। उनके अनुसार शिक्षा-का माध्यम प्रादेशिक भाषा में ही होना चाहिए।

राधाकृष्णन ने द्विभाषावाद का विरोध किया। उनके अनुसार यह बालक के विकास में बाधक होता है क्योंकि बालक इससे किसी भी भाषा में योग्य नहीं हो पाता है। इसके अलावा उन्होंने संस्कृत भाषा के अध्ययन पर भी जोर दिया। राधाकृष्णन प्रादेशिक भाषा और संस्कृत भाषा के अतिरिक्त एक अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिन्दी के प्रचार का भी समर्थन करते है। उन्होंने त्रिभाषीय भाषा हिन्दी, अंग्रेजी व मातृभाषा के नियम को स्वीकार किया ताकि विद्यार्थियों के ज्ञान में वृद्धि हो सके।

12.9 नैतिक शिक्षा

सभी दार्शनिकों के साथ-साथ राधाकृष्णन ने भी नैतिक शिक्षा को आवश्यक माना है। उनके अनुसार नैतिक शिक्षा संकल्प की शिक्षा है नैतिक शिक्षा से जीवन का लक्ष्य स्पष्ट होता है और जीवन का लक्ष्य स्पष्ट किए बिना जीवन अर्थपूर्ण नहीं हो सकता। किसी भी देश की महानता उसकी भौतिक सभ्यता से नहीं, किन्तु उसकी नैतिक व आध्यात्मिक प्रगति से जांची जाती है।

आजकल नैतिक शिक्षा का महत्त्व इसलिए भी बढ़ गया है कि संसार को भावी विश्व-युद्ध की विभीषिका से बचाने के लिए मानव-प्राणियों की नैतिकता ही एकमात्र आधार है। उनके अनुसार पूर्ण मनुष्य के लिए आत्मा का आनन्द व सौन्दर्य आवश्यक है जो प्रेम व आस्था तथा पुनर्जीवित मानवता के लिए कार्य करने की क्षमता से लबालब भरा हो।

12.10 धार्मिक शिक्षा

मानव जीवन में धर्म का अत्यधिक महत्व मानने के कारण राधाकृष्णन धार्मिक शिक्षा का समर्थन करते है। धार्मिक शिक्षा आध्यात्मिक दृष्टि प्रदान करना है। धर्म का ध्येय आध्यात्मिक है और केवल तात्विक विचार परिवर्तन मात्र नहीं है। राधाकृष्णन के शब्दों में "हमे वर्तमान संघर्षरत व उदीयमान मानवता के लिए एक बुद्धि-सम्मत धर्म की योजना करनी होगी। ऐसे धर्म को जो मनमाने मतवाद या हिचकिचाहट भरे निषेधों से मनुष्य की अन्तरात्मा का उपहास करने वाला न हो, ईश्वर का एक नवीन दर्शक, जिसके नाम पर हम उन आश्चर्यजनक सम्प्रदायों के विरूद्ध संघर्ष कर सकते है जो आज मनुष्यों की आत्माओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए होड़ कर रहें है।'

गीता के विषय में उन्होंने लिखा है "भगवद्गीता में सब कुछ विवेकपूर्ण, नैतिक तथा आध्यात्मिक है, मानव प्रगति के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर है तथा उसकी पूर्णता है। ' इस प्रकार की धार्मिक पुस्तक शिक्षा का आधार बन सकती है।"

12.11 डॉ. राधाकृष्णन के शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन

राधाकृष्णन के दर्शन के पीछे दी गई संक्षिप्त रूपरेखा से उसमें कुछ विशेष लक्षण या विशेषताएँ निम्नलिखित है।

1. सर्वांगीण दृष्टिकोण :- राधाकृष्णन ने दर्शन, ज्ञानशास्त्र, शिक्षा दर्शन आदि विभिन्न क्षेत्रों में राधाकृष्णन ने सर्वांगीण दृष्टिकोण अपनाया है।
2. मानव प्रकृति की सर्वांगीण धारणा - राधाकृष्णन ने मानव-प्रकृति के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला है और एक सर्वांग चित्र उपस्थित करने का प्रयास किया है। वे मनुष्य के आध्यात्मिक पहलू पर जोर देते हुए भी उसके शारीरिक और मानसिक पहलू की अवहेलना नहीं करते। उन्होंने जो आदर्श मानव का चित्र खींचा है वह सर्वांगीण आध्यात्मिक मानव है।
3. चरित्र की शिक्षा :- राधाकृष्णन शिक्षार्थियों में ऐसे चरित्र के विकास पर जोर दिया, जिससे उनमें जन तंत्रीय गुण उत्पन्न हो तथा वे देश के विकास में योगदान दे सकें।
4. समन्वयवादी दृष्टिकोण :- दर्शन, धर्म और शिक्षा में राधाकृष्णन ने समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया है। वे दर्शन, विज्ञान, धर्म सभी का महत्व दिखलाते है। उन्होंने एक ओर तकनीकी शिक्षा और दूसरी और मानविकी शिक्षा पर जोर दिया है।
5. मानववाद :- राधाकृष्णन मानववाद के जबर्दस्त समर्थक थे। वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सबसे अधिक मूल्यवान मानते थे और उसमें समाज या राज्य का हस्तक्षेप तक उचित नहीं समझते थे। उन्होंने लिखा था 'मनुष्य का व्यक्तित्व पवित्र वस्तु है। उसे यह अधिकार है कि वही अपने में अन्तिम समझा जाए और इसलिए उसे जीवन, स्वतंत्रता और अधिकार है। "

राधाकृष्णन के अनुसार समाज की रचना ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति के विकास में कम से कम बाधक हो। राधाकृष्णन के मानववाद के सम्बन्ध में निम्न विचार थे :-

"प्रजातन्त्र के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को पवित्र समझकर श्रद्धा करनी चाहिए, उसे परम सत् का साकार रूप समझना चाहिए और केवल अपने को ही परम सत् का सुरक्षा-कोष नहीं समझना चाहिए।"

राधाकृष्णन के इन शब्दों में पश्चिम के सबसे महान दार्शनिक बटूण्ट रसेल के "मानव के प्रति आस्था" के सिद्धान्त की झांकी मिलती है।

12.12 सारांश

शिक्षा और शिक्षण दोनों के उत्तरदायित्वों का निर्वहन करने के लिए सजग और क्रियाशील रहना आवश्यक है। हम मानव सभ्यता की सभी उपलब्धियों का ज्ञान शिक्षार्थी तक पहुंचाने का प्रयत्न करें। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार वास्तविक शिक्षा सम्पूर्ण मानव का निर्माण करती है इसलिए शिक्षा की समुचित पद्धति को मनुष्य के संतुलित विकास पर जोर देना चाहिए।

12.13 मूल्यांकन प्रश्न

1. डॉ. राधाकृष्णन का जीवन परिचय व रचनाएँ बताइये?

2. डॉ. राधाकृष्णन की शिक्षा दर्शन को वर्तमान प्रसंग में समझाये?
3. डॉ. राधाकृष्णन के दार्शनिक विचार को समझाइये?
4. डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा दर्शन की विवेचना कीजिए?
5. डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा व्यवस्था में शिक्षक के स्थान को स्पष्ट कीजिए?
6. डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा का माध्यम व पाठ्यक्रम का वर्णन कीजिए
7. डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार नैतिक व धार्मिक शिक्षा को समझाइये?
8. डॉ. राधाकृष्णन के शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन कीजिए?

12.14 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Chaube,S.P.(1993)Educational Philosophies in India,Vikas Pub.House,New Delhi
2. Chaube,S.P.(1956)Secondary Education for India,Atma Ram AND Sons, New Delhi
3. Mathur, S.S. (1992) A Sociological Approach of Indian Education, Vinod Pustak Mandir, Agra.

इकाई - 13

महात्मा गाँधी के शैक्षिक विचार

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 जीवन परिचय
13.3 गाँधीजी का जीवन दर्शन
13.4 गाँधीजी का शिक्षा दर्शन
13.5 शिक्षा का अर्थ
13.6 गाँधीजी के शिक्षा के उद्देश्य
13.7 गाँधीजी के शिक्षा के सिद्धान्त
13.8 गाँधीजी की शिक्षण विधि
13.9 गाँधीजी और पाठ्यक्रम
13.10 गाँधीजी और विद्यार्थी
13.11 शिक्षक शिक्षार्थी सम्बन्ध
13.12 गाँधीजी के आन्दोलन
13.13 गाँधीजी के शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन
13.14 सारांश
13.15 मूल्यांकन प्रश्न
13.16 संदर्भ ग्रंथ सूची

13.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययनोपरान्त विद्यार्थी :-

- गाँधी जी के जीवन दर्शन को जानेंगे।
- गाँधी जी का शिक्षा दर्शन समझेंगे।
- गाँधी जी के शिक्षा के सिद्धान्त जानेंगे।
- शिक्षक और शिक्षार्थी के मध्य अन्तर्सम्बन्ध को स्पष्ट कर सकेंगे।
- गाँधी जी के शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन कर सकेंगे।
- गाँधी जी के प्रमुख आन्दोलन को जानेंगे।

13.1 प्रस्तावना

शिक्षा की वर्तमान स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए शिक्षा के अतीत स्वरूप का अध्ययन करना आवश्यक है तथा शिक्षा के भावी स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भूत तथा वर्तमान दोनों परिस्थितियों का ज्ञान होना आवश्यक है। शिक्षा समाज की आवश्यकताओं, आशाओं, आकांक्षाओं तथा आदर्शों की पूर्ति का महत्वपूर्ण साधन है। आधुनिक भारत को सबसे

अधिक प्रभावित करने वाले महात्मा गांधी जी वे युगपुरूष है। जिन्हें राष्ट्रपिता के नाम से जाना जाता है। वे सच्चे अर्थों में भारतीयता के प्रतीक थे। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने स्वतन्त्रता संग्राम में सत्य और अहिंसा का नया प्रयोग किया और विश्व के सामने एक नया आदर्श रखा।

13.2 जीवन परिचय

महात्मा गांधी का पूरा नाम मोहनदास करमचन्द गांधी था। इसका जन्म 2 अक्टूबर सन् 1869 ई. को गुजरात पोरबन्दर नामक स्थान पर हुआ था। इसके पिता श्री करमचन्द गांधी राजकोट के दीवान थे। इसकी माता का नाम पुतलीबाई था। राजकोट से हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद उच्च शिक्षा प्राप्त करने ये लंदन गये। वहां से बैरिस्टरी पास करके लौटे तथा बंबई में वकालत शुरू की। इनका 13 वर्ष की आयु में कस्तुरबा से हुआ।

राष्ट्रवाद के इतिहास में प्राय: एक अकेले व्यक्ति को राष्ट्र निर्माण के साथ जोड़कर देखा जाता है। इसी दृष्टि से भारत की आजादी के साथ महात्मा गांधी को जोड़ कर देखा जाता है और उन्हें राष्ट्रपिता के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

दक्षिणी अफ्रीका काल - मोहनदास करमचन्द गांधी 20 वर्ष तक विदेश में रहने के बाद 1915 में भारत लौटे। इन वर्षा का उनका अधिकांश समय दक्षिण अफ्रीका में बीता, जहां वे इस क्षेत्र के भारतीय समुदाय के नेता बन गये। यहां उन्होंने पहली बार सत्याग्रह तकनीकी का इस्तेमाल किया। विभिन्न धर्मो के बीच सौहार्द बढ़ाने का प्रयास किया।

13.3 गाँधीजी का जीवन दर्शन

महात्मा गांधी आधुनिक राष्ट्र के जनक कहे जाते है। गांधीजी सत्य और अहिंसा के पुजारी थे। वे सत्य को सार्वभौमिक एवं परम सत्ता स्वीकार करते थे। उनके अनुसार 'सत्य' ही ब्रह्म है।

गांधीजी की विचारधारा आदर्शवादी विचारधारा से मिलती-जुलती है। उनका सम्पूर्ण जीवन सत्य के लिए एक प्रयोग था। गांधीजी कहा करते थे कि प्राय: लोग 'सत्य' से यह समझते है कि हमको सत्य भाषण करना चाहिए। सत्य केवल वाणी का ही विषय नहीं है। सत्य को विस्तृत अर्थ में ग्रहण करना चाहिए और विचार, भाषण तथा कार्य में भी सत्यता होनी चाहिए। सत्य का प्रयोग जीवन के प्रत्येक पहलू में होना चाहिए। राजनीति को भी सत्य पर आधारित होना चाहिए।

गांधीजी का कहना है कि साधारणत: सत्य का अर्थ सच बोलना मात्र ही समझा जाता है, पर मैंने विशाल अर्थ में सत्य का प्रयोग किया है। विचार में, वाणी में और आचार में सत्य का होना ही सत्य है।

यदि वे सत्य एक दूसरे को भिन्न लगे तो भी घबराने की बात नहीं। वह तो एक ही वृक्ष के विभिन्न पत्तों जैसी बात होगी। इन सबका मूल एक है। इस सत्य को प्राप्त करने के लिए उन्होंने अभ्यास और वैराग्य को अमोघ अस्त्र बताया है। जैसा भगवान कृष्ण ने गीता में बताया है।

"अथ चित्तं समाधातुं न शक्मोषिमयिस्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय।।"

इसी प्रकार अभयासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गहाते'। जहां सब वस्तुओं में आध्यात्मिक उदासीनता वैराग्य है। गांधीजी कहते हैं - सत्य की खोज सरल नहीं। इसके पीछे मर मिटना होता है। इसके साथ तपस्या होती है, आत्म कष्ट सहन की बात होती है। उसमें स्वार्थ की गंध तक नहीं होती। ऐसी नि:स्वार्थ खोज में लगा हुआ आज तक कोई भटका नहीं, भटकता भी है तो वह ठोकर खाकर सीधे रास्ते पर आ जाता है।

गांधीजी का दूसरा महामंत्र, था अहिंसा। 'अहिंसा परमोधर्म: ' कहकर प्राचीन ऋषियों ने भी अहिंसा के महत्व को स्वीकार किया था। अहिंसा केवल नकारात्मक प्रत्यय नहीं है। इसका सकारात्मक पक्ष अधिक महत्वपूर्ण है। सकारात्मक पक्ष के रूप में अहिंसा प्राणिमात्र से प्रेम करने को प्रेरणा देती है। सभी प्राणियों के प्रति दुर्भावना का अभाव तो होना ही चाहिए। हिंसा न करना अर्थात् किसी को शारीरिक एवं मानसिक चोट न पहुँचाना अहिंसा का अभावात्मक अर्थ है। इसका भावात्मक अर्थ चेतनशील वेदना है।

अहिंसा के विषय में उनका कथन है -

अहिंसा बिना सत्य की खोज असम्भव हैं, अहिंसा और सत्य ऐसे ओतप्रोत है जैसे सिक्के के दोनों रूप, उसमें किसे उल्टा कहें किसे सीधा, फिर भी अहिंसा को साधन और सत्य को साध्य मानना चाहिए। साधन अपने हाथ की बात है। सत्य परमेश्वर है।

आगे वे कहते है - अहिंसा स्थूल वस्तु नहीं है जो आज हमारी दृष्टि के सामने है। किसी को न मारना, कुविचार मात्र हिंसा है, किसी का बुरा चाहना हिंसा है। संसार के लिए जो आवश्यक वस्तु है उस पर अधिकार रखना भी हिंसा है। अहिंसा पालने वाले को सार्वभौम प्रेम पैदा करने की पहली सीढ़ी के रूप में मनुष्यों के क्रोध-द्वेषादि को सहन कर उन्हें जीतने का प्रयत्न करना है। गांधीजी अहिंसा को साधन एवं सत्य को साध्य के रूप में देखते थे। उनका कहना था कि उपयुक्त साध्य की प्राप्ति के लिए साधन की उपयुक्तता भी आवश्यक है। अपवित्र साधन से पवित्र साध्य प्राप्त नहीं हो सकता। अत: उनका कहना था कि साधन और साध्य समान रूप से महत्वपूर्ण है। सत्य की प्राप्ति अहिंसा के द्वारा होती है। व्यवहारिक रूप में दोनों एक ही है।

13.4 गाँधीजी का शिक्षा दर्शन

महात्मा गांधी ने शिक्षा पर कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। जिससे उनके शिक्षा संबंधी विचारों की व्यवस्थित रूप से जानकारी नहीं मिलती है। उन्होंने समय-समय पर अपने विचार सभाओं में तथा 'हरिजन' के अनेक लेखों में व्यक्त किये। गांधीजी का शिक्षा-दर्शन उनके जीवन-दर्शन के अनुरूप ही है। उनका जीवन-दर्शन कर्मयोग का पर्याय है। वह भारतीय परम्परा के बिल्कुल अनुकूल जीवन के परम लक्ष्य-मुक्ति में विश्वास रखते हैं तथा कर्मयोग की साधना के द्वारा उसकी प्राप्ति पर बल देते है। गांधीजी के लिये सत्य ही ईश्वर है और अहिंसा कर्मयोग की साधना। संसार के अधिकांश लोग इन्हें एक महान राजनीतिज्ञ ही मानते हैं लेकिन उन्होंने

राजनीतिक क्रान्ति के साथ-साथ सामाजिक क्रान्ति को भी जन्म दिया, जिसमें शिक्षा का प्रमुख स्थान था। उनकी बुनियादी शिक्षा योजना उनके शिक्षा-दर्शन का मूर्त रूप थी। इस शिक्षा का लक्ष्य भारतीय जनता के हृदय तथा मन को पवित्र करके एक शोषण-विहीन समाज की स्थापना करना था। इस दृष्टि से गाँधीजी एक महान शिक्षाशास्त्री भी थे।

13.5 शिक्षा का अर्थ शिक्षा

शब्द को परिभाषित करते हुए गाँधीजी ने स्वयं लिखा है - "शिक्षा से मेरा तात्पर्य है - बालक और मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा में पाये जाने वाले सर्वोत्तम गुणों का चहुँमुखी विकास। "

गांधी जी के अनुसार 'साक्षरता न तो शिक्षा का अन्त है और न ही प्रारम्भ। वरन् यह तो शिक्षा का महत्वपूर्ण साधन है, जिसके द्वारा स्त्री-पुरुष शिक्षा प्राप्त कर सकते है। किन्तु साक्षरता पूर्ण शिक्षा नहीं है। उनका विश्वास था कि शिक्षा को बालक की समस्त शक्तियों का विकास करना चाहिए, जिससे वह पूर्ण मानव बन जाये। पूर्ण मानव का अर्थ बालक के व्यक्तित्त्व के चारों तत्त्वों - शरीर, हृदय, मन तथा आत्मा के समुचित विकास से है। इस प्रकार गाँधीजी के अनुसार शिक्षा को बालक के शारीरिक, मानसिक अथवा बौद्धिक एवं आध्यात्मिक गुणों को उत्तेजित करके उसका समुचित विकास करना चाहिये जिससे वह जीवन के अन्तिम लक्ष्य सत्य को प्राप्त कर सके।

13.6 गाँधीजी के शिक्षा के उद्देश्य

गाँधी जी ने शिक्षा के उद्देश्यों को निम्नलिखित दो भागों में विभाजित किया है :- (अ) शिक्षा के तात्कालिक उद्देश्य(ब) शिक्षा का सर्वोच्च उद्देश्य।

(अ) गाँधी जी की शिक्षा के तात्कालिक उद्देश्य

गाँधी जी की शिक्षा के तात्कालिक उद्देश्य निम्नलिखित है :-

1. जीविकोपार्जन का उद्देश्य

गांधीजी चाहते थे कि प्रत्येक बालक नियमित शिक्षा प्राप्त करे, किसी व्यवसाय के द्वारा अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर सके। अत: उन्होंने आत्म-निर्भर शिक्षा पर बल देते हुए बताया कि शिक्षा का प्रथम उद्देश्य जीविकोपार्जन होना चाहिए। जिससे प्रत्येक बालक अपने भावी जीवन में स्वावलम्बी बन जाये। शिक्षा के इस उद्देश्य से गांधीजी का तात्पर्य बालकों को मजदूर बनाना न था। वे यह चाहते थे कि प्रत्येक बालक कमाते हुए कुछ सीखे और सीखते हुए कुछ कमाये।

2. सांस्कृतिक उद्देश्य

गांधीजी चाहते थे कि शिक्षा को भारतीय संस्कृति का विकास करना चाहिये। अत: उन्होंने जीविकोपार्जन के उद्देश्य के साथ-साथ सांस्कृतिक उद्देश्य को भी भारतीय शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य माना और कहा - "मैं शिक्षा के सांस्कृतिक पक्ष को उसके साहित्यिक पक्ष से

अधिक महत्वपूर्ण समझता हूँ। संस्कृति शिक्षा का आधार तथा विशेषता है। अत: मानव के प्रत्येक व्यवहार पर संस्कृति की छाप होनी चाहिए। '

3. पूर्ण विकास का उद्देश्य

गांधीजी ने इस बात पर भी बल दिया कि शिक्षा को बालक की समस्त शक्तियों का सामंजस्यपूर्ण विकास करना चाहिये। अत: उन्होंने पूर्ण विकास के उद्देश्य पर बल देते हुए 11 सितम्बर सन् 1937 ई. को अपनी 'हरिजन' नामक पत्रिका में लिखा - "सच्ची शिक्षा वह है जिसके द्वारा बालकों के शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास को प्रोत्साहन मिले। "

4. नैतिक अथवा चारित्रिक विकास

प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री हरबर्ट की भांति गांधीजी का भी विश्वास था कि शिक्षा के उद्देश्यों में चरित्र निर्माण एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी आत्म-कथा में लिखा है - "मैंने सदैव हृदय की संस्कृति अथवा चरित्र निर्माण को प्रथम स्थान दिया है तथा चरित्र-निर्माण को शिक्षा का उचित आधार माना है। "

5. मुक्ति का उद्देश्य

गांधी जी का आदर्श था - 'सा विद्या या विमुक्तये। इस आदर्श के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को मुक्ति दिलाना है। मुक्ति शब्द के विषय में गांधीजी ने दो अर्थ लिये। पहले अर्थ में मुक्ति का तात्पर्य है - वर्तमान जीवन की सभी प्रकार की आर्थिक, राजनीतिक तथा मानसिक दासता से मुक्ति। गांधीजी चाहते थे कि शिक्षा मानव को उक्त सभी प्रकार की दासता से मुक्ति दिलाये। दूसरे अर्थ के अनुसार मुक्ति का तात्पर्य है - आत्मा के सांसारिक बन्धनों से मुक्ति अर्थात् मानव में उच्चतर आत्मिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा उत्पन्न करना। संक्षेप में, गांधीजी शिक्षा के द्वारा आत्म विकास के लिये आध्यात्मिक स्वतन्त्रता दिलाना चाहते थे।

(ब) शिक्षा का सर्वोच्च उद्देश्य

गांधीजी के अनुसार शिक्षा का सर्वोच्च उद्देश्य हे - सत्य अथवा ईश्वर की प्राप्ति। शिक्षा के सारे उद्देश्य इस उद्देश्य के अधीन हैं। यह उद्देश्य वही आत्मानुभूति का उद्देश्य है जो भारतीय दर्शन में प्राचीनकाल से ही चला आ रहा है। इस उद्देश्य के अनुसार गांधीजी बालक को सत्य अथवा ईश्वर के साथ साक्षात्कार कराना चाहते थे। उन्होंने लिखा है - "आत्मा का विकास करना चरित्र का निर्माण करना है तथा व्यक्ति को ईश्वर और आत्मानुभूति के लिये प्रयास करने के योग्य बनाना है।"

13.7 गाँधीजी के शिक्षा के सिद्धान्त

गाँधीजी के शिक्षा-दर्शन का गहराई से अध्ययन करते हैं तो विदित होता है कि उनकी शिक्षा के कुछ मूलभूत सिद्धान्त अवश्य थे, उनमें से कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का वर्णन यहाँ पर किया जा रहा है :-

1. जीवन दर्शन का गतिशील पक्ष शिक्षा-दर्शन

गांधीजी का शिक्षा-दर्शन उनके जीवन-दर्शन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। गांधीजी ने अपने जीवन में सत्य, अहिंसा, सेवा व त्याग जैसी भावनाओं को साकार रूप दिया। अत:

गांधीजी राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और आध्यात्मिक सभी प्रकार की उन्नति का आधार एक मात्र शिक्षा को ही मानते थे। उनका कहना था कि इन सबकी प्राप्ति शिक्षा द्वारा ही संभव है!

2. व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास

गांधीजी शिक्षा को व्यक्तित्त्व के सर्वांगीण विकास का साधन मानते थे। गांधीजी के अनुसार वास्तविक शिक्षा वह है जो शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक आदि सभी प्रकार के विकास में सहायक होती है। शिक्षा के द्वारा बालक-बालिकाओं में अन्तर्निहित गुणों व शक्तियों का

3. स्वावलम्बन की भावना

शिक्षा बालक में स्वावलम्बन की भावना जाग्रत करे। शिक्षा द्वारा बालक जीविकोपार्जन आत्म निर्भरता की ओर उन्मुख हो। इसके लिए विद्यालयों में व्यावसायिक पाठ्यक्रमों का आयोजन करना चाहिए।

4. अनुभवपूर्ण ज्ञान

विद्यालयों में बालकों को जो भी ज्ञान प्रदान किया जाए, वह कोरे सिद्धान्तों पर आधारित न होकर उनको नये-नये अनुभव दे तथा उन्हें व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करें।

5. सामाजिक वातावरण के अनुरूप शिक्षा

बालक समाज का अभिन्न सदस्य है और विद्यालय सामाजिक संस्था है। बड़ा होकर बालक समाज का उपयोगी सदस्य बने। इसके लिए शिक्षा द्वारा बालक का समाजीकरण करना आवश्यक है। अत: विद्यालयों में ऐसी शिक्षा दी जाये जो बालक को सामाजिक वातावरण के अनुरूप शिक्षा प्रदान कर सकें।

13.8 गाँधीजी की शिक्षण विधि

गाँधीजी ने जिस नवीन शिक्षा-योजना का विचार जनता के समक्ष रखा उनमें शिक्षण--विधि नितान्त नवीन है। प्रचलित शिक्षण-विधि में अध्यापक एवं छात्र में कोई सम्पर्क नहीं रहता। अध्यापक व्याख्यान देकर चला जाता है। छात्र निष्क्रिय श्रोता के रूप में बैठे रहते है। इस प्रकार की दोषपूर्ण शिक्षण-पद्धति के विपरीत गांधीजी ऐसी शिक्षण प्रक्रिया को लाना चाहते थे। जिसमें छात्र और शिक्षक के बीच की खाई बम हो और छात्र निष्क्रिय श्रोता के रूप में न होकर सक्रिय अनुसंधानकर्ता, निरीक्षणकर्ता एवं प्रयोगकर्ता के रूप में हो।

शिक्षण विधि में गांधीजी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन चाहते थे। इस परिवर्तन की दिशा में वे पहली बात यह चाहते थे कि शिक्षण का माध्यम मातृभाषा हो। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात वे यह चाहते थे कि शिक्षण पुस्तकीय न होकर क्राफ्ट-केन्द्रित हो। क्राफ्ट को वे केवल मनोरंजन का साधन न मानकर चरित्र-निर्माण का भी साधन मानते थे। इस क्राफ्ट-केन्द्रित शिक्षा के द्वारा वे बालकों को हाथों की शिक्षा देना चाहते थे। क्राफ्ट-केन्द्रित शिक्षण-विधि में क्रिया एवं अनुभव पर बल है। इस प्रकार की शिक्षण-पद्धति की आवश्यक प्रविधि है - समन्वय। विभिन्न विषयों की

शिक्षा पृथक विषय के रूप में न होकर समन्वित ज्ञान के रूप में होगी। क्राफ्ट शिक्षण का केन्द्र बिन्दु होगा और सभी विषय क्राफ्ट से समन्वित किए जायेंगे।

गांधीजी ने शिक्षा की जो नवीन योजना भारत के समक्ष रखी उसमें श्रम को आध्यात्मिक एवं नैतिक महत्व प्रदान किया गया है। वे शिल्प के द्वारा बालक को गीता में वर्णित निष्काम कर्म के महत्व से परिचित करना चाहते थे और देश की गरीबी को दूर करने के लिए शिक्षा में आमूल परिवर्तन कराना चाहते थे। उनके इसी प्रकार के चिन्तन एवं ट्राल्सवाल में टॉल्सटाय फार्म पर किए गए उनके प्रयोगों के परिणामस्वरूप शिल्प-केन्द्रित शिक्षा का उदय हुआ।

13.9 गाँधीजी और पाठ्यक्रम

गाँधीजी की शिक्षा योजना को बेसिक शिक्षा की संज्ञा दी जाती है। इस शिक्षा का पाठ्यक्रम क्रिया-प्रधान है तथा इसका उद्देश्य बालक को कार्य, प्रयोग एवं खोज के द्वारा उसकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करना है जिससे वह आत्मनिर्भर रहते हुए समाज का उपयोगी अंग बन जाये। गांधी जी ने अपने क्रिया-प्रधान पाठ्यक्रम में मातृभाषा, बेसिक क्राफ्ट, गणित, समाज-शास्त्र, सामान्य-विज्ञान, कला तथा संगीत आदि विषयों को प्रमुख स्थान दिया। उन्होंने बताया कि पहली कक्षा से लेकर पाँचवीं कक्षा तक के सभी बालक तथा बालिकाओं के लिए एक सा पाठ्यक्रम होना चाहिये। इसके पश्चात् बालकों को बेसिक क्राफ्ट की तथा बालिकाओं को गृह-विज्ञान की शिक्षा मिलनी परम आवश्यक है। ध्यान देने की बात है कि गाँधी जी की शिक्षा योजना प्राथमिक एवं लघु माध्यमिक कक्षा स्तर तक ही सीमित है। इस दृष्टि से उनके द्वारा संगठित किया हुआ पाठ्यक्रम भी केवल इसी स्तर के लिए है।

13.10 गाँधीजी और विद्यार्थी

गाँधीजी ने बालक की आरम्भिक शिक्षा को अधिक महत्व दिया है। यह शिक्षा बालक को परिवार के अन्तर्गत मिलती है। उनके अनुसार पहले पांच वर्षो में बच्चे को जो शिक्षा मिलती है वह फिर कभी मिलता ही नहीं है। इसलिये उनका मानना है कि - "जिन संस्कारों का विकास बालक में पांच वर्ष तक किया जाता है। उन सभी संस्कारों का विकास आगे चलकर सौ अध्यापक मिलकर भी नहीं कर पाते हैं। " अत: बालक के भली-भांति पालन-पोषण के लिये, उसके स्वास्थ्य एवं स्वस्थ मानसिक विकास के लिये माता-पिता को शिशुपालन आदि का ज्ञान होना आवश्यक है। बालक को एक आदर्श बालक बनने के लिये स्वयं माता-पिता को अपने चरित्र एवं आदर्श का उचित विचार रखना चाहिये।

गाँधी जी विद्यार्थी में शुद्ध मन के निर्माण के लिये सात्विक भोजन पर बल देते है। ब्रह्मचर्य के पालन के लिये इन्द्रिय पर नियन्त्रण प्राप्त करना आवश्यक है। सात्विक भोजन, व्रत, उपवास आदि से मानसिक विकार शान्त हो जाते है। 'जैसा अन्न वैसा मन' इस कहावत में बहुत तथ्य है। मनुष्य अपने ऊपर नियन्त्रण प्राप्त करने की भावना से ही गाँधीजी ने 'सात्विक भोजन' के साथ-साथ प्राकृतिक उपचार के सिद्धान्त पर भी बल दिया है। क्योंकि उनका मानना है कि कोई भी व्यक्ति अपने ही दोषों के कारण बीमार पड़ता है।

गांधी जी आत्म-नियन्त्रण अथवा आत्म-शुद्धि के लिये प्रत्येक विद्यार्थी के लिये प्रार्थना करना आवश्यक समझते है। अत: प्रत्येक व्यक्ति के लिये प्रतिदिन प्रार्थना करना अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने आश्रमवासियों को एक पत्र में लिखा था कि - प्रार्थना छूट जाये तो मनुष्य को भारी दुःख होना चाहिये। खाना छूटे, पर प्रार्थना न छूटे। क्योंकि खाना छोड़ना कितनी ही बार लाभदायक होता है, प्रार्थना का छूट जाना कभी भी लाभदायक हो ही नहीं सकता। प्रार्थना मन लगाकर की जानी चाहिये। गाँधी जी व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार की प्रार्थना में विश्वास करते है। इसलिये उनका कहना है कि बालक जब समझने लगे तो माता को चाहिये कि वह तुरन्त बालक को प्रार्थना करना सिखा दे।

13.11 शिक्षक शिक्षार्थी सम्बन्ध

गाँधीजी बाल-केन्द्रित शिक्षा में विश्वास करते थे। अत: उनका कथन था कि शिक्षक को बालक का मित्र परामर्शदाता और पथ प्रदर्शक होना चाहिये। मैत्रीपूर्ण ढंग से बालक के मनोभावों के प्रतिक्रिया करनी चाहिये। उसे बालक चिन्ताओं के प्रति उदासीन न होकर, उसे उनसे मुक्त होने का परामर्श देना चाहिये उसे बालक की समस्याओं को सुलझाने में पथ-प्रदर्शक का कार्य करना चाहिये।

गांधी जी वेतन तथा अध्यापन कार्य को एक दूसरे के साथ जोड़ना उचित नहीं समझते थे। शिक्षक वेतन के लिए कार्य नहीं करता। यदि वह वेतन के साथ को जोड़ दे तो अध्यापन कार्य हो ही नहीं सकता। अध्यापन कार्य में समर्पण चाहिए। गांधीजी ने लिखा हे - "अध्यापक का कार्य कक्षा की अपेक्षा बाहर अधिक है। इस मजदूरी वाली जिन्दगी में जहाँ वेतन के लिए अध्यापक काम करते हैं, उनके पास कक्षा के बाहर छात्रों को समय देने के लिए अवकाश नहीं है। आज विद्यार्थी के जीवन एवं चरित्र निर्माण में यही सबसे बड़ी बाधा है। परन्तु जब तक कक्षा के बाहर अपना सब समय छात्रों को नहीं दिया जाता तब तक बहुत कुछ नहीं हो सकता। उनके मस्तिष्क का निर्माण करने की अपेक्षा उनका हृदय निर्माण करने का प्रयत्न करना आवश्यक है। अपने शब्दकोष से निराशा एवं कुण्ठाजनक शब्द निकल जाने चाहिए।"

13.12 गाँधीजी के आन्दोलन

भारत लौटने के बाद गांधीजी ने प्रारम्भ में कई सत्याग्रह किए जिनका विवरण इस प्रकार है -

1. चम्पारन सत्याग्रह

गांधीजी ने अपना प्रथम सत्याग्रह 1917 में बिहार के चम्पारन नामक स्थान पर किया। वहां पर जो किसान नील की खेती करते थे उन पर यूरोपीय निहले बहुत अत्याचार करते थे। उन्हें अपनी पैदावार अंग्रेजों द्वारा तय दर पर बेचनी पड़ती थी तथा अपनी जमीन के काफी बड़े भाग पर नील की खेती करने के लिए मजबूर किया जाता था। उन किसानों ने गांधीजी को अपनी समस्या बताई। गांधीजी ने किसानों की समस्या की जांच की इस पर क्रोधित होकर सरकार ने उन्हें चम्पारन छोड़ने की आज्ञा दी परन्तु गांधीजी वहीं डटे रहे और मुकदमे व सजा का सामना करने को तैयार हो गए। अन्त में विवश होकर सरकार को अपना आदेश वापस लेना

पड़ा तथा किसानों की दशा की जांच करने हेतु एक समिति बना दी। गांधीजी भी उसके सदस्य थे। किसानों की शिकायतों को दूर करने हेतु कदम उठाये गये। इस तरह यह सत्याग्रह सफल रहा।

2. खेड़ा सत्याग्रह -

1918 में गुजरात के खेड़ा जिले में फसल खराब होने से किसानों की हालत खराब हो गई। किसानों ने लगान देने से मना कर दिया। गांधीजी ने उनकी बात का समर्थन किया। इस संघर्ष में सरदार बल्लभ भाई पटेल ने सक्रिय भूमिका निभाई। यहां भी सरकार को झुकना पड़ा और यह निर्णय लिया गया कि जो किसान लगान देने में सक्षम है उन्हें ही जमा कराने का आदेश दें। अत: कुछ समय बाद यह आन्दोलन खत्म हो गया। इस आन्दोलन का लाभ यह हुआ कि गांधीजी को एक कर्मठ और समर्पित अनुयायी मिल गया।

3. अहमदाबाद के मिल मजदूरों का संघर्ष

1918 में अहमदाबाद के कपड़ा मिल मजदूरों ने अपने वेतन को बढ़वाने के लिए मिल मालिकों से कहा, लेकिन मिल मालिकों ने मना कर दिया। इस पर मजदूरों ने हड़ताल कर दी। मिल मालिक किसी भी प्रकार के समझौते के लिए तैयार नहीं हुए। गांधीजी ने झगड़ा निपटाने का प्रयास किया। उन्होंने मिल मजदूरों की मांग को जायज बताया। साथ ही उन्होंने मजदूरों से किसी भी प्रकार की हिंसा न करने को कहा। स्वयं गांधीजी ने आमरण अनशन शुरू कर दिया। चौथे दिन मिले मालिकों ने उनकी बात मान ली। गांधीजी ने अपना अनशन समाप्त कर दिया तथा हड़ताल भी खत्म हो गई। उपरोक्त आन्दोलनों में सहयोग करने के कारण गांधीजी भारत के राजनीतिक आकाश पर छा गये और एक जन नेता के रूप में प्रतिष्ठित हो गए। उन्होंने जनता को अहिंसक ढंग से अपनी बात मनवाने का सन्देश दिया। यह राजनीतिक में एक अनोखा प्रयोग था। जिसको दबाव की राजनीति भी कहा जा सकता है।

4. रालेट एक्ट के विरूद्ध सत्याग्रह

1919 में औपनिवेशिक सरकार ने गांधीजी की झोली में एक ऐसा मुद्दा डाल दिया जिससे वे कही अधिक विस्तृत आन्दोलन खड़ा कर सकते है। प्रथम विश्व युद्ध (1914- 1918) के दौरान अंग्रेजों ने रालेट एक्ट द्वारा प्रेस पर प्रतिबन्ध लगाया तथा बिना जांच के कारावास की अनुमति दे दी थी। गांधीजी ने रालेट एक्ट के विरूद्ध सत्याग्रह शुरू कर दिया। रालेट एक्ट के विरूद्ध किए गए सत्याग्रह से गांधीजी एक राष्ट्रीय नेता बन गए थे। उनकी सफलता से प्रोत्साहित होकर गांधीजी ने ब्रिटिश शासन के विरूद्ध एक बड़ा आन्दोलन चलाने का निश्चय किया। 13 अप्रैल 1919 को अमृतसर के जलियांवाला बाग में जनरल डायर द्वारा भयंकर जनसंहार किया गया।

5. असहयोग आन्दोलन

गांधीजी को यह आशा थी कि असहयोग को खिलाफत के साथ मिलाने से भारत के दो प्रमुख धार्मिक समुदाय हिन्दू और मुसलमान मिलकर औपनिवेशिक शासन का अन्त कर देंगे। छात्रों ने सरकार द्वारा चलाए जाने वाले स्कूल कॉलेजो का बहिष्कार कर, वकीलों ने अदालत में जाना छोड़ दिया। कस्बों, नगरों और शहरों में मजदूरों ने हड़ताल कर दी। सरकारी आकड़े बताते

है कि 1921 में 396 हड़तालें हुई और इससे 70 लाख कार्य दिवसों का नुकसान हुआ। इस हड़ताल में 8 लाख मजदूर शामिल थे। चौरी-चौरा काण्ड और असहयोग आन्दोलन का अन्त फरवरी 1922 में संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के गोरखपुर जिले में स्थित एक पुलिस चौकी को आग लगा दी गई, जिसमें करीब 20 पुलिसकर्मी जलकर मर गए। आन्दोलन हिंसक हो जाने के कारण गांधीजी ने इसे वापस ले लिया। आन्दोलन के दौरान हजारों भारतीय को जेल में डाल दिया गया। स्वयं गांधीजी को मार्च 1922 में राजद्रोह के आरोप में गिरता कर लिया गया। गांधीजी को 6 वर्ष की सजा दी गई।

6. राष्ट्रीय आन्दोलन को जन आन्दोलन में परिणत करना

1922 तक गांधीजी ने भारतीय राष्ट्रवाद को एकदम बदल दिया था। इस प्रकार फरवरी 1916 में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में अपने भाषण में किए वायदे को उन्होंने पूरा किया। अब यह व्यवसायियों और बुद्धि जीवियों का आन्दोलन न रहकर हजारों श्रमिकों, कारीगरों, किसानों और आम जनता का आन्दोलन बन गया था। उनमें से कई लोग गांधीजी के प्रति आदर प्रकट करते हुए उन्हें महात्मा कहने लगे गांधीजी साधारण वेशभूषा धारण करते है। उन्होंने पारंपरिक जाति व्यवस्था में प्रचलित मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम की दीवार तोड़ने में मदद की।

7. किसानों के उद्धारक

गांधीजी भारतीय किसान के लिए उद्धारक के समान थे। लोग उन्हें जीवन में दमनात्मक अधिकारियों से सुरक्षा करने वाले, ऊँची दरों के कर से मुक्ति वाले और मान-मर्यादा की स्वायत्तता दिलाने वाले थे।

गांधी व उनके अनुयायी नेता 1917 से 1922 के बीच भारतीयों ने एक बहुत ही प्रतिभाशाली वर्ग ने स्वयं को गांधीजी से जोड़ लिया था। इनमें महादेव भाई देसाई, वल्लभ भाई पटेल, जे.बी. कृपलानी, सुभाषचन्द्र बोस, अबुल कलाम आजाद, जवाहरलाल नेहरू शामिल थे।

8. समाज सुधार के रूप में गांधीजी

1924 में जेल से रिहा होने के बाद उन्होंने अपना ध्यान खादी को बढ़ावा देने तथा छुआछूत जैसी सामाजिक बुराइयों को मिटाने तथा बाल विवाह को रोकने में लगाया। उन्होंने हिन्दू मुसलमानों के बीच सौहार्द पर बल दिया। विदेशों से आशातित वस्त्रों को पहनने के स्थान पर खादी पहनने की महत्ता पर जोर दिया। साइमन कमीशन के विरूद्ध आन्दोलन - असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के कई वर्षो तक गांधीजी ने अपने को समाज सुधार कार्यों में केन्द्रित रखा। 1927 में साइमन कमीशन के विरूद्ध होने वाले आन्दोलन तथा बारडोली में किसानों के सत्याग्रह में स्वयं भाग न लेकर दोनों को केवल अपना आशीर्वाद दिया था।

लाहौर अधिवेशन और पूर्व स्वराज की घोषणा - 1929 में दिसम्बर के अन्त में लाहौर में कांग्रेस ने अपना वार्षिक अधिवेशन किया। इस अधिवेशन की दो बाते मुख्य थी - एक तो जवाहरलाल नेहरू द्वारा अध्यक्षता करना और भारत को पूर्ण स्वराज अथवा पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा करना। अब राजनीति ने फिर एक नवीन गति पकड़ ली थी। 26 फरवरी 1930 को

देशभर में राष्ट्रीय ध्वज फहराकर और देश भक्ति के गीत गाकर औपनिवेशिक भारत में प्रथम स्वतंत्रता दिवस मनाया गया जो हर 26 जनवरी के दिन प्रतिवर्ष 1947 तक मनाया जाता रहा।

9. दाण्डी यात्रा

स्वतंत्रता दिवस मनाए जाने के तुरन्त बाद महात्मा गांधी ने एक घोषणा की, कि वे ब्रिटिश भारत के सबसे अधिक घृणित कानूनों में से एक, जिसने नमक के उत्पादन और विक्रम पर राज्य के एकाधिकार दे दिया है तो तोड़ने के लिए एक यात्रा का नेतृत्व करेंगे। प्रत्येक भारतीय के घर में नमक का प्रयोग अपरिहार्य था, उसके बावजूद उन्हें नमक बनाने से रोका गया, नमक कानून को निशाना बनाकर गांधीजी ब्रिटिश शासन के खिलाफ व्यापक असंतोष को संघटित करने की सोच रहे थे।

10. मुट्ठी भर नमक

अधिकांश भारतीयों को गांधीजी की इस चुनौती का महत्व समझ में आ गया था, लेकिन ब्रिटिश नहीं समझ सका। अपनी दाण्डी यात्रा की सूचना गांधीजी ने लार्ड इरविन को दे दी थी। लेकिन उनकी समझ में बात नहीं आई। 12 मार्च 1930 को गांधीजी ने साबरमती आश्रम से अपनी यात्रा शुरू की। तीन हफ्ते बाद समुद्र किनारे पहुंचकर उन्होंने एक मुट्ठीभर नमक बनाकर कानून को तोड़ा और स्वयं को कानून की निगाह में अपराधी बना दिया।

11. स्वराज्य की सीढ़ियाँ

बसना नायक गांव में गांधीजी ने ऊंची जाति वालो को संबोधित करते हुए कहा था यदि आप स्वराज्य के हक में आवाज उठाते है तो आपको अछूतों की सेवा करनी पड़ेगी। सिर्फ नमक कर या अन्य करो के खत्म हो जाने से आपको स्वराज नहीं मिल जायेगा। स्वराज के लिए आपकी अपनी उन गलतियों का प्रायश्चित करना होगा जो आपने अछूतों के साथ की है। स्वराज के लिए हिन्दू, मुसलमान, पारसी और सिख सबको एकजुट होना पड़ेगा। ये स्वराज की सीढ़ियाँ है।

12. नमक यात्रा

यही वह घटना थी जिसके चलते महात्मा गांधी दुनिया की नजर मे आए। इस यात्रा को यूरोप और अमेरिकी प्रेस ने व्यापक महत्ता दी। यह पहली गतिविधि थी जिसमें औरतों ने बढ़-चढ़कर भाग लिया, समाजवादी कार्यकर्ता कमला देवी चट्टोपाध्याय ने गांधीजी को समझाया कि वे अपने आन्दोलनों को पुरुषों तक ही सीमित न रखे। कमला देवी खुद उन असंख्य और तो में से एक थी जिन्होंने नमक या शराब कानून को तोड़ते हुए सामूहिक गिर तारी दी।

तीसरा और संभवतः सबसे महत्वपूर्ण कारण यह था कि नमक यात्रा के कारण अंग्रेजों को यह अहसास हुआ था कि अब उनका राज बहुत दिन तक नहीं टिक पाएगा और उन्हें भारतीयों को भी सत्ता में हिस्सा देना पड़ेगा।

13. गोलमेज सम्मेलन

पहला गोलमेज सम्मेलन नवम्बर 1930 में लन्दन में आयोजित किया गया जिसमें देश के प्रमुख नेता शामिल नहीं हुए (2) दूसरा गोलमेज सम्मेलन दिसम्बर 1931 में लन्दन में आयोजित हुआ जिसमें गांधीजी शामिल हुए लेकिन यह सम्मेलन सफल नहीं हुआ।

14. गवर्मेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट

1935 में गवर्मेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट में सीमित प्रतिनिधिक शासन व्यवस्था का आश्वासन व्यक्त किया गया। दो साल बाद सीमित मताधिकार के आधार पर हुए चुनावों में कांग्रेस को जबरदस्त सफलता मिली। 11 में से 8 प्रान्तों में कांग्रेस के प्रधानमंत्री सत्ता में आए जो ब्रिटिश गवर्नर की देखरेख में काम करते थे।

15. पाकिस्तान की मांग

मार्च 1940 में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के नाम से पृथक राष्ट्र की स्थापना का प्रस्ताव पारित किया और उसे अपना लक्ष्य घोषित कर दिया। अब राजनीतिक दृश्य काफी जटिल हो गया था। यह संघर्ष भारतीय बनाम ब्रिटिश न रहकर, कांग्रेस मुस्लिम लीग और ब्रिटिश शासन के बीच शुरू हो गया।

16. भारत छोड़ो आन्दोलन

क्रिप्स मिशन की विफलता के बाद महात्मा गांधी ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ अपना तीसरा बड़ा आन्दोलन छोड़ने का फैसला लिया। अगस्त 1942 में शुरू हुए इस आन्दोलन को अंग्रेजों भारत छोड़ो का नाम दिया गया था। हालांकि गांधीजी फौरन गिरफ्तार कर लिए गए, लेकिन युवा कार्यकर्ता देश में हड़तालों और तोड़फोड़ के जरिए आन्दोलन चलाते रहे। भारत छोड़ो आन्दोलन सही मायने में जन आन्दोलन था, जिसमें लाखों आम हिन्दुस्तानी शामिल थे। इस आन्दोलन ने युवा वर्ग की बड़ी तादाद में अपनी तरफ आकर्षित किया। उन्होंने अपने कॉलेज छोड़कर जेल का रास्ता अपनाया मुस्लिम लीग पंजाब व सिन्ध में अपना प्रभाव बढ़ाने में सक्रिय हुई।

13.13 गाँधीजी के शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन

गांधीजी की शिक्षा के क्षेत्र में अद्‌वितीय देन है। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारतीय जीवन को दृष्टि में रखते हुए वातावरण के अनुसार ऐसी शिक्षा योजना प्रस्तुत की जिसको कार्य रूप में परिणत करने से भारतीय समाज में एक नया जीवन आने की सम्भावना है। उनके शिक्षा-दर्शन का अध्ययन करने से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि गांधीजी हृदय से आदर्शवादी थे। वे अपने आदर्शों को वास्तविक तथा लाभप्रद एवं फलदायक बनाना चाहते थे। अत: उनके शिक्षा-दर्शन में प्रकृतिवाद, आदर्शवाद तथा प्रयोजनवाद की झलक स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। ध्यान देने की बात है कि उनके शिक्षा-दर्शन में उक्त तीनों विचारधाराओं में कोई विरोध नहीं है अपितु वे एक-दूसरे की पूरक हैं। आदर्शवाद गांधी दर्शन का आधार है तथा प्रकृतिवाद एवं प्रयोजनवाद उसके सहायक हैं। गांधीजी के शिक्षा- दर्शन को हम आदर्शवादी इसलिये कह सकते हैं क्योंकि वह जीवन के अन्तिम लक्ष्य सत्य को प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान करता है, प्रकृतिवादी इसलिये कह सकते है क्योंकि वह बालक को उसकी प्रकृति के अनुसार विकसित करना चाहता है तथा प्रयोजनवादी इसलिए कह सकते हैं क्योंकि वह बालक को उसकी रूचि के अनुसार क्रिया करके सीखने पर बल देता है, जिससे पाठ्यक्रम के सभी विषयों में समन्वय तथा एकीकरण स्थापित हो सके। डी. एम. एस. पटेल ने भी इसी आशय की पुष्टि करते हुए उनके

शिक्षा-दर्शन में प्रकृतिवाद, आदर्शवाद और प्रयोजनवाद की मुख्य प्रवृत्तियाँ अलग और स्वतन्त्र नहीं हैं, वरन् वे सब मिलजुलकर एक हो गई हैं, जिन से ऐसे शिक्षा-दर्शन का जन्म हुआ है जो आज की आवश्यकताओं के लिये उपयुक्त होगा तथा मानव आत्मा की सर्वोच्च आकांक्षाओं को सन्तुष्ट करेगा।

13.14 सारांश

महात्मा गांधी जी का शिक्षा के क्षेत्र में अद्‌वितीय देन है वह पहले शिक्षाशास्त्री थे, जिन्होंने भारतीय जीवन को ध्यान में रखते हुए वातावरण के अनुसार ऐसी शिक्षा योजना प्रस्तुत की जिसको कार्यरूप में परिणत करने में भारतीय समाज में एक नये जीवन की गुंजाइश है। वे हृदय से आदर्शवादी थे उन्होंने अपने आदर्शों को वास्तविक तथा लाभप्रद बनाने का प्रयास किया। उनके शिक्षा दर्शन में प्रकृतिवाद, आदर्शवाद तथा प्रयोजनवाद तीनों विचार धाराओं में समन्वय था। गांधीजी की मूल अनुशंसा यह है कि हर व्यक्ति को पूर्णत: समान समझा जाये।

13.15 मूल्यांकन प्रश्न

1. महात्मा गांधी जी के शिक्षा दर्शन को समझाये?
2. गांधीजी के अनुसार शिक्षक और शिक्षार्थी के मध्य अन्तर संबंध को स्पष्ट कीजिये?
3. गांधीजी के शिक्षा सिद्धान्तों का वर्णन कीजिये?

13.16 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. सक्सेना, नवरतन स्वरूप (2001), शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक सिद्धान्त, आर.लाल. बुक डिपो, मेरठ
2. सरयू प्रसाद (2002), शिक्षा के दार्शनिक, ऐतिहासिक व समाजशास्त्रीय आधार, इन्टरनेशनल पब्लिशिंग हाऊस, मेरठ
3. पाण्डे, रामशकल (1999) शिक्षा दर्शन, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा

इकाई - 14

श्री अरविन्द के शैक्षिक विचार

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 श्री अरविन्द का जीवन परिचय

14.2 श्री अरविन्द के दार्शनिक विचार

14.3 श्री अरविन्द का शैक्षिक चिन्तन

- 14.3.1 शिक्षा का सम्प्रत्यय
- 14.3.2 शिक्षा के उद्देश्य
- 14.3.3 पाठ्यचर्या
- 14.3.4 शिक्षण गतिविधियाँ
- 14.3.5 अनुशासन
- 14.3.6 शिक्षक
- 14.3.7 विद्यार्थी
- 14.3.8 विद्यालय

14.4 शिक्षा के अन्य पक्ष

14.5 श्री अरविन्द के शैक्षिक दर्शन का, मूल्यांकन

14.6 सारांश

14.7 मूल्यांकन प्रश्न

14.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- श्री अरविन्द के जीवन से परिचय पा सकेंगे।
- श्री अरविन्द के दार्शनिक विचारों से अवगत हो सकेंगे।
- श्री अरविन्द के शैक्षिक चिन्तन से अवगत हो सकेंगे।
- श्री अरविन्द द्वारा बताये गये शिक्षा के सम्प्रत्यय को समझ सकेंगे।
- श्री अरविन्द द्वारा सुझाये गये शिक्षा के उद्देश्यों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- श्री अरविन्द द्वारा बताई गई पाठ्यचर्या की तत्कालीन परिस्थितियों में विवेचना कर सकेंगे।
- श्री अरविन्द द्वारा सुझाई गई शिक्षण विधियों का कक्षा में प्रयोग कर सकेंगे।
- श्री अरविन्द द्वारा स्थापित किये गये विद्यालयों के स्वरूप का वर्तमान परिस्थितियों में मूल्यांकन कर सकेंगे।
- श्री अरविन्द की शिक्षक और विद्यार्थी से अपेक्षाओं का अध्ययन कर सकेंगे।
- श्री अरविन्द द्वारा बताये गये अनुशासन के नियमों का अनुसरण कर सकेंगे।

- श्री अरविन्द के शैक्षिक दर्शन का मूल्यांकन कर सकेंगे।

14.1 श्री अरविन्द का जीवन परिचय

श्री अरविन्द के प्रमुख क्षेत्र दर्शन एवं अध्यात्म रहे। उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय (1915-1950) आध्यात्मिक साधना में लगाया। जीवन के प्रारम्भिक (21) वर्ष (1872 से 1893) तक पाश्चात्य भौतिकतावादी वातावरण में पले, बढ़े, शिक्षित हुए इस महान व्यक्तित्व को भौतिकता आकृष्ट नहीं कर सकी। आई.सी.एस. में चुने जाने पर भी, इस पद का कार्यभार न सम्भालना और बड़ौदा के गायकवाड़ के यहाँ कार्य संभालना, इनके इस रुझान का स्पष्ट प्रमाण है। बड़ौदा की सीमायें लांघकर भी श्री अरविन्द राष्ट्रीय रंगमंच पर आए। (1905) के बंग-भंग की घटना ने इनके हृदय को आन्दोलित किया और ये राजनीति में कूद पड़े। 'वन्दे मातरम' 'कर्म योगिन', 'धर्म' आदि समाचार पत्रों एवं अपने जोशीले भाषणों के माध्यम से इन्होंने देश में राष्ट्रीय भावना को जागृत करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया तथा राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली कैसी होनी चाहिए, इस पर इन्होंने अपने सुस्पष्ट विचार रखे। दस वर्ष तक (1905-1915) राजनीति के क्षेत्र में प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष काम करने के बाद श्री अरविन्द अपने मुख्य क्षेत्र अध्यात्म में चले गए और जीवनपर्यन्त इसी क्षेत्र में निरत रहे। पाण्डिचेरी में इन्होंने आश्रम की स्थापना की, जो कि श्री अरविन्द आश्रम के नाम से विख्यात है। इस आश्रम की स्थापना में इन्होंने अपने दर्शन के अनुसार 'शिक्षा' के स्वरूप को एक व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया। बाद में इस शिक्षा संस्थान को विश्वविद्यालय का दर्जा प्राप्त हुआ और यह उनकी शिक्षा का मूर्त उदाहरण है। इस तरह श्री अरविन्द ने न केवल शिक्षा के क्षेत्र में सैद्धान्तिक योगदान दिया, अपितु उसका व्यावहारिक नमूना भी देश के सामने प्रस्तुत किया।

14.2 श्री अरविन्द के दार्शनिक विचार

श्री अरविन्द के जीवन दर्शन पर वेद, उपनिषद एवं गीता का प्रमुख प्रभाव रहा। इनके अनुसार आत्मा एवं प्रकृति दोनों ही सत्य हैं। प्रकृति प्राण-शक्ति को जन्म देती है। प्राण शक्ति से मन उच्च स्तरीय है। मन अपने से उच्च स्तरीय अतिमन की ओर जाता है और उच्चतर का यह क्रम सच्चिदानन्द (सत चित आनन्द) की प्राप्ति तक जारी रहता है। मानव-जीवन का लक्ष्य दिव्य शक्ति अथवा पूर्ण एवं अखण्ड चेतना को प्राप्त करना है। विकास के इस क्रम में मनुष्य अति मानसिक स्तर प्राप्त करके स्वयं अति मानव बन जाता है और इस स्थिति में उसे वास्तविक सुख का आनन्द प्राप्त होता है और उसे सत्यता पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

संक्षेप में, श्री अरविन्द के जीवन दर्शन को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है -

तत्व मीमांसा

1. आत्मा एवं प्रकृति दोनों ही सत्य है।
2. ईश्वर सत्ता एवं क्रिया दोनों में अतीत है।
3. परम सत्ता चेतना है। यह सत्+चित+आनन्द युक्त होने से सच्चिदानन्द स्वरूप है।

4. मनुष्य को शिक्षा द्वारा अपने द्रव्य एवं ज्ञान स्वरूप को ज्ञात करना चाहिए और इसके बाद अतिमानस, आनन्द, चित्त और सत् का ज्ञान कराना चाहिए। इन सबके लिए स्वस्थ शरीर, निर्मल मन, और संयमी जीवन आवश्यक समझते थे।
5. सृष्टि-क्रम में विकास प्रकृति से शुरु होता है। उससे मन और प्राण का विकास होता है। प्राण, चित् में विकसित होता है। यही मूल सृजक शक्ति है।
6. जीवात्मा का शरीर धारण करना अनिवार्य है। यही जन्म है। जन्म कर्म के फल से नियन्त्रित होता है।
7. मानव के मन, शरीर और आत्मा के दो-दो रूप है - स्थूल और सूक्ष्म। सूक्ष्म रूप ही यथार्थ है। सूक्ष्म आत्मा ही चैत्य पुरुष है। चैत्य पुरुष के दो पक्ष है - जीवात्मा, परमात्मा का अंश, चित-आत्मा - यह जीवात्मा का सहायक एवं उससे निम्न स्तर का है। यह चित्त, आत्मा पर मन से चेतना प्राप्त कर सच्चिदानन्द की प्राप्ति करती है।
8. अतिमन ही अरविन्द के दर्शन का केन्द्र-बिन्दु है। अतिमन मनुष्य के साधारण मन और सच्चिदानन्द के बीच की कड़ी है। यह चेतना-शक्ति की ही शक्ति है - अतः सत्य है। मन, अतिमन का ही निम्न रूप है और सच्चिदानन्द की ओर उन्मुख होने पर अति मन में बदल जाता है।

ज्ञान मीमांसा

श्री अरविन्द के अनुसार ज्ञान के तीन रूप है - (1) पूर्ण ज्ञान, (2) अल्प ज्ञान, (3) ज्ञान का अभाव। प्रयोग की दृष्टि से इन्होंने ज्ञान को दो भागों में बांटा है - द्रव्य ज्ञान और आत्म ज्ञान। द्रव्य ज्ञान (जगत ज्ञान) को ये साधारण ज्ञान मानते थे और आत्म ज्ञान को उच्च ज्ञान। इनकी दृष्टि से वस्तु जगत का ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ओर आत्म ज्ञान अन्तःकरण द्वारा होता है। इसके लिए मनुष्य का आचरण शुद्ध होना चाहिए।

मूल्य मीमांसा

नैतिक सत्य का चरम स्वभाव नहीं है। मानव नैतिक लोक में विचरण नहीं करता है। नैतिकता, सच्चिदानन्द की ओर गति में विकास का एक स्तर है। इसके लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान और समाधि के महत्व को स्वीकार किया। यह सब मनुष्य के आचरण के अंग होने चाहिए।

सुख और दुःख परम सुख के सकारात्मक एवं नकारात्मक पक्ष है। सुख और दुःख की सत्ता, आत्मा के जगत से संपर्क के कारण ही है। सुख को दुःख और दुःख को सुख मानना मनुष्य के हाथ की बात है।

14.3 श्री अरविन्द का शैक्षिक चिन्तन

श्री अरविन्द एक दार्शनिक के रूप में अधिक विख्यात हैं, परन्तु अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को मनुष्य जीवन में उतारने के लिए इन्हें एक विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता अनुभव हुई। उधर राष्ट्रोत्थान के लिए भी तत्कालीन शिक्षा उपयुक्त नहीं थी। इसलिए इन्होंने शिक्षा की एक राष्ट्रीय योजना प्रस्तुत की। इनके शिक्षा सम्बन्धी ये विचार मुख्य रूप से इनकी दो पुस्तकों - 'नेशनल सिस्टम ऑफ एजूकेशन' और 'ऑन एजूकेशन' में प्रकट हुए है।

14.3.1 शिक्षा का सम्प्रत्यय

श्री अरविन्द का विश्वास था कि मनुष्य द्रव्य और प्राण की अवस्था को पार कर मानस की स्थिति में होता है; जन्म के बाद उसे अतिमानस की अवस्था, उससे आनन्द, आनन्द से चित्त और चित् से सत् की अवस्था पर पहुँचना होता है। अब यदि हम उसे इस विकास की ओर अग्रसर करना चाहें तो हमें उसे ऐसी शिक्षा देनी होगी कि वह अपने द्रव्य, प्राण एवं मानस स्वरूप को जाने और उससे आगे के स्वरूप एवं उनकी ओर बढ़ने की विधियों को जाने। श्री अरविन्द के अनुसार यह सब कार्य शिक्षा द्वारा ही किया जा सकता है। एक ऐसी शिक्षा द्वारा जो मनुष्य का भौतिक, प्राणिक, मानसिक, अन्तरात्मिक और आध्यात्मिक विकास करे। ऐसी शिक्षा को ये संपूर्ण शिक्षा कहते थे। इनके शब्दों में - 'शिक्षा मानव के मस्तिष्क और आत्मा की शक्तियों का निर्माण करती है और उसमें ज्ञान, चरित्र और संस्कृति को जागृत करती है'।

14.3.2 शिक्षा के उद्देश्य

श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षा के दो मुख्य कार्य हैं - पहला कार्य है मनुष्य को उसके अपने विकास क्रम (आध्यात्मिकता) का स्पष्ट ज्ञान कराना और दूसरा कार्य है उसमें सत् तक पहुँचने की शक्ति का विकास करना। श्री अरविन्द ने शिक्षा के उद्देश्यों को इसी विकास क्रम में प्रस्तुत किया है।

1. भौतिक विकास का उद्देश्य - इस जगत एवं मानव विकास का प्रथम सोपान द्रव्य (जड़) है। श्री अरविन्द शिक्षा द्वारा मनुष्य को सर्वप्रथम पंच महाभूतों से बने इस वस्तु जगत एवं उसके स्वयं के भौतिक स्वरूप के बारे में ज्ञान करा देना चाहते थे और उसे अपने शरीर की रक्षा एवं विकास की क्रियाओं में प्रशिक्षित करा देना चाहते थे। इसे ही दूसरे शब्दों में शारीरिक विकास का उद्देश्य कहते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार सत्-चित्त-आनन्द की प्राप्ति भी स्वस्थ शरीर से ही होती है इसलिए शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य शारीरिक विकास होना चाहिए। मनुष्य को अपने द्रव्य स्वरूप की रक्षा के लिए रोटी, कपड़ा और मकान की आवश्यकता होती है। अत: शिक्षा द्वारा उसे किसी व्यवसाय अथवा उद्योग का प्रशिक्षण भी दिया जाना चाहिए। इसे ही दूसरे शब्दों में व्यावसायिक विकास कहते हैं। श्री अरविन्द यह भी जानते थे कि मनुष्य अपने इस भौतिक जीवन को समाज में रहकर जीता है। इसलिये ये उसके सामाजिक विकास पर भी बल देते थे और इन सबको मनुष्य के भौतिक विकास के अन्तर्गत रखते थे।
2. मानव विकास का उद्देश्य - मानव विकास का दूसरा सोपान है प्राण। प्राण का अर्थ उस शक्ति से है जिसके कारण जगत में परिवर्तन होता है। श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षा का दूसरा उद्देश्य इस प्राण शक्ति का विकास होना चाहिए। इनके अनुसार मनुष्य की प्राण शक्ति को सही दिशा में लगाने के लिये यह आवश्यक है कि उसका नैतिक एवं चारित्रिक विकास किया जाए और, उसकी इच्छा शक्ति को दृढ़ किया जाए। यह विकास तभी संभव है जब इन्द्रियों को असत् से सत् मार्ग की ओर लगा दिया जाए। अत: इन्द्रियों का प्रशिक्षण शिक्षा का दूसरा उद्देश्य होना चाहिए। इसके लिये ये स्नायु शुद्धि, मानस शुद्धि और चित्त शुद्धि आवश्यक समझते थे।

3. मानसिक विकास का उद्देश्य - मानस अर्थात् मन मनुष्य के विकास क्रम का तीसरा सोपान है। मन हमारी सत्ता का सबसे चंचल भाग है। अत: शिक्षा द्वारा मनुष्य का मानसिक विकास करना चाहिए। श्री अरविन्द की एवं उत्तराधिकारी श्री माताजी के अनुसार मन की शिक्षा के पाँच अंग होते हैं - एकाग्रता की शक्ति को जागृत करना, मन की व्यापकता एवं समृद्धता बढ़ाना, उच्चतम लक्ष्य की ओर समस्त विचारों को संगठित करना, विचारों को संयमित करना तथा अनिष्ट विचारों का त्याग करना और मानसिक स्थिरता का विकास करना। इस सबके लिए श्री अरविन्द योग की द्वारा ही मनुष्य की कल्पना, स्मृति, चिन्तन तर्क और निर्णय की शक्तियों को बढ़ाने पर बल देते थे। इनके अनुसार बच्चों ने सभी इन्द्रियों के ठीक उपयोग की क्षमता विकसित करें और इस हेतु प्रशिक्षण की आवश्यकता है।
4. अन्तरात्मिक विकास का उद्देश्य - अतिमानस अर्थात् मनुष्य का अन्तःकरण मानव विकास का चौथा सोपान है। श्री अरविन्द ने इस अन्तःकरण के चार स्तर बताए हैं - चित्, बुद्धि, मन और अन्तर्ज्ञान। श्री अरविन्द ने अनुभव किया था कि इस स्तर पर पहुँच कर मनुष्य बिना ज्ञानेन्द्रियों का प्रयोग किए सब कुछ देख-समझ लेता है। सत् का साक्षात्कार तो होता ही इस अन्तःकरण से है। अत: शिक्षा द्वारा इस अन्तःकरण का विकास किया जाना चाहिए। इस विकास के लिए भी श्री अरविन्द ने योग विधि को आवश्यक माना है।
5. आध्यात्मिक विकास का उद्देश्य - मानव विकास के अन्तिम तीन सोपान हैं - आनन्द, चित् और सत्। श्री अरविन्द के अनुसार आनन्द वह स्थिति है जिसमें मनुष्य सुख-दुःख की अनुभूति ही नहीं करता है, चित् वह चेतना शक्ति है जिससे मनुष्य अपने, जगत के और सत् के स्वरूप को जानता है और सत् शुद्ध अस्तित्व का नाम है। सत् केवल ईश्वर को प्राप्त है इसलिए सत् ही ईश्वर है और ईश्वर ही सत् है। ये तीनों आध्यात्मिक स्तर हैं। इन स्तरों पर पहुँचने के लिए श्री अरविन्द ने कर्मयोग एवं ध्यान-योग को साधन बताया है और इन दोनों मार्गों पर चलने के लिए मनुष्य के लिए योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) की आवश्यकता बताई है। इनके अनुसार यह शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य होना चाहिए।

14.3.3 पाठ्यचर्या

श्री अरविन्द ने शिक्षा के पाँच उद्देश्य - भौतिक, प्राणिक, मानसिक, अन्तरात्मिक और आध्यात्मिक विकास बताए हैं। इनकी दृष्टि में इन सब उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए समन्वित रूप से प्रयास करना होता है और इसके लिए इन्होंने एक विस्तृत एवं समन्वित पाठ्यचर्या प्रस्तुत की है। भौतिक विकास के लिये ये पाश्चात्य विज्ञान एवं तकनीकी को आवश्यक समझते थे। इसलिए इन्होंने उसे भी पाठ्यचर्या में स्थान दिया है, परन्तु इनका स्पष्टीकरण था कि उससे भी अधिक महत्व की वस्तु है हमारी अपनी संस्कृति जो योग की संस्कृति है, उसके अभाव में हम पाश्चात्य भौतिक विज्ञान का दुरुपयोग भी कर सकते हैं। इनके द्वारा प्रस्तुत पाठ्यचर्या को हम निम्नलिखित रूप में क्रमबद्ध कर सकते हैं -

भौतिक विषय - मातृभाषा एवं राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की भाषाएं, इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, गणित, विज्ञान, मनोविज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, कृषि उद्योग, वाणिज्य और कला।

आध्यात्मिक विषय - वेद, उपनिषद, गीता, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, विभिन्न देशों के धर्म एवं दर्शन।

आध्यात्मिक क्रियाएँ - भजन, कीर्तन, ध्यान एवं योग।

परन्तु इन सब विषयों का अध्ययन एवं क्रियाओं का प्रशिक्षण एक दिन में नहीं किया जाएगा। श्री अरविन्द आश्रम में उसे निम्नलिखित रूप में रखा गया है -

प्राथमिक स्तर - मातृभाषा, अंग्रेजी, फ्रेंच, सामान्य विज्ञान, गणित, सामाजिक अध्ययन एवं चित्रकला और खेलकूद, व्यायाम, बागवानी, भजन व कीर्तन आदि।

माध्यमिक स्तर - मातृभाषा, अंग्रेजी, फ्रेंच, गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जन्तु विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, सामाजिक अध्ययन एवं चित्रकला और खेल-कूद, व्यायाम, बागवानी, कृषि, अन्य शिल्प, भजन, कीर्तन, ध्यान व योग आदि।

उच्च स्तर - अंग्रेजी साहित्य, फ्रेंच साहित्य, गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, विज्ञान का इतिहास, सभ्यता का इतिहास, जीवन का विज्ञान, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, भारतीय व पाश्चात्य दर्शन, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एवं विश्व एकीकरण, कृषि, अन्य शिल्प एवं भजन, कीर्तन, ध्यान व योग आदि।

14.3.4 शिक्षण विधियाँ

श्री अरविन्द विकास सिद्धान्त में विश्वास करते थे। इनके अनुसार विकास के सात सोपान होते हैं- द्रव्य, प्राण, मानस, अतिमानस, आनन्द, चित्त, सत्त। मनुष्य इनमें से तीसरे सोपान पर होता है, उसे अति मानस चित्त और सत् सोपानों पर चढ़ना शेष रहता है। इसके ये स्वस्थ शरीर, निर्मल मन और संयमी जीवन को आवश्यक मानते थे। इस दिशा में बढ़ने के लिए उसे जिस ज्ञान एवं कौशल की आवश्यकता होती है उसके लिये भी ये तीन तत्व आवश्यक होते हैं और सामान्य ज्ञान एवं कौशल प्राप्त करने के भी। पर शिक्षण विधियों के संबंध में श्री अरविन्द के विचार पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं हैं। कहीं तो वे प्राचीन शिक्षा पद्धति के अनुसार क्रमिक विधि अर्थात् एक दो विषयों के अध्ययन के बाद अन्य एक दो विषयों का अध्ययन प्रारम्भ करने की बात करते हैं। इसी प्रकार एक ओर तो ये बच्चे की शिक्षा का विधान उसकी भौतिक शक्तियों के आधार पर करने की बात करते हैं और दूसरी ओर उसके लिए योग की क्रिया के महत्व को स्वीकार करते हैं। परन्तु एक बात अवश्य है और वह यह कि ये प्राचीन विधियों को नया रूप देना चाहते थे। ये उपदेश, प्रवचन, व्याख्यान और अन्य मौखिक विधियों के प्रयोग की स्वीकृति तो देते थे, लेकिन साथ किसी भी स्थिति में बच्चों को रटाया नहीं जायेगा, अपितु उन्हें स्वयं के प्रयत्नों से आत्मसात कराया जायेगा। यह तभी संभव है जब शिक्षण रुचिकर हो। इसके लिये ये प्राथमिक स्तर पर कहानी विधि का प्रयोग करने की बात कहते थे। ये पाठ्य-

पुस्तक प्रणाली के भी समर्थक थे पर इस संबंध में इनका यह कहना था कि पहले बच्चों को ज्ञान की खोज के लिए तैयार किया जाना चाहिए और फिर उन्हें पुस्तकें पढ़ने के लिए कहना चाहिए। पुस्तकों से बच्चे रटेंगे नहीं अपितु उनका प्रयोग सहायक एवं संदर्भ ग्रंथ के रूप में करेंगे। स्वाध्याय विधि को अपनाते समय भी ये इस बात पर ध्यान देने के लिए कहते थे। निरीक्षण, अनुकरण, स्वानुभूति आदि शिक्षण विधियों पर बल दिया जाना चाहिए। इनकी दृष्टि से योग की क्रिया सीखने की उत्तम विधि है पर इसमें भी वे स्वक्रिया चिन्तन और तर्क को आधार मानते थे। इनके शिक्षण सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण करने पर हम निम्नलिखित तथ्यों से अवगत होते हैं -

(1) शिक्षण करते समय बच्चों की शारीरिक और मानसिक क्षमता तथा उनकी अपनी रुचियों का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।
(2) रटने के स्थान पर समझने पर बल देना चाहिए।
(3) बच्चों को क्रिया करने के अधिक से अधिक अवसर देने चाहिए और उन्हें स्वयं के अनुभव से सीखने देना चाहिए।
(4) बालक के व्यक्तित्व के सभी आयामों (शारीरिक, जैविक, मानसिक, अतिमानसिक तथा आत्मिक) का विकास ही सच्ची शिक्षा है।
(5) बच्चों को चित्त वृत्तियों के निरोध, चिन्तन और मनन की क्रिया में प्रशिक्षित करते चलना चाहिए।
(6) बच्चों के साथ प्रेम ओर सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। उन्हें अपने कार्य करने की स्वतंत्रता भी होनी चाहिए।
(7) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिए।
(8) हर स्तर पर बच्चों के सहयोग से आगे बढ़ना चाहिए।

14.3.5 अनुशासन

श्री अरविन्द की दृष्टि से स्वेच्छा से कर्तव्य पालन करना ही अनुशासन है। इनके अनुसार शिक्षा के क्षेत्र में भी अनुशासन का बड़ा महत्व होता है। अनुशासन का सम्बन्ध ये भावना से जोड़ते थे और इस भावना का सम्बन्ध नैतिकता से। इनके अनुसार प्रत्येक शिक्षक का यह उत्तरदायित्व है कि वह बच्चों के मन में ऐसी भावना भरे कि वे अच्छाई की ओर अग्रसर हों, नैतिकता का पालन करें और अपने अध्ययन में एकाग्रता से लगें। इनके विचारानुसार शिक्षक को बच्चों के साथ प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए, कठोरता से वास्तविक अनुशासन की प्राप्ति नहीं की जा सकती। दण्ड को ये अमानवीय कृत्य कहते थे।

श्री अरविन्द प्रभावात्मक अनुशासन में विश्वास करते थे। इनके अनुसार शिक्षकों को बच्चों के सामने आदर्श आचरण प्रस्तुत करना चाहिए, जिसका अनुकरण कर बच्चे पहले तो आदर्श आचरण की ओर अग्रसर हों और फिर वैसा करना अपना कर्तव्य समझे। इनकी दृष्टि में स्वानुशासन ही वास्तविक अनुशासन होता है।

14.3.6 शिक्षक

श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक का स्थान बच्चे के पथ-प्रदर्शक और सहायक के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। इनके अनुसार शिक्षक न तो बच्चों को ज्ञान

देता है और न ही उनके अन्दर के ज्ञान को विकसित करता है, अपितु बच्चों की इस बात में सहायता करता है कि वे स्वयं ज्ञान को प्राप्त करें और अपने अन्दर के ज्ञान को विकसित करें। यह कार्य वही शिक्षक कर सकता है जिसे शिक्षार्थी और पाठ्यचर्या, दोनों का पूरा-पूरा ज्ञान हो। शिक्षार्थी का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसे मनोविज्ञान का अध्ययन करना चाहिए और पाठ्यचर्या का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसे यथा विषयों का अध्ययन और क्रियाओं में प्रशिक्षण लेना चाहिए। श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षक को व्यक्ति की आत्मा को आगे बढ़ाने वाला होना चाहिए। यह कार्य वही व्यक्ति कर सकता है जिसे अध्यात्म विषय का स्पष्ट ज्ञान हो और जो योग की क्रिया में प्रशिक्षित हो। श्री अरविन्द शिक्षक को इसी रूप में देखना चाहते थे। ये स्वयं बहुत बड़े योगी थे इसलिए शिक्षक को भी एक योगी बना देना चाहते थे।

14.3.7 विद्यार्थी

शिक्षार्थी को श्री अरविन्द शिक्षा का केन्द्र मानते थे। इनके अनुसार प्रत्येक बालक कुछ सामान्य शक्तियाँ और कुछ विशिष्ट योग्यताएँ अथवा प्रतिभाएँ लेकर जन्म लेता है। बच्चों की इन शक्तियों और योग्यताओं में बड़ी भिन्नता होती है। श्री अरविन्द के अनुसार बच्चों की शिक्षा का विधान उनकी इन शक्तियों के आधार पर ही करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षा की व्यवस्था करते समय बच्चों की व्यक्तिगत रुचि, रुझान और योग्यताओं का ध्यान रखना चाहिए। श्री अरविन्द के अनुसार सबसे बड़ी चीज जिसे एक बालक लेकर पैदा होता है, वह उसकी आत्मा है। श्री अरविन्द के अनुसार यह आत्मा अपने में पूर्ण होती है, इसके कारण ही समस्त ज्ञान अन्तर्निहित होता है। इस पूर्ण ज्ञान की अनुभूति तभी हो सकती है जब व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करे और एकाग्रचित्त होकर ध्यान करे। श्री अरविन्द शिक्षार्थी से यही अपेक्षा करते थे। इनके अनुसार प्रत्येक शिक्षार्थी को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए और सत्य ज्ञान की खोज के लिए साधना करनी चाहिए। इसके साथ-साथ श्री अरविन्द बालक के पर्यावरण के प्रभाव को भी स्वीकार करते थे। ये जानते थे कि बालक के विकास में उसके पर्यावरण का बड़ा हाथ रहता है। ये बच्चों को उच्च पर्यावरण में रखना चाहते थे जिसमें उनकी ज्ञानेन्द्रियों का विकास और प्रशिक्षण हो और वे सत्य की खोज के लिए अग्रसर हों।

14.3.8 विद्यालय

श्री अरविन्द के अनुसार प्रत्येक विद्यालय को बच्चों के भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के विकास में सहायक होना चाहिए। ये मनुष्य के भौतिक विकास के लिए विद्यालयों में संसार की सभी श्रेष्ठ भाषाओं, साहित्य, सभ्यता और संस्कृति, गणित और विज्ञान आदि की शिक्षा का प्रबन्ध करने और आध्यात्मिक विकास के लिए बच्चों को श्रम करने कर्तव्य पालन करने, मानव सेवा करने और ध्यान करने के अवसर देने पर बल देते थे। इनके अनुसार विद्यालय भौतिक प्रगति और योग साधना के केन्द्र होने चाहिए।

श्री अरविन्द मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं करते थे, ये जाति, धर्म, अर्थ और रंग किसी भी आधार पर मनुष्य-मनुष्य के अन्तर को स्वीकार नहीं करते थे। इनके अनुसार विद्यालयों में सभी बच्चों को अपनी योग्यतानुसार प्रवेश के समान अवसर दिए जाने चाहिए और उन्हें अपनी भाषा, धर्म और संस्कृति के अध्ययन के लिए सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिए। विद्यालयों का

पर्यावरण विश्वबन्धुत्व की भावना से पूर्ण होना चाहिए। इनके द्वारा स्थापित श्री अरविन्द आश्रम का 'श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र' इसी प्रकार का शिक्षा केन्द्र है।

श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र एक आवासीय सहशिक्षा संस्था है। इसमें शिशु शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा एवं अनुसंधान तक की व्यवस्था है परन्तु कुछ अपने प्रकार की। यथा --

1. शिशु विहार (किन्डर गार्टन, शिशु स्तर) आयु 3 से 5 वर्ष, पाठ्यक्रम 3 वर्षीय।
2. भविष्य (आवनी, प्राथमिक स्तर) आयु 6 से 8 वर्ष, पाठ्यक्रम 3 वर्षीय।
3. प्रगति (प्रोगे उच्च प्राथमिक स्तर) आयु 9 से 11 वर्ष, पाठ्यक्रम 3 वर्षीय।
4. पूर्णता की ओर (अंनाबा बैर ला पैर फैकिओ, माध्यमिक स्तर) आयु 12 से 17 वर्ष, पाठ्यक्रम 6 वर्षीय।
5. उच्च (हायर कोर्स, उच्च शिक्षा स्तर) आयु 18 से 20 वर्ष, पाठ्यक्रम 3 वर्षीय।

विशेष

(1) यहाँ शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य है - दिव्य शरीर की प्राप्ति। इसके लिए शिक्षा के सभी स्तरों पर शारीरिक शिक्षा, व्यायाम एवं विभिन्न प्रकार के खेल-कूदों में भाग लेना अनिवार्य हैं, परन्तु छात्र-छात्राएँ अपनी क्षमता एवं पसन्द के खेलकूद चुनने के लिए स्वतंत्र है।

(2) यहाँ शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य है - अनन्त शक्ति की प्राप्ति। इसके लिए शिक्षा के सभी स्तरों पर ध्यान योग अनिवार्य है।

(3) यहाँ प्रथम तीन स्तरों पर शिक्षा का माध्यम फ्रेंच भाषा है और अन्तिम दो स्तरों पर फ्रेंच एवं अंग्रेजी दो भाषाएँ हैं।

(4) यहाँ शिक्षा की मुक्त प्रणाली है। यही किसी भी स्तर के छात्रों को किसी प्रकार के बन्धन में नहीं रखा जाता, उन्हें अध्ययन विषयों एवं खेल-कूद आदि क्रियाओं के चयन और उनको अपनी गति से सीखने एवं करने की पूरी छूट है। उच्च शिक्षा स्तर पर तो छात्र-छात्राएँ यही उपलब्ध अध्ययन सुविधाओं में से किसी एक अथवा जितने चाहें उतने विषयों का अध्ययन कर सकते हैं और अपनी गति से कर सकते हैं। इस केन्द्र में छात्र-छात्राओं पर बाहर से कुछ नहीं लादा जाता, बस उन्हें ऐसा पर्यावरण दिया जाता है कि वे अपनी आन्तरिक सत्ता से पथ-प्रदर्शन पाते हैं। इसे ही शिक्षा की मुक्त प्रणाली कहा जाता है।

(5) यहाँ किसी भी स्तर पर किसी भी प्रकार की परीक्षाएँ नहीं होती, शिक्षकों की संस्तुति पर ही छात्र-छात्राओं को आगे के अध्ययन में प्रवेश दे दिया जाता है। यहाँ कोई पाठ्यक्रम पूरा करने के बाद किसी प्रकार का प्रमाण पत्र भी नहीं दिया जाता।

14.4 शिक्षा के अन्य पक्ष

नैतिक और धार्मिक शिक्षा - श्री अरविन्द साधु थे, सन्त थे और एक बहुत बड़े योगी थे। नैतिकता और धर्म में इनकी आस्था थी, इसलिए ये शिक्षा को नैतिकता और धर्म पर आधारित करना चाहते थे। श्री अरविन्द के विचार से धर्म कोई भी हो और कैसा भी हो परन्तु

वह मनुष्य को अपने लिए, दूसरों के लिए और ईश्वर के लिए जीना सीखता है। किसी धर्म से घृणा करना, यह धर्म का लक्षण नहीं; यह तो धार्मिक संकीर्णता का परिचायक है। साम्प्रदायिकता का विकास इसी संकीर्णता के कारण होता है। श्री अरविन्द संसार के सब धर्मो को समान दृष्टि से देखते थे और किसी देश की शिक्षा को उसके अपने धर्म पर आधारित करना चाहते थे। इनका स्पष्ट मत था कि धर्म के अभाव में मनुष्य अपने आध्यात्मिक स्वरूप को नहीं पहचान सकता।

राष्ट्रीय शिक्षा - श्री अरविन्द अपने देश की परतन्त्रता से दुखी थे और उस समय की शिक्षा पद्धति से इन्हें बड़ा असन्तोष था। इन्होंने इस बात पर बल दिया कि देश स्वतंत्र होना चाहिए और इसकी शिक्षा को भारतीय रूप प्रदान करना चाहिए। इन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा की पूरी रूपरेखा तैयार की। इनके अनुसार राष्ट्रीय शिक्षा वह शिक्षा है जो राष्ट्र के नियन्त्रण में राष्ट्रीय लोगों को राष्ट्रीय पद्धति से दी जाती है। यही कारण है कि ये शिक्षा को भारतीय भाषाओं के माध्यम से देने पर बल देते थे और उसे ब्रह्मचर्य एवं आध्यात्मिक जीवन पर आधारित करना चाहते थे। इनका कहना था कि मातृभाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने से ही उसे जन साधारण के लिए सुलभ किया जा सकता है। ब्रह्मचर्य व्यवस्था और आध्यात्मिक जीवन तो हमारी संस्कृति की आत्मा है, उसे शिक्षा का आधार बनाने से भारतीयों में राष्ट्र की आत्मा का समावेश होगा। यही हमें यह बात समझ लेनी चाहिए कि श्री अरविन्द संकुचित राष्ट्रीयता में विश्वास नहीं करते थे। ये मानवतावादी व्यक्ति थे, इसलिये इनका दृष्टिकोण बड़ा व्यापक था। ये अन्तर्राष्ट्रीयता के समर्थक थे। श्री अरविन्द आश्रम में देश विदेश की भाषाओं और संस्कृतियों को स्थान देना इनकी इस भावना का प्रतीक है।

14.5 श्री अरविन्द के शैक्षिक दर्शन का मूल्यांकन

श्री अरविन्द के शैक्षिक दर्शन पर उनके जीवन-दर्शन का प्रभाव रहा और उनके जीवन-दर्शन पर वेद, उपनिषद एवं गीता का सर्वाधिक प्रभाव है। इस तरह उनके अनुसार जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य आध्यात्मिक विकास है, दिव्य शक्ति का विकास है जो कि अतिमानस का विकास कर सुपरमैन बनाता है। इस दृष्टि से उनका जीवन दर्शन आध्यात्मिक व आदर्शवादी है और परिणामत: उनके शिक्षा-उद्देश्य भी आदर्शवादी हैं, किन्तु जहाँ तक शिक्षा-पद्धति का प्रश्न है उन्होंने बाल-केन्द्रित शिक्षा पर बल दिया। बालक के स्वयं सीखने पर बल दिया। उसकी प्रकृति के अनुसार शिक्षा पर बल दिया। शिक्षक को केवल मार्ग-दर्शक व सहायक माना - इन सब दृष्टियों से वे प्रकृतिवादियों एवं प्रयोजनवादियों जैसे लगते हैं। लेकिन सही स्थिति यह है कि श्री अरविन्द उपनिषदीय शिक्षा के प्रतिपादक थे। उनकी शिक्षा-प्रणाली में 'योग' का प्रबल प्रभाव, गीता के प्रभाव के परिणाम-स्वरूप है। अत: उनकी शिक्षा प्रणाली को उस भारतीय शिक्षा प्रणाली की संज्ञा देंगे जिसका मूल उपनिषद एवं गीता में है, किन्तु जिसका विकास वे समसामयिक भारतीय वातावरण में करना चाहते थे। वे प्रचलित शिक्षा पद्धति के घोर विरोधी थे। वे सूचना व 'तथ्यों के ग्रहण को शिक्षा नहीं मानते थे। शिक्षा में शिक्षक द्वारा ज्ञान थोपने का उन्होंने डट कर विरोध किया। वे चाहते थे कि बालक स्वतंत्र वातावरण में अपनी प्रकृति के अनुसार स्वयं

सीखते हुए अपने अन्दर निहित दिव्य-शक्ति को जाने और शिक्षक के मार्ग-दर्शन में उसका विकास कर वह अतिमनसंयुक्त अतिमानव बने। इस तरह श्री अरविन्द एक ऐसी भारतीय शिक्षा प्रणाली का प्रतिपादन करना चाहते थे जिसके द्वारा बालक न केवल इनसान बने बल्कि अपने दिव्य रूप का ज्ञान प्राप्त कर उसका विकास कर सके। ऐसी उच्च आदर्श शिक्षा प्रणाली के प्रवर्तक थे श्री अरविन्द। उन्होंने अपने शिक्षा-दर्शन के आधार पर अपने आश्रम में विद्यालय स्थापित किया जो कि आज मान्यता प्राप्त विश्वविद्यालय है।

14.6 सारांश

श्री अरविंद के प्रमुख क्षेत्र दर्शन एवं अध्यात्म रहे। उन्होंने जीवन का अधिकांश समय आध्यात्मिक साधना में लगाया। श्री अरविन्द के जीवन दर्शन पर वेद, उपनिषद एवं गीता का प्रभाव रहा। इनके अनुसार आत्मा व प्रकृति दोनों ही सत्य है। उनके अनुसार दार्शनिक सिद्धान्तों को जीवन में उतारने के लिए विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है। ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जो अपने द्रव्य, प्राण, मानस स्वरूप की जाने वह जो भौतिक, प्राणिक, मानसिक, अन्तशात्मिक, आध्यात्मिक विकास करें। सम्पूर्ण शिक्षा होनी चाहिए। शिक्षा के भौतिक, मानव विकास, मानसिक विकास, अन्तरात्मिक विकास व आध्यात्मिक विकास का उद्देश्य होना चाहिए। निरीक्षण, अनुकरण, स्वानुभूति आदि शिक्षण विधियों पर बल दिया जाना चाहिए। श्री अरविन्द की दृष्टि से स्वेच्छा से कर्तव्य पालन करना ही अनुशासन है। शिक्षार्थी शिक्षा का केन्द्र है और शिक्षक पथ-प्रदर्शक है।

14.7 मूल्यांकन प्रश्न

1. श्री अरविन्द के शैक्षिक चिन्तन उनके जीवन दर्शन से प्रभावित था। व्याख्या कीजिए।
2. श्री अरविन्द शिक्षा का सम्प्रत्यय और शिक्षा का उद्देश्य स्पष्ट कीजिए।
3. श्री अरविन्द का अनुशासन, शिक्षक, शिक्षार्थी, शिक्षण विधियों को केन्द्र में लेकर मूल्यांकन कीजिए।

14.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. सक्सेना, एन.आर. स्वरूप, शिक्षा के दार्शनिक एवं समाज शास्त्रीय सिद्धान्त, आर. लाल बुक डिपो, मेरठ, 2005
2. शरतेन्दु, सत्य नारायण दूबे 'शिक्षा की नवीन दार्शनिक पृष्ठभूमि, अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, 2009
3. शर्मा, डी.एल., उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षा, आर.लाल बुक डिपो, मेरठ
4. अग्निहोत्री, रवीन्द्र, भारतीय शिक्षा की वर्तमान समस्याएं रिसर्च पब्लिकेशन्स इन सोशल साइंसेज, दरियागंज, नई दिल्ली
5. तोमर एवं लाल "विश्व के श्रेष्ठ शैक्षिक चिन्तक" आर.लाल बुक डिपो, मेरठ-2004

इकाई - 15

एनी बीसेंट के शैक्षिक विचार

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 जीवन-वृत्त
15.2 एनी बीसेंट का जीवन दर्शन
15.3 एनी बीसेंट का शिक्षा दर्शन
15.4 ब्रह्मविद्या का नीतिशास्त्र
15.5 एनी बीसेंट व शिक्षा के उद्देश्य
15.6 एनी बीसेंट व पाठ्यचर्या
15.7 एनी बीसेंट व विद्यालय
15.8 एनी बीसेंट व शिक्षक और शिक्षार्थी
15.9 एनी बीसेंट का शिक्षा में योगदान
15.10 सारांश
15.11 मूल्यांकन प्रश्न
15.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

15.0 उद्देश्य

इकाई की समाप्ति के पश्चात छात्र -

- एनी बीसेंट के जीवन दर्शन को समझ सकेंगे।
- शिक्षार्थी भगवान के प्रति एकाग्रता के अस्तित्व को समझ सकेंगे।
- शिक्षार्थी नीति-शास्त्र का अध्ययन करके महान सन्तों व धर्मोपदेशकों की शिक्षाओं को अपने जीवन में आत्मसात कर सकेंगे।
- एनी बीसेंट के पाठ्यक्रम से शिक्षार्थी अपना शैक्षणिक व सृजनात्मक विकास कर सकेंगे।
- शिक्षार्थी एनी बीसेंट के दार्शनिक विचारों को पढ़कर अच्छे समाज सुधारक बन सकेंगे।

15.1 जीवन-वृत्त

एनी बीसेंट 1847 में 2 फिशरस्ट्रीट, लंदन में विलियम कुड व एमिली मॉरिस के घर में उत्पन्न हुई थीं। एनी हमेशा से स्वतंत्र विचारों की रही थीं, इसी कारण उनके विचार अपने पति के पारम्परिक विचारों से मेल नहीं खा पाये। पति से अलग होने के बाद एनी बीसेंट ईसाई धर्म को छोड़कर 1874 में सैकुलर सोसायटी में शामिल हो गई। एनी बीसेंट ने एक उत्कृष्ट सार्वजनिक वक्ता के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की। एनी लघु कहानियाँ, बच्चों की पुस्तकें और लेख लिखा करती थीं। 1890 में एनी बीसेंट थियोसॉफी सोसायटी की समर्थक बनीं। 1875 में हैलेना ब्लेवेट्स की ने एक धार्मिक आन्दोलन चलाया। थियोसॉफी मुख्य रूप से कर्म और पुनर्जन्म के

हिन्दू विचार पर आधारित है। बीसेंट भारत में रहते हुए भी महिलाओं के अधिकारों के प्रति जागरूक थीं। भारत में रहते हुए एनी भारतीय होम रूल से जुड़ी और प्रथम विश्व युद्ध में ब्रिटिश सत्ताधारियों के विचारों को बदलने के प्रयास में लगीं। एनी बीसेंट का भारत में 20 सितम्बर, 1933 को निधन ही गया।

15.2 एनी बीसेंट का जीवन दर्शन

एनी बीसेंट के अनुसार वास्तविक धर्म न केवल किसी की भावनाएं ईश्वर की ओर होना है, बल्कि अपने साथियों के प्रति कर्तव्यों का निर्वहन भी है। नैतिक रूप से अच्छा व्यक्ति सदा उच्च पद को प्राप्त करता है, उन व्यक्तियों की अपेक्षा जो ईश्वर में विश्वास करते हैं, लेकिन ईर्ष्यालु, निर्दयी व अन्यायी होते हैं।

थियोसॉफी (ब्रह्म-विद्या) में एनी बीसेंट का पूर्ण विश्वास था। उनके अनुसार इसके दो भाग हैं- एक आत्मा व दूसरा शरीर। इनके अनुसार ब्रह्मविद्या सभी धर्मों जैसे - हिंदुत्व, ईसाई, इस्लामिक सूफी व जैन वाद। एनी बीसेंट के अनुसार कोई भी व्यक्ति सही मायने में जब तक कि उसमें भगवान के प्रति सीधी आस्था न हो, धार्मिक नहीं कहला सकता।

ब्रह्मविद्या मुख्यत: दो सिद्धान्तों पर आधारित है-

अ) भगवान के प्रति एकाग्रता, जो कि अस्तित्व के लिए सार्वभौम स्त्रोत है।

ब) मनुष्य का सार्वभौमिक भ्रातृत्व।

स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. एनी बीसेंट के अनुसार वास्तविक धर्म क्या है?
2. थियोसॉफी के कितने भाग हैं?
3. ब्रह्मविद्या किन दो सिद्धान्तों पर आधारित है?

15.3 एनी बीसेंट का शिक्षा दर्शन

एनी बीसेंट का शिक्षा दर्शन शिक्षा के ब्रह्मविद्या के आदर्श पर आधारित है, जिसके अनुसार बालक वही शिक्षा ग्रहण करता है, जो उसके व्यक्तिगत व विशिष्ट भाग को विकसित करती है।

एनी बीसेंट का शिक्षा दर्शन कहता है कि बालक को वही शिक्षा देनी चाहिए जो उसे समुदाय व देश का प्रबुद्ध नागरिक बनाये।

15.4 ब्रह्मविद्या का नीतिशास्त्र

एनी बीसेंट के नीतिशास्त्र में संसार के महान सन्त, धर्मोपदेशक व धर्म के संस्थापकों की उच्च और पवित्र शिक्षाएं निहित हैं। यह शिक्षाएं संसार में मधुर व उच्च हैं और यह सभी शिक्षाएं दुनिया के सभी देशों व धर्मो के दर्शनों के लिए प्रेरणास्पद और परिष्कृत हैं। यही ब्रह्मविद्या का नीतिशास्त्र कहलाती हैं। यदि कोई मनुष्य महान सिद्धान्तों के साथ रहता है, तो यही उसे ऊपर की ओर उठाती हैं। एक थियोसॉफिस्ट सदा ऊपर की ओर देखता है, जैसे- क्राइस्ट, बुद्ध, राम और सभी महान धार्मिक नेता। वह इन्हीं की तरह बनने का प्रयास करता है।

स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. एनी बीसेंट का शिक्षा -दर्शन किस पर आधारित है?
2. बालक को कैसी शिक्षा देनी चाहिए?
3. एनी बीसेंट का नीति शास्त्र क्या है?
4. महान सिद्धान्तों को धारण करने से क्या होता है?

15.5 एनी बीसेंट व शिक्षा के उद्देश्य

एनी बीसेंट के अनुसार शिक्षा को बालकों की योग्यता को उबारना चाहिए व विकास करना चाहिए और प्रशिक्षित करना चाहिए, जिससे वह बालक सभ्य समाज का उपयोगी सदस्य बन सके।

थियोसॉफिकल (Theosophical) शिक्षा के निम्न उद्देश्य हैं-

1. शरीर को उत्साह, लालित्य व स्वस्थ रूप में विकसित करना जिससे वह भावनाओं का प्रदर्शन बिना किसी त्रुटि के कर सके।
2. जो भी सुन्दर है, उसके प्रति प्रेम प्रदर्शित करने के लिए भावनाओं को प्रशिक्षित करना।
3. दूसरों के दुख व खुशी पर सहानुभूति दर्शना और दूसरों की सेवा के लिए प्रेरित करना, जब तक कि हम अपने बड़ों, माता-पिता, सहभागी, भाई-बहिन, अनुज और अपने बच्चों से प्यार न करें।
4. निरीह की मदद करना और जो पीड़ित हैं, उनके प्रति दयालुता दिखाने में आनन्द प्राप्त करना।
5. सही सोच, सही न्याय और स्मृति के लिए मस्तिष्क को अनुशासित रहने के लिए प्रशिक्षित करना।
6. शरीर, मन व आत्मा को नियन्त्रित करना।
7. शिक्षा को चाहिए कि वह व्यक्ति को आत्मिक मानवता से परे एक अच्छा नागरिक बनाये।

इस प्रकार, एनी बीसेंट ने बालकों के आध्यात्मिक विकास, भावनाओं आदि के विकास पर जोर दिया है।

स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. शिक्षा का क्या कार्य है?
2. एनी बीसेंट ने बालकों के किस विकास पर जोर दिया है?

15.6 एनी बीसेंट व पाठ्यचर्या

एनी बीसेंट के विद्यालय में बालकों के सृजनात्मक क्षेत्र को उबारने पर अधिक जोर दिया है। इनका मानना था कि कला बालकों में एकाग्रता, सहयोग कौशल का विकास व समूह कार्य को बढ़ावा देती है। जैसा कि हम जानते हैं, मस्तिष्क का बायां भाग सूक्ष्म भागों व गणितीय विषयों से संबंधित होता है और दायां भाग रचनात्मकता और भावात्मकता के लिए

उत्तरदायी होता है, इसलिए एनी बीसेंट ने अपने पाठ्यक्रम में दोनों ही प्रकार के क्षेत्रों पर समान बल दिया है।

इनके पाठ्यक्रम के महत्वपूर्ण विषय हैं-

- संगीत (गायन व वादन)
- डांस व ड्रामा
- जन संचारिता (संप्रेषण कौशल व सामाजिक कौशल हेतु)
- खेल
- गणित व विज्ञान

कला से सम्बन्धित विषय व मार्शल आर्ट आदि

एनी बीसेंट का मानना था कि शिक्षक द्वारा बालकों की योग्यताओं को अच्छी तरह तराशा जाना चाहिए। उन्हें सभी प्रकार की प्रतियोगिताओं में, वार्षिक उत्सव कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए जिससे उनके आत्म विश्वास को बल मिल सके।

एनी बीसेंट ने शिक्षा के सम्पूर्ण काल को तीन भागों में बाँटा है-

एनी बीसेंट ने इन्हीं कालों के आधार पर पाठ्यक्रम विभाजित किया है-

1. **प्रथम काल (1 -7 वर्ष)** - इसके विषय हैं - नायकों की कहानियाँ, शारीरिक विकास पर जोर, नर्सरी राइम्स, शब्द स्मृति विकास, सुन्दरता के प्रति प्रेम, परिवीक्षण व गरीब तथा निरीह के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने वाले पाठ।
2. **द्वितीय काल (7- 14 वर्ष)** - इतिहास व आत्मकथा, भूगोल, शरीर क्रिया, भौतिकी, रसायन, भूगर्भ शास्त्र, बीजगणित, ज्यामिती व अंक गणित आदि विषयों को इस काल में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।
3. **तृतीय काल (14-21 वर्ष)** - यह तीव्र बौद्धिक विकास की अवस्था होती है। इसलिए इस काल में तर्क, गणित, नागरिक व समाज शास्त्र, विज्ञान जैसे जीव विज्ञान, दर्शन शास्त्र, मनोविज्ञान, साहित्य, अर्थशास्त्र आदि विषयों पर अधिक जोर दिया गया है। धार्मिक शिक्षण प्रारम्भिक वर्ष में प्रारम्भ करके बाद में पराभौतिकी स्तर तक पहुँचा जावे, क्योंकि इस स्तर पर बालकों का बौद्धिक स्तर व समझ बढ़ जाती है।

स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. विद्यालय में बालकों के किस क्षेत्र को उबारने पर जोर दिया है?
2. कला बालकों के किस कार्य को बढ़ावा देती है?
3. मस्तिष्क के बायें व दायें भाग किसके लिए उत्तरदायी हैं?
4. एनी बीसेंट का पाठ्यक्रम मुख्यतया किस पर आधारित है?

15.7 एनी बीसेंट व विद्यालय

एनी बीसेंट के अनुसार हर बालक की एक स्वतंत्र आत्मा होती है। अत: विद्यालय में स्वतंत्र और मित्रता पूर्ण वातावरण हो जहाँ बालक अपनी योग्यतानुसार सीखे, समायोजित करे और प्राप्त करे। इस प्रकार विद्यालय ऐसा हो जहाँ बालक के न केवल भविष्य को आकार दिया जाये, वरन् वह व्यक्ति के बारे में भी सोचे। एनी बीसेंट मॉडल का विद्यालय नारायण दत्त

शिक्षा समिति के तत्वाधान में इन्दौर में सन् 2000 में स्थापित किया गया। एनी बीसेंट ने कहा है कि विद्यालय में बालकों को आधुनिक विश्व में उनके सामने आने वाली चुनौतियों के लिए दक्ष करना है।

एनी बीसेंट का मानना था कि चूंकि माता-पिता बालकों के भविष्य के लिए इतना धन खर्च करते हैं, इसलिए विद्यालय भवन अच्छा होने के साथ-साथ ऐसा हो जहाँ प्रत्येक बालक का शैक्षणिक, सृजनात्मक व भौतिक विकास हो। सरोजिनी नायडू ने एनी बीसेंट के बारे में कहा है कि. -

"Had it not been for her enthusiasm, one could not have seen Mr. Gandhi leading the cause of Indian freedom today. It was Mrs. Besant who laid the foundation of modern Indian- Dr. Besant was a combination of Parvati, Lakshmi and Saraswati."

स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. विद्यालय में किस प्रकार का वातावरण होना चाहिए?

15.8 एनी बीसेंट व शिक्षक - शिक्षार्थी सम्बन्ध

एनी बीसेंट महान समाज सेवी थीं। उन्होंने शिक्षा को बढ़ावा देने और भारत की स्वतन्त्रता के लिए महान योगदान दिया। एनी बीसेंट ने शिक्षा के सम्पूर्ण काल को तीन भागों में विभाजित किया है, अत: प्रत्येक काल में शिक्षक व छात्र की भूमि अलग-अलग है।

प्रथम काल में छात्र की गौण व शिक्षक की महती भूमिका है। इसमें बालक के सर्वांगीण विकास पर अधिक जोर दिया गया है।

द्वितीय काल में शिक्षक को चाहिए कि वह बालकों में भावनात्मक विकास हेतु जोर दे जिससे वह महान सन्तों, देशभक्तों व नायकों का अनुसरण कर सके।

तृतीय काल में शिक्षक को चाहिए किए वह बालकों की बौद्धिक क्षमता का विकास करे। वह बालकों की तार्किक व गणितीय क्षमता का विकास करें, ताकि वह भविष्य में कैरियर बना सके।

इस प्रकार एनी बीसेंट का कथन है कि शिक्षक एक मार्गदर्शक, पथ--प्रदर्शक है तथा छात्र शिक्षक के अनुसार कार्य करने वाला एक प्राणी मात्र है। शिक्षक छात्रों के भविष्य को ध्यान में रखकर शिक्षण कार्य करता है तथा छात्रों को उनके भावी जीवन में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करना है।

स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. शिक्षक व छात्र की भूमिका मुख्यतया किस पर आधारित है?
2. एनी बीसेंट के अनुसार शिक्षक किस प्रकार का है?

15.9 एनी बीसेंट का शिक्षा में योगदान

1. देशभक्ति - एनी बीसेंट भारत को प्यार करती थीं। उन्होंने हिन्दुत्व पर बहुत सी पुस्तकें और लेख लिखे। साथ ही विद्यार्थियों के लिए भौतिकी, रसायन, जीवविज्ञान पर पुस्तकें व महाभारत की कहानियाँ भी लिखीं।
2. राष्ट्रीयता - डॉ. बीसेंट की भारत के प्रति राष्ट्रीय आकांक्षाओं के कारण उन्होंने बहुत से नवीन शैक्षिक प्रयास किये। उन्होंने 1898 में बनारस में सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल और कॉलेज की स्थापना की। बाद में यह बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में विख्यात हुआ। उन्होंने एडिर, मद्रास में थियोसॉफिकल इन्स्टीट्यूट भी स्थापित किया।
3. बहुमुखी प्रयास - डॉ. बीसेंट ने न केवल बनारस में सेन्ट्रल स्कूल व कॉलेज बनाया वरन् उन्होंने वाद-विवाद क्लब और बहुत से खेल संस्थाओं का निर्माण भी किया। वे एक विलक्षण शिक्षक व शैक्षिक प्रशासक थीं। उन्हें अपने विद्यार्थियों द्वारा व साथियों द्वारा शैक्षिक प्रयास के लिए प्रशंसा और प्यार मिला।
4. बाल-विवाह विरोधी - एनी बीसेंट ने बाल-विवाह के प्रति ठोस विरोधी कदम उठाया जो उस समय भारत में अधिक प्रचलित था।
5. समाज सुधार - एनी बीसेंट ने स्कूल, कॉलेज व समाज में राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता और समाज सेवा पर व्याख्यान दिये। इससे विद्यार्थियों को भारत के लिए जीना और उसके लिए कार्य करना आदि जिम्मेदारियों का अहसास कराया।
6. महिला शिक्षा - भारत में महिला शिक्षा को एनी बीसेंट ने अत्यधिक बढ़ावा दिया। जहाँ बालिका शिक्षा आसानी से नहीं पहुँच सकती थी वहाँ उन्होंने बालिका विद्यालय और महाविद्यालयों की स्थापना की और शिक्षा को बढ़ावा दिया।
7. शैक्षिक संस्थाओं की वृद्धि - एनी बीसेंट के शिक्षा को बढ़ावा देने के कारण अन्य समुदाय जैसे, पारसी, मुस्लिम, आर्य समाज, देव समाज, ब्रह्म समाज आदि ने भी विद्यालयों की स्थापना की।
8. व्यावसायिक शिक्षा - एनी बीसेंट ने विद्यालयों में व्यावसायिक शिक्षा पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि विद्यालय शिक्षा के पश्चात् प्रत्येक विद्यार्थी को व्यापार, बढ़ई का कार्य, खाना पकाना, सिलाई आदि का कार्य सीखना चाहिए ताकि वह जीविकोपार्जन कर सके।
9. रंगभेद विरोधी - एनी बीसेंट जातिवाद की घोर विरोधी थीं। उन्होंने कहा कि श्वेत लोग और उच्च स्तर वाले, अन्य मनुष्यों से अधिक श्रेष्ठ नहीं हैं। उनके अनुसार सभी को शिक्षा व जीवन की साधन सुविधाओं का अधिकार है।

स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. एनी बीसेंट ने पहला विद्यालय कहीं खोला?
2. एनी बीसेंट ने बहुमुखी विकास के लिए क्या-क्या किया?
3. "एनी बीसेंट महान समाजसेवी थीं", समझाइये।
4. एनी बीसेंट द्वारा शिक्षा को बढ़ावा देने से परोक्ष रूप में किन-किन पर प्रभाव पड़ा?

15.10 सारांश

इनका दर्शन शिक्षा के ब्रह्मविद्या के आदर्श पर आधारित है जिसके अनुसार बालक वही शिक्षा ग्रहण करता है, जो उसके व्यक्तिगत व विशिष्ट भाग को विकसित करती है। इन्होंने बालकों के सृजनात्मकता क्षेत्र को उबारने पर अधिक जोर दिया है। इनके अनुसार हर बालक की एक स्वतंत्र आत्मा होती है। अत: विद्यालय में स्वतंत्र और मित्रता पूर्ण वातावरण होना चाहिए। इनका शिक्षा क्षेत्र में अपने मूल सिद्धान्तों के कारण अग्रणी योगदान है।

डॉ. एनी बीसेंट ने सभी के लिए शिक्षा की आवश्यकता को बताते हुए कहा है कि - "मैं हर बच्चे के भविष्य को देखती हूँ राष्ट्रीय विद्यालयों में, साहित्य, वैज्ञानिक, कला और तकनीकी शिक्षा के तत्वों में। किसी भी बालक या बालिका को विद्यालय में साहित्य और विज्ञान को अनदेखा नहीं करना है। उसे सुन्दरता में प्रसन्न होना है।"

15.11 मूल्यांकन प्रश्न

1. एनी बीसेंट के जीवन दर्शन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
2. एनी बीसेंट के अनुसार थियोसॉफी (ब्रह्म विद्या) का सिद्धान्त क्या है?
3. एनी बीसेंट के शैक्षिक दर्शन को समझाइये।
4. थियोसॉफिकल शिक्षा के उद्देश्य क्या हैं?
5. एनी बीसेंट ने पाठ्यक्रम निर्माण में शिक्षा के किन तीन कालों को ध्यान में रखा है और क्यों?
6. डॉ. एनी बीसेंट का शिक्षा में क्या योगदान रहा है? विस्तृत व्याख्या कीजिए।

15.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Blackham, H.J., ed. (1971), Moral Education: an annotated list. London.
2. Broudy Harry et.al. Philosophy of Education. University of Illinois Press
3. Broudy Harry et.al. (1967), Philosophy of Education: an organization of topics and selected sources. Urbana, Illinois
4. Brubacher, John S., Frontiers of Educational Philosophy, Educational Forum, Nov. 1947, Vol. XII
5. Brubacher, John S., Modern Philosophies of education
6. Jeffery, R.P., ed. (1971), philosophy of education: an organization of topics and selected sources, 1971 supplement, Urbana, Illinois.

7. Kuhmerker, Lisa (1971), a bibliography of moral development and the learning of values in schools and other social settings. New York.
8. Phonix, P.M., Philosophies of Education
9. Smith, Christina M., and Broudy, H.J. (1969), Philosophy of education: an organization of topics and selected sources, 1969 supplement, Urbana, Illinois.
10. Taneja, V.R., Social Philosophical Approach to Education
11. Wallace, W.L., Sociological Theory
12. सक्सेना, नवरत्न स्वरूप, शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त
13. सिंह, एन. पी., शिक्षा के दार्शनिक आधार

इकाई - 16

डॉ. जाकिर हुसैन के शैक्षिक विचार

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 डॉ. जाकिर हुसैन का परिचय
16.2 डॉ. जाकिर हुसैन तथा बुनियादी एवं वर्धा शिक्षा योजना
16.3 डॉ. जाकिर हुसैन के शिक्षा के उद्देश्य
16.4 पाठ्यक्रम
16.5 शिक्षण सिद्धान्त
16.6 शिक्षक
16.7 विद्यालय
16.8 शिक्षा का स्तर
16.9 जामिया मिलिया इस्लामिया
16.10 सारांश
16.11 मूल्यांकन प्रश्न
16.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

16.0 उद्देश्य

इस इकाई की समाप्ति पर आप यह समझ सकेंगे कि -

- डॉ. जाकिर हुसैन का जीवन परिचय।
- डॉ. जाकिर हुसैन का गांधीजी की बुनियादी शिक्षा तथा वर्धा शिक्षा योजना में किये गये कार्य।
- डॉ. जाकिर हुसैन के शिक्षा के उद्देश्यों की जानकारी।
- डॉ. जाकिर हुसैन द्वारा दी गई पाठ्यक्रम की रूपरेखा का ज्ञान।
- डॉ. जाकिर हुसैन के शिक्षक संबंधी विचारों की जानकारी।
- डॉ. जाकिर हुसैन के द्वारा निर्धारित शिक्षा के स्तरों का ज्ञान।
- डॉ. जाकिर हुसैन के द्वारा शिक्षा के प्रयोग के रूप में जामिया मिलिया इस्लामिया के शैक्षिक स्वरूप का ज्ञान

16.1 डॉ. जाकिर हुसैन का परिचय

डॉ. जाकिर हुसैन का जन्म सन् 1897 में हुआ था। इनके पिता फिदा हुसैन थे जो व्यवसाय से वकील थे। डॉ. जाकिर हुसैन इटावा में इस्लामिया हाईस्कूल में अध्ययन करते थे। उन्होंने बर्लिन विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। सन् 1926 में उन्हें जामिया मिलिया इस्लामिया का कुलपति नियुक्त किया गया।

डॉ. जाकिर हुसैन पर तात्कालिक शासन व्यवस्था के विचारों का प्रभाव पड़ा और उन्होंने स्वशासन को प्रोत्साहन देने तथा उत्तरदायी नागरिक बनाने के लिये प्रक्षेपण प्रणाली का प्रयोग किया। इसके लिये उन्होंने शिक्षा तथा शिक्षार्थी में आदर्शवाद, सामाजिक तथा राष्ट्रीय सेवा भावना का समावेश करने के लिये शिक्षा के माध्यम से प्रयास किया। उन्होंने अपने कुलपति पद के दौरान साहसिक नेतृत्व तथा व्यक्तित्व की बहुमूल्य विशेषताओं के द्वारा अनेक शैक्षिक प्रयोग किये और इसमें उन्हें काफी सफलता व प्रशंसा समर्थकों के साथ-साथ विरोधियों से भी मिली। डॉ. जाकिर हुसैन ने शैक्षिक चिंतन तथा नीतियों के विकास में काफी योगदान दिया और शैक्षिक सिद्धान्तों तथा व्यवहार पर अपने विचार दिये।

डॉ. जाकिर हुसैन भारत के राष्ट्रपति के पद पर रहे, उनके अमूल्य भाषण और विचार यह सत्यापित करते हैं कि वे राजनेता के अलावा एक प्रसिद्ध शिक्षाविद् तथा शैक्षिक विचारक भी थे। उनके शैक्षिक विचारों का प्रसारण करने में मीडिया की भूमिका प्रमुख रही। उनके उद्‌बोध, भाषण तथा विचारों की काफी चर्चा रही। उन्होंने शिक्षण पद्धति के रूप में शिक्षा के विभिन्न स्तरों तथा विशेष शिक्षा का प्रतिपादन किया। उन्होंने राष्ट्रपिता महात्मा गांधी द्वारा प्रतिपादित बुनियादी शिक्षा पर भी काफी कार्य किया और उसे विकसित किया।

16.2 डॉ. जाकिर हुसैन तथा बुनियादी एवं वर्धा शिक्षा योजना

महात्मा गांधी के शब्दों में - "मेरी शिक्षा योजना का आशय यह नहीं है कि बालक पढ़ाई के साथ व्यवसाय को सीखे, बल्कि शिक्षा योजना का तात्पर्य यह है कि बालकों को जो भी ज्ञान दिया जाए, वह किसी उद्‌योग अथवा दस्तकारों द्‌वारा ही दिया जाए।"

दस्तकारी के उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए गांधीजी ने कहा था, "मेरा उद्देश्य तो उद्‌योग या दस्तकारों द्‌वारा बालक के मस्तिष्क को सुन्दर बनाना है।"

23 अक्टूबर, 1937 में वर्धा में मारवाड़ी राष्ट्रीय हाई स्कूल में आयोजित शैक्षिक सम्मेलन में गांधीजी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में अपने शिक्षा संबंधी विचार प्रस्तुत किये और बुनियादी शिक्षा की आधार नींव डाली, इसीलिये बुनियादी शिक्षा को वर्धा शिक्षा योजना भी कहा जाता है।

वर्धा सम्मेलन में जो प्रस्ताव स्वीकृत किये गए, उनमें प्रमुख है -

1. निःशुल्क शिक्षा।
2. मातृ भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया जाए।
3. हस्तकला को शिक्षा का केन्द्र बनाया जाए।
4. स्वावलम्बी शिक्षा।

डॉ. जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया जिससे उपर्युक्त प्रस्तावों को कार्यरूप में परिणीत करने का विचार किया गया। 2 दिसम्बर, 1937 में इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में बुनियादी शिक्षा योजना के सिद्धान्त, उद्देश्य और संगठनों पर प्रकाश डाला। सन् 1940 में समिति की दूसरी रिपोर्ट में बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम का विवेचन किया गया। हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन में डॉ. जाकिर हुसैन समिति की सिफारिशें मंजूर की गई

बुनियादी शिक्षा का आशय

बुनियादी शिक्षा का तात्पर्य है, व्यक्ति और समाज के बुनियादी व प्रगाढ़ संबंध। यदि व्यक्ति स्वावलम्बी होगा तो समाज भी स्वावलंबी होगा, शिक्षा व्यक्ति को स्वावलम्बी बनाने में सहयोग करती है। इसलिये व्यक्तिगत शिक्षा के स्थान पर सामूहिक एवं सामाजिक शिक्षा को प्रमुखता दी गई।

बुनियादी शिक्षा में व्यक्तिगत और सामुदायिक स्वतंत्रता की क्रियाएँ सबसे प्रमुख मानी जाती है। बालक की शिक्षा उनके मस्तिष्क में अव्यावहारिक विचारों को ठूंसना नहीं है। वह मूल रूप से उन्हें अच्छी आदतों - नित्य कर्म, शारीरिक साफ-सफाई तथा दैनिक क्रियाओं के अनुभव में प्रशिक्षित करना है, जिससे उनमें अच्छी आदतों का निर्माण हो सके।

बुनियादी शिक्षा में माण्टेसरी तथा किंडरगार्डन जैसी आधुनिक शिक्षण पद्धतियों के गुण मौजूद हो जो कि क्रियाओं पर आधारित हो।

डॉ. जाकिर हुसैन ने बुनियादी शिक्षा के संबंध में अपनी रिपोर्ट में लिखा - "नई योजना भावी नागरिक को व्यक्तिगत मूल्य की एक तीव्र संवेदना, सम्मान और कुशलता की भावना उत्पन्न करने का लक्ष्य रखेगी और उसमें एक सहयोगी समुदाय में समाज शिक्षा, आत्म-विकास तथा आत्माभिव्यक्ति की वृद्धि करेगी।"

बुनियादी शिक्षा और हस्तकला (Basic Education and Handicraft)

बुनियादी शिक्षा में हस्तकला को केन्द्रीय स्थान दिया गया है। शिक्षा को व्यावहारिक बनाने के लिये हस्तकला अर्थात् स्वावलम्बन अत्यंत आवश्यक है। जीविकोपार्जन के लिये हस्तकला बड़ा सहयोग देती है।

इसके साथ ही हस्तकला से शारीरिक श्रम को भी बढ़ावा मिलता है। गांधीजी भी मानसिक श्रम के समान शारीरिक श्रम को महत्व देते थे। शारीरिक श्रम के महत्व को जानकर ग्रामीण परिवेश के बच्चे भी अपनी जमीन से जुड़ी शारीरिक श्रम की महत्ता को समझकर उसमें और अधिक रूचि लेने लगते है। हस्तकला द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह क्रियाओं पर आधारित होता है अर्थात् करके सीखने तथा स्वक्रिया व अनुभवों से प्राप्त ज्ञान स्थायी एवं जीवनोपयोगी होता है। बुनियादी शिक्षा में वास्तविक केन्द्र प्रकृति और समाज है। गांधीजी उद्योग जैसे एक विषय को केन्द्र बनाकर उसके द्वारा सभी विषयों का आपस में समन्वय करके बालक का सर्वांगीण विकास करने के पक्षधर थे।

सामूहिक क्रियाओं के आयोजन से बालकों में सामाजिक गुणों का विकास भी होता है। उनमें मानवीय तथा सामाजिक गुण किसी भी प्रकार के भेदभाव को नहीं बनने देते। बालक का संतुलित विकास भी होता है।

गांधीजी आधुनिक शिक्षा के पुस्तकीय ज्ञान से असन्तुष्ट थे। उनके अनुसार आधुनिक शिक्षा हानिकारक होने के साथ-साथ बेकार भी है। खेल विधि द्वारा क्रियाओं में तत्पर रहते हुए बालक वास्तविक अनुभव प्राप्त करते है और विद्यालय तथा समाज में उपलब्ध समस्त साधनों का भी समुचित उपयोग होता है। समाजोपयोगी उत्पादक क्रियाएँ को भी अवसर प्रदान करती है। विद्यालय में विद्यार्थी शिक्षक के साथ रहकर उसके कुशल नेतृत्व व मार्गदर्शन से अधिगम

ग्रहण करता है। इससे अधिगमकर्ता में आत्मविश्वास भी बढ़ता है, वह स्वयं संतुष्ट होकर भविष्य की तैयारी करता है। कार्य ईश्वर की प्रार्थना है, यह सच्ची प्रसन्नता है।

स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. डॉ. जाकिर हुसैन के द्वारा वर्धा सम्मेलन में कौन-कौन से प्रस्ताव स्वीकार किये गये?
2. बुनियादी शिक्षा क्या है?
3. बुनियादी शिक्षा में हस्तकला का क्या स्थान है।

16.3 डॉ. जाकिर हुसैन के शिक्षा के उद्देश्य

डॉ. जाकिर हुसैन ने शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्यों पर बल दिया -

1. शिक्षा से आम राष्ट्रीय भावना का विकास होना चाहिए।
2. शिक्षा जीवन के उच्च मूल्यों का विकास करने की होनी चाहिए।
3. शिक्षा से नागरिकता के गुण विकसित होने चाहिए।
4. शिक्षा से परम्परागत प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए एवं वास्तविक कार्य अनुभव होना चाहिए।
5. शिक्षा द्वारा सकारात्मक दृष्टिकोण का विकास होना चाहिए।
6. शिक्षा सामाजिक जिम्मेदारी की भावना का विकास करने वाली होनी चाहिए।
7. शिक्षा में व्यावसायिक दक्षता का विकास होना चाहिए।

डॉ. जाकिर हुसैन के अनुसार शिक्षा के दो लक्ष्य होने चाहिए - (i) सामाजिक लक्ष्य तथा (ii) आध्यात्मिक लक्ष्य।

(i) **सामाजिक लक्ष्य** - सामाजिक जीवन का विकास समाज से ही संभव है। वह शिक्षा दोषपूर्ण है जो केवल व्यक्तिगत हित के लिये हो। शिक्षा में मानव का मानव के प्रति प्रेम हो, त्याग की भावना हो, सहयोग और सहिष्णुता होनी चाहिए। वह शिक्षा किस काम की, जिसमें मानव स्वयं अपने लिये जीता हो।

(ii) **आध्यात्मिक लक्ष्य** - डॉ. जाकिर हुसैन ने शिक्षा का मुख्य लक्ष्य आध्यात्मिक उन्नयन माना है, जिसकी पूर्ति व्यक्तिगत चरित्र की पवित्रता और दृढ़ता द्वारा संभव है तथा जो पूर्णतया शाश्वत मूल्यों, आदर्शों और सांस्कृतिक उपलब्धियों से होती है। डॉ. जाकिर हुसैन ने राष्ट्रीय शिक्षा को विशेष रूप से महत्व दिया, उनका विश्वास था कि शिक्षा के द्वारा ही राष्ट्रीय एकीकरण संभव है।

16.4 पाठ्यक्रम

डॉ. जाकिर हुसैन ने बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम की रूपरेखा प्रस्तुत की। उन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा पर पाठ्यक्रम को प्रस्तुत किया। इस अवस्था में पुस्तकीय ज्ञान तथा अनुभवों की अपेक्षा क्रिया प्रधान ज्ञान तथा अनुभवों को महत्व दिया। उन्होंने पाठ्यक्रम में हस्त उद्योग के उपयोग को विशेष बल दिया। डॉ. जाकिर हुसैन का उद्देश्य था कि बालक में इसके द्वारा इतनी कुशलता आ जाये कि वह आवश्यकता पड़ने पर आत्मनिर्भर बन सके। उन्होंने पाठ्यक्रम इस प्रकार निर्धारित किया जिससे विद्यालय, घर और समाज के जीवन में सामंजस्य बन सके। उनके अनुसार समय-समय पर पाठ्यक्रम में परिवर्तन होना चाहिए। किसी भी सिद्धान्त को

स्थायी मानना दोषपूर्ण है। डॉ. जाकिर हुसैन ने पाठ्यक्रम में उपयोगितावादी दृष्टिकोण को अपनाया है। पाठ्यक्रम हस्तकला के उद्योग पर आधारित स्वावलम्बी बनाने वाला हो।

स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. डॉ. जाकिर हुसैन के अनुसार शिक्षा के क्या उद्देश्य थे?
2. डॉ. जाकिर हुसैन के पाठ्यक्रम संबंधी विचार लिखिये।

16.5 शिक्षण सिद्धान्त

प्रमुख शिक्षाविद् रूसो के शैक्षिक विचारों का डॉ. जाकिर हुसैन पर काफी प्रभाव पड़ा। रूसो के विचारों से प्रेरित होकर डॉ. जाकिर हुसैन ने पुस्तकीय शिक्षा का विरोध किया। डॉ. जाकिर हुसैन ने कुछ प्रमुख शिक्षा सिद्धान्त दिये

1. अनुभवों के आयोजनों के सिद्धान्त पर आधारित शिक्षण।
2. मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित शिक्षण।
3. क्रियात्मकता एवं मनन के सिद्धान्त पर आधारित शिक्षण।
4. मूल्यांकन सिद्धान्त पर आधारित शिक्षण।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर डॉ. जाकिर हुसैन ने प्रकृति से अनुकूलन, स्वाभाविक प्रयोग, अन्वेषण द्वारा शिक्षण विधियों के प्रयोग और शिक्षा का माध्यम मातृभाषा को महत्व दिया।

मातृभाषा से जो अनुभव प्राप्त होते है, वे सहज, सरल और स्वाभाविक होने के साथ साथ ग्राह्य भी होते है।

शिक्षण सिद्धान्तों के उचित प्रयोग द्वारा ही बालकों की मानसिक एवं शारीरिक शक्तियों का संतुलित विकास किया जा सकता है, क्योंकि ये सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक है और क्रिया पर आधारित होने से वास्तविक होते है।

16.6 शिक्षक

डॉ. जाकिर हुसैन के अनुसार शिक्षक को अपने उच्च मूल्यों, व्यक्तिगत आचरण से विद्यार्थियों को सिखाना चाहिए। शिक्षक को सदैव विद्यार्थियों के साथ धैर्य एवं समझ से तालमेल बिठाना चाहिए।

अध्यापक, मूल्यों के संरक्षक के रूप में कार्यरत होता है, इस नाते शिक्षक का कर्तव्य हो जाता है कि वह इन मूल्यों को विद्यार्थियों में हस्तांतरित करे।

इतिहास में हमारी जड़ें है जिनसे अनुभव लेकर हम उज्ज्वल भविष्य के उद्देश्य पर विचार करते है। डॉ. जाकिर हुसैन अध्यापक को प्रेम, त्याग व सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति मानते हुए बालक के विकसित व्यक्तित्व को बनाने में शिक्षक का ही योगदान मानते है।

डॉ. जाकिर हुसैन ने शिक्षक को अत्यंत उच्च एवं महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इसके साथ ही उन्होंने शिक्षक को पूर्ण रूप से सजग रहने को कहा है। अध्यापक का कार्य बालक में अच्छे गुणों का विकास करना होता है। शिक्षक ही बालक के चरित्र का विकास करता है, इस

दायित्व को निभाने के लिये शिक्षक को स्वयं भी उसी के अनुरूप ढलना होगा तभी बालक पर उसका प्रभाव पड़ेगा।

16.7 विद्यालय

बालक विभिन्न सामाजिक वातावरण एवं परिवार से विद्यालय में आते है, इसलिये सबके अलग अलग प्रकार के व्यक्तित्व पृष्ठभूमि आदि वैयक्तिक भिन्नताएँ होती है। विद्यालयों की गतिविधियों से सभी को पूरा-पूरा लाभ मिलना चाहिए, विद्यालय की गतिविधियां विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास में सहायक होनी चाहिए। स्कूल के कार्यक्रमों में शैक्षिक नेतृत्व एवं उत्पादक कार्य होने चाहिए। स्वयं सीखने की प्रक्रिया सामाजिक भावना का विकास करने वाली आत्मशिक्षा है।

स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. डॉ. जाकिर हुसैन के शिक्षण सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिये?
2. डॉ. जाकिर हुसैन ने शिक्षक के क्या कर्तव्य बताये है?
3. डॉ. जाकिर हुसैन के अनुसार विद्यालय के कार्यक्रम की क्या विशेषता होनी चाहिए?

16.8 शिक्षा का स्तर

डॉ. जाकिर हुसैन ने शिक्षा के निम्नलिखित स्तर निर्धारित किये -

(1) पूर्व प्राथमिक शिक्षा

डॉ. जाकिर हुसैन ने पूर्व प्राथमिक शिक्षा को विशेष महत्व दिया, क्योंकि विकास की गति की जितनी शीघ्रता उसकी प्राथमिक अवस्था में होती है, उतनी अन्य आयु अवस्था में नहीं होती। इस अवस्था में बालक के शारीरिक विकास पर विशेष ध्यान देना चाहिए। बालक अपने वातावरण से बहुत अधिक प्रभावित होता है। बालक की शिक्षा में रचनात्मक एवं हाथ के कार्य का विशेष महत्व है, इस आयु में रचनात्मक प्रवृति बहुत अधिक होती है। बालक की यह अवस्था निर्माण की अवस्था होती है, अत: बालक के उचित विकास में घर और विद्यालय दोनों का अपना-अपना अलग दायित्व है।

(2) प्राथमिक शिक्षा

डॉ. जाकिर हुसैन का विचार था कि 6- 14 वर्ष तक की आयु में शिक्षा अनिवार्य एवं निःशुल्क होनी चाहिए। राज्य का कर्तव्य है कि प्राथमिक शिक्षा के प्रसार एवं उन्नति में सहायता करे।

जन्म से ही बालक में विभिन्न मनोवृत्तियों का जन्म एवं विकास होने लगता है और यह अन्त तक होता रहता है, किन्तु बालक की प्रारम्भिक अवस्था में जो कुछ प्रभाव उसके मानस पटल पर अंकित हो जाते हो, वे सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों प्रकार के हो सकते है।

बालक पर माता-पिता तथा विद्यालय के वातावरण का प्रभाव पड़ता है, अत: वातावरण के सृजन में सदैव सकारात्मक प्रवृतियों के विकास का प्रयास करना चाहिए।

(3) माध्यमिक शिक्षा

शिक्षा का मुख्य उद्देश्य सामाजिक संस्कृति का विकास एवं हस्तांतरण है। बालक को प्रारम्भिक स्तर पर संस्कृति का प्रभाव देना संभव नहीं हो पाता है। बालक जब माध्यमिक स्तर पर आता है तो उसकी मानसिक शक्तियों का विकास होने लगता है, उसमें आलोचनात्मक शक्ति का भी विकास होने लगता है, अत: माध्यमिक स्तर की शिक्षा का विशेष महत्व है।

इस अवस्था में सांस्कृतिक विकास का पूरा लाभ उठाया जा सकता है। डॉ. जाकिर हुसैन ने सांस्कृतिक उद्देश्य एवं विश्वास के साथ जीविकोपार्जन के उद्देश्य को भी सम्मिलित करने का सुझाव दिया। पुस्तकीय ज्ञान के साथ क्रियाओं पर भी बल देना चाहिए। बालक को इस अवस्था में व्यावहारिक शिक्षा देनी चाहिए जिससे बालक आवश्यकता पड़ने पर किसी व्यवसाय को अपनाकर स्वावलम्बी बन सके और आर्थिक स्थिति से सुदृढ़ हो सके।

(4) उच्च शिक्षा

डॉ. जाकिर हुसैन ने विश्वविद्यालय स्तर पर स्वायतता की मांग की, उन्होंने विश्वविद्यालय को विचारों का घर माना। दूसरों के ज्ञान को ही अर्जित करना शिक्षा का उद्देश्य हो, साथ ही विद्यार्थी में सत्य व पूर्णता की खोज के प्रति वास्तविक जिज्ञासा तथा आस्था हो। विद्यार्थी में स्वतंत्र रूप से खोज प्रवृति का विकास हो, सामाजिक दायित्व की भावना का विकास हो, विद्यार्थी ही राष्ट्र की भविष्य की निधि हो, वे देश के कर्णधार होंगे।

अत: इस अवस्था में शिक्षा भविष्योन्मुखी तथा राष्ट्र व समाज के उपयोग के लिये होनी चाहिए।

(5) विशेष शिक्षा

डॉ. जाकिर हुसैन ने विशेष शिक्षा के रूप में वैज्ञानिक शिक्षा पर बल दिया। देश के विकास में ज्ञान-विज्ञान तथा तकनीकी शिक्षा की आवश्यकता है।

विज्ञान में यदि धर्म अथवा नैतिकता के मूल्यों का समावेश किया जायेगा तो विज्ञान का उपयोग व प्रगति मानव तथा मानवता के कल्याण के लिये होगा, विज्ञान प्रकृति का सहयोगी बन सकेगा। डॉ. जाकिर हुसैन ने विज्ञान की शिक्षा के साथ-साथ सत्यं शिव सुन्दर जैसे गुणों के विकास पर भी बल दिया। इसके अतिरिक्त विशेष शिक्षा के रूप में स्त्री शिक्षा के महत्व पर भी बल दिया।

इस प्रकार डॉ. जाकिर हुसैन ने विशेष शिक्षा में विज्ञान, तकनीकी, सत्यं शिवं सुन्दरम्, धर्म एवं नैतिकता के साथ स्त्री शिक्षा पर बल देकर राष्ट्र को मजबूत बनाने के लिये व्यक्ति, समाज के साथ उचित सामंजस्य स्थापित कर राष्ट्र की प्रगति को महत्व दिया।

स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. डॉ. जाकिर हुसैन ने पूर्व प्राथमिक शिक्षा पर क्या विचार रखे?
2. उच्च शिक्षा के स्तर पर डॉ. जाकिर हुसैन ने किस पर बल दिया?
3. विशेष शिक्षा के रूप में डॉ. जाकिर हुसैन ने क्या-क्या विचार दिये?

16.9 जामिया मिलिया इस्लामिया

जामिया मिलिया इस्लामिया डॉ. जाकिर हुसैन की शैक्षिक विचारधारा के सत्यापन की प्रयोगशाला थी। इस प्रयोगशाला के विभिन्न सफल प्रयोगों के आधार पर शिक्षा का निम्नांकित स्वरूप दृष्टिगोचर होता है -

1. शिक्षा स्वदेशी, 'देश की आवश्यकता और मूल्यों के अनुरूप हो।
2. शिक्षा राजनीति से सर्वथा दूर हो।
3. सांस्कृतिक मूल्यों का सम्पोषण करने के साथ शिक्षा राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण से समन्वय स्थापित करने वाली हो।
4. शिक्षा, शिक्षार्थियों में त्याग, बलिदान, सहिष्णुता, सेवा और सहयोग के मानवीय गुणों का विकास करने वाली हो।
5. शिक्षा, श्रम की सत्ता और इसके महत्व में अनुप्राणित करने तथा स्वावलम्बन विश्वास और निष्ठा उत्पन्न करने वाली हो।
6. शिक्षा में समाज का अधिकतम उपयोग हो, वह मानवीय मूल्यों के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने वाली हो।
7. शिक्षा, शिक्षार्थी और शिक्षण प्रक्रिया में बाह्य आकर्षण से दूर सादगी पूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए मितव्ययता के गुणों का समावेश करने में सक्षम हो।

16.10 सारांश

डॉ. जाकिर हुसैन का जन्म सन् 1897 में फिदा हुसैन के यहां हुआ, उन्होंने इटावा में अपनी हाई स्कूल शिक्षा प्राप्त की। बर्लिन विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में पी.एच.डी. की तथा सन् 1926 में जामिया मिलिया के कुलपति नियुक्त किये गये।

डॉ. जाकिर हुसैन राष्ट्रपति पद के रूप में रहते हुए भी अपने विचारों व कार्यों में एक प्रभावी शिक्षाविद् के रूप में जाने जाते हैं। राजनीति तथा शिक्षा के समन्वय ने उनके व्यक्तित्व को और अधिक गरिमापूर्ण बनाया।

राष्ट्रीय शिक्षा तंत्र के उद्भव और विकास के लिये प्रसिद्ध शिक्षाविद् डॉ. जाकिर हुसैन ने प्राथमिक, माध्यमिक, उच्च शिक्षा व विशेष शिक्षा तथा शिक्षण पद्धतियों के विकास में योगदान दिया। उन्होंने महात्मा गांधी द्वारा प्रतिपादित बुनियादी शिक्षा का क्रमिक विकास तथा प्रतिस्थापन किया।

डॉ, जाकिर हुसैन ने 23 अक्टूबर, सन् 1937 में वर्धा में आयोजित शिक्षा सम्मेलन के अध्यक्ष पद पर भाषण देते हुए अपने विचारों में कहा, कि बालकों को जो भी ज्ञान दिया जाए, वह किसी उद्योग अथवा दस्तकारी द्वारा दिया जाना चाहिए।

डॉ. जाकिर हुसैन ने वर्धा में प्रमुख प्रमुख प्रस्ताव रखे -

1. निःशुल्क शिक्षा
2. मातृभाषा शिक्षा का माध्यम
3. हस्तकला पर आधारित शिक्षा
4. स्वावलम्बी शिक्षा

जाकिर हुसैन समिति में उन्होंने अपनी रिपोर्ट में बुनियादी शिक्षा योजना के सिद्धान्त, उद्देश्य व संगठन पर प्रकाश डाला और बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम का विवेचन किया।

बुनियादी शिक्षा के आशय को स्पष्ट करते हुए व्यक्ति और समाज के बुनियादी घनिष्ठ संबंधों पर बल दिया। बुनियादी शिक्षा में माण्टेसरी व किण्डरगार्डन पद्धति पर आधारित क्रिया पर आधारित अनुभवों के विकास पर प्रकाश डाला। बुनियादी शिक्षा में हस्तकला को महत्वपूर्ण स्थान दिया।

हस्तकला को शिक्षा का केन्द्र बनाने का उद्देश्य बालक व समाज तथा राष्ट्र को स्वावलम्बी बनाना था। इससे बनायी गई वस्तुओं से उसे जीविकोपार्जन मिलता था।

शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित करते हुए डॉ. जाकिर हुसैन ने अपने विचार रखे-

1. शिक्षा से राष्ट्रीय भावना का विकास हो।
2. शिक्षा जीवन के उच्च मूल्यों का विकास करने वाली हो।
3. शिक्षा से नागरिकता के गुणों का विकास हो।
4. शिक्षा से परम्परागत प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए एवं वास्तविक कार्य का अनुभव हो।
5. शिक्षा सकारात्मक दृष्टिकोण का विकास करे।
6. शिक्षा द्वारा सामाजिक जिम्मेदारी की भावना का विकास हो।
7. शिक्षा में व्यावसायिक दक्षता का विकास हो।
8. शिक्षा के द्वारा सामाजिक व आध्यात्मिक लक्ष्यों की प्राप्ति हो सके।

पाठ्यक्रम - डॉ. जाकिर हुसैन ने प्राथमिक स्तर पर अनुभवों व क्रियाओं की शिक्षा पर बल। माध्यमिक स्तर पर हस्तकला व उद्योग की शिक्षा दी जाये, जिससे बालक स्वावलम्बी बन सके।

शिक्षण सिद्धान्त - डॉ. जाकिर हुसैन के प्रमुख शिक्षण सिद्धान्त थे -

1. अनुभवों के आयोजनों के सिद्धान्त पर आधारित शिक्षण।
2. मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित शिक्षण।
3. क्रियात्मकता एवं मनन के सिद्धान्त पर आधारित शिक्षण।
4. स्वमूल्यांकन सिद्धान्त पर आधारित शिक्षण।

शिक्षक - अध्यापक अपने उच्च मूल्यों, व्यक्तिगत आचरण से विद्यार्थियों को सिखाए, धैर्य व समझ से तालमेल बैठाये। शिक्षक को बहुत सहज रहने की आवश्यकता है। अध्यापक का कार्य बालक को अच्छी शिक्षा देना है। बालक के चरित्र के विकास में शिक्षक का प्रभाव पड़ता है, अत: शिक्षक को स्वयं आदर्श रखना होगा।

विद्यालय - बालक अलग-अलग वातावरण एवं परिवेश से आते है और उनमें भिन्न-भिन्न वैयक्तिक भिन्नता पायी जाती है, अत: विद्यालय की समस्त गतिविधियां इस प्रकार की होनी चाहिए जिसमें सभी बालकों को क्रियाएँ करने का सामूहिक रूप से अवसर मिल सके। विद्यालय द्वारा बालकों में सामाजिक गुणों व आध्यात्मिक गुणों का विकास हो।

शिक्षा का स्तर - पूर्व प्राथमिक स्तर पर बालक की शारीरिक क्रियाओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए, अत: इनसे संबंधित क्रियाएँ एवं अनुभव प्रदान करने चाहिए।

प्राथमिक स्तर पर बालक पर विद्यालय के वातावरण तथा माता-पिता के निर्देशन व व्यवहार का बहुत प्रभाव पड़ता है, अत: इस स्तर पर बालक की सकारात्मक प्रवृतियों के विकास पर बल देना चाहिए।

माध्यमिक शिक्षा में सांस्कृतिक तथा सामाजिक मूल्यों के विकास की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। बालक को स्वावलम्बी बनाते हुए जीवनोपयोगी अनुभव दिये जाने चाहिए।

उच्च शिक्षा के स्तर पर स्वतंत्र रूप से खोज करने की प्रवृति का विकास करना चाहिए। इस स्तर पर समाज व राष्ट्र को मजबूत बनाने के लिये बालकों को प्रेरित करना चाहिए।

विशेष शिक्षा में डॉ. जाकिर हुसैन ने वैज्ञानिक शिक्षा, तकनीकी शिक्षा, सत्यं शिवं सुन्दरम् के गुणों के साथ स्त्री शिक्षा पर विशेष बल देने की सिफारिश की। इस प्रकार बालक का सर्वांगीण विकास होने के साथ-साथ समाज व राष्ट्र का विकास हो सकेगा।

जामिया मिलिया इस्लामिया - जामिया मिलिया इस्लामिया डॉ. जाकिर हुसैन की शैक्षिक विचारधारा के सत्यापन की प्रयोगशाला थी। इसके सफल प्रयोगों के आधार पर शिक्षा का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, वह है-

1. शिक्षा स्वदेशी, देश की आवश्यकता और मूल्यों के अनुरूप हो।
2. शिक्षा राजनीति से सर्वथा दूर हो।
3. सांस्कृतिक मूल्यों का सम्पोषण करने के साथ शिक्षा राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण से समन्वय स्थापित करने वाली हो।

इस प्रकार डॉ. जाकिर हुसैन के शैक्षिक विचार राष्ट्र की मुख्य धारा से जुड़े होने के नाते अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी हैं।

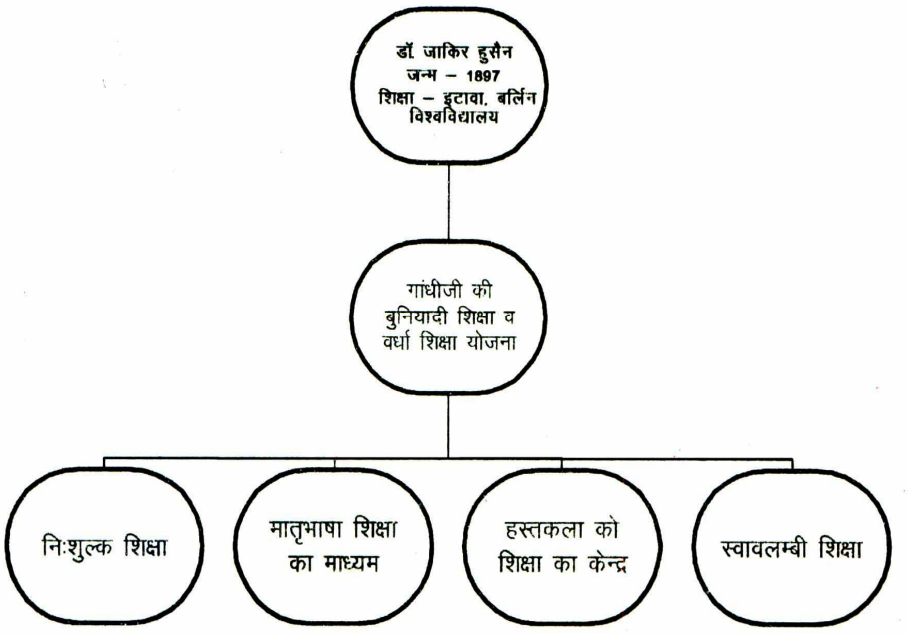
डॉ. जाकिर हुसैन
जन्म – 1897
शिक्षा – इटावा, बर्लिन विश्वविद्यालय
गांधीजी की बुनियादी शिक्षा व वर्धा शिक्षा योजना
निःशुल्क शिक्षा
मातृभाषा शिक्षा का माध्यम
हस्तकला को शिक्षा का केन्द्र
स्वावलम्बी शिक्षा

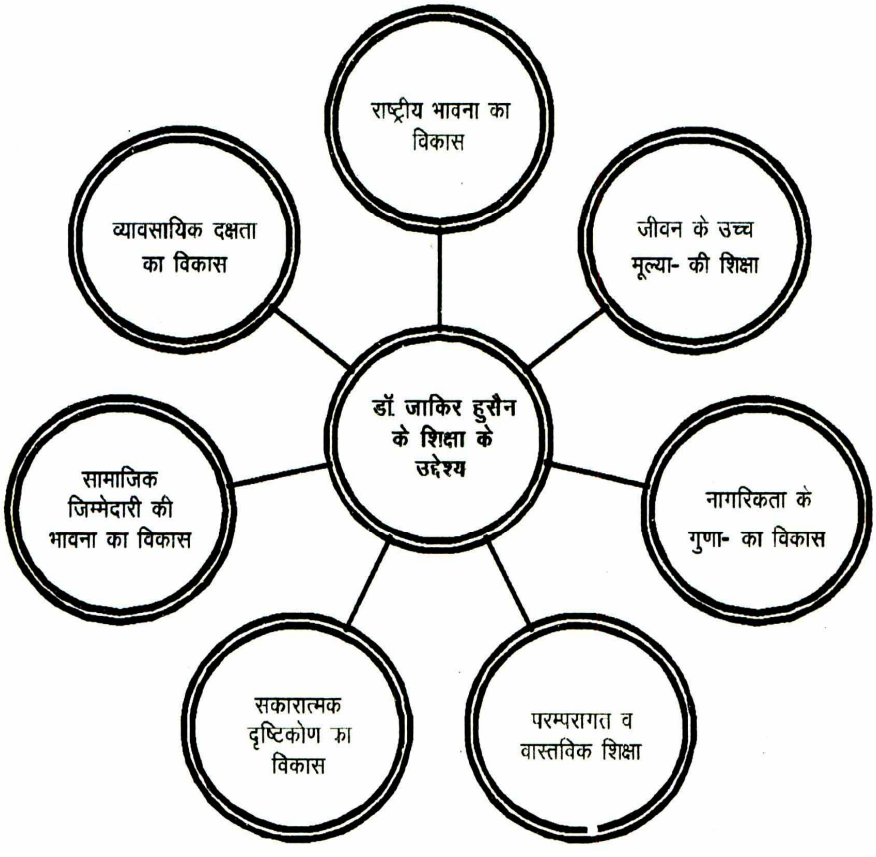
डॉ. जाकिर हुसैन के शिक्षा के उद्देश्य
राष्ट्रीय भावना का विकास
व्यावसायिक दक्षता का विकास
जीवन के उच्च मूल्या- की शिक्षा
सामाजिक जिम्मेदारी की भावना का विकास
नागरिकता के गुणा- का विकास
सकारात्मक दृष्टिकोण का विकास
परम्परागत व वास्तविक शिक्षा

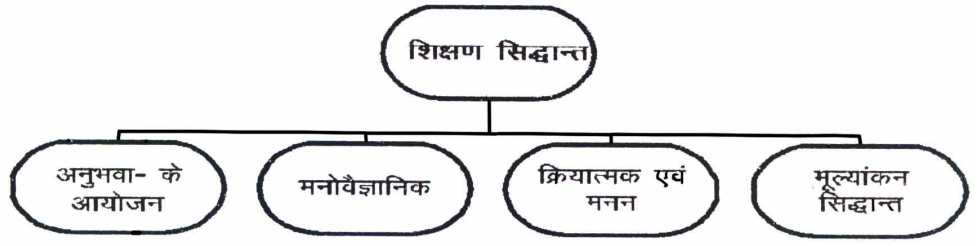

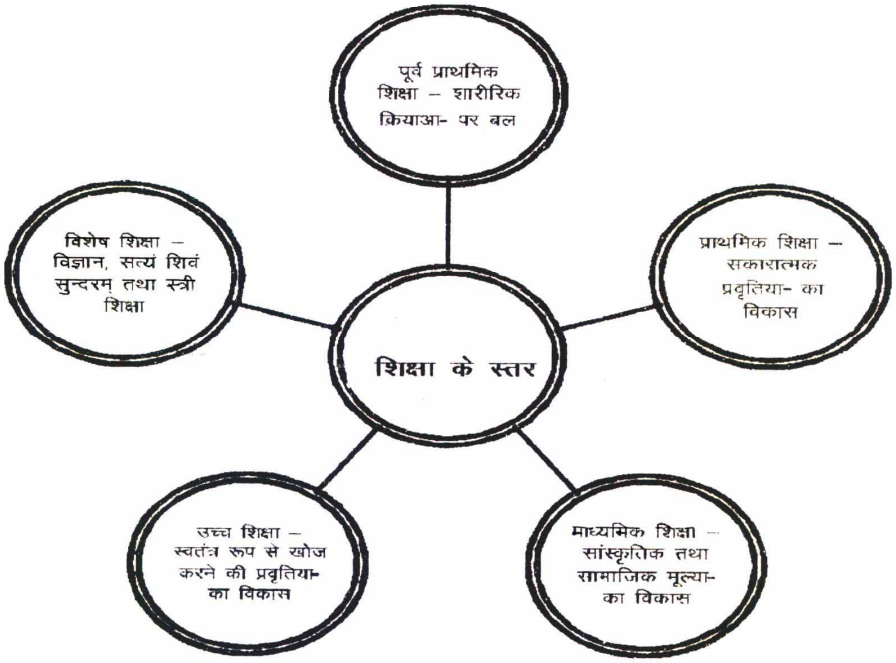

निबंधात्मक प्रश्न

1. डॉ. जाकिर हुसैन द्वारा प्रतिपादित शिक्षण सिद्धान्त क्या थे? उनकी शिक्षा में क्या उपयोगिता है
2. जामिया मिलिया इस्लामिया से आप क्या समझते हो? शिक्षा में इसका क्या महत्व है?
3. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये -

(अ) शिक्षक (ब) विद्यालय (स) पाठ्यक्रम

16.12सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सक्सेना, एन.आर. स्वरूप	– शिक्षा के दार्शनिक व समाजशास्त्रीय सिद्धांत, आर.लाल बुक डिपो
पाठक, पी.डी. एवं त्यागी, जी.एस.डी.	– शिक्षा के सामान्य सिद्धांत, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा

भटनागर, एस.आर.	– शिक्षा व दर्शन:एक परिचय
ओड, लक्ष्मीलाल के	– शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि
राकेश शर्मा	– शिक्षा में दर्शन एवं प्रमुख शिक्षाशास्त्री

ISBN - 13/978-81-8496-371-7